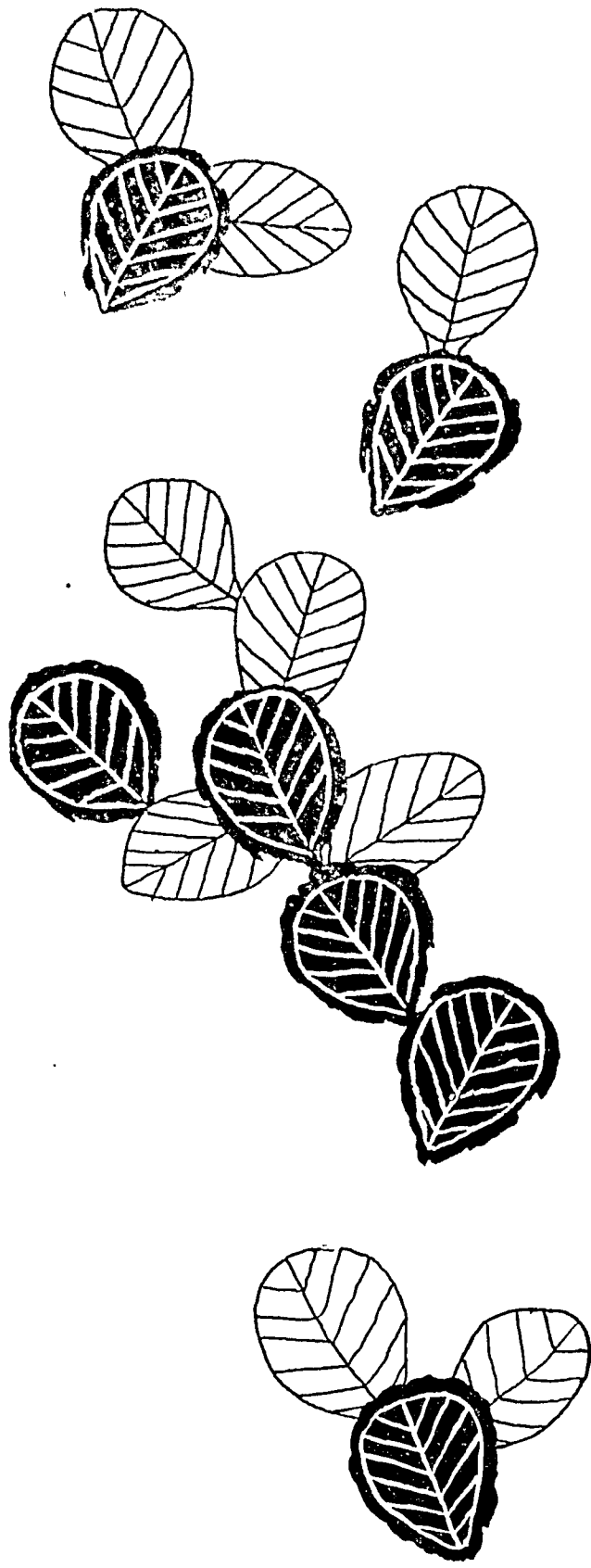


महीयसी महादेवी

लीकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद - १



मनीषसी मनादेवी

गंगाप्रसाद पाण्डेय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद - १
द्वारा प्रकाशित

कापीराइट
गंगाप्रसाद पाण्डेय

प्रथम संस्करण
भाग पंचमी १९६९

नम्येलन मुद्रणालय
प्रकाश द्वारा मुद्रित

प्रस्तावना

इस अमूल्य ग्रन्थ की रचना की योजना प्रायः पचीस-तीस वर्ष पूर्व बन चुकी थी। इस ग्रन्थ के यशस्वी लेखक और मेरे अनन्य सुहृद स्व० श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय और मैं, जब भी हम दोनों संध्या के समय कहीं टहलने के लिए पैदल ही निकल पड़ते तभी वह इसकी चर्चा छोड़ देते थे। पुस्तक का नामकरण भी उन्होंने तभी कर लिया था। उनके जीवन की यह महत्वाकांक्षा थी कि महादेवी जी के जीवन और साहित्य पर एक ऐसी आलोचनात्मक रचना लिखकर छोड़ जायँ, जिसके बाद फिर इस विषय पर कुछ भी कहने को शेष न रहे और साथ ही जिसमें इस विषय से संबंधित जो भ्रांतियाँ हिन्दी साहित्य-संसार में विभिन्न आलोचकों द्वारा फैलाई जा चुकी हैं उनका भी निराकरण हो जाय। मैं उन्हें इस कार्य के लिए बराबर उकसाता रहता था। कारण यह था कि मैं उनसे सुयोग्यतर अधिकारी इस विषय के लिए और किसी को नहीं पाता था और महादेवी-साहित्य के अपूर्व महत्व से भी मैं तभी बहुत-कुछ आश्चस्त हो चुका था।

आज पाण्डेय जी का वह स्वप्न चरितार्थ होकर हमारे सामने आ गया है, पर नियति की यह विडंबना देखिए कि यह तब प्रकाशित हो रही है जब पाण्डेय जी इस लोक की माया-ममता से अनन्त दूर जा पहुँचे हैं—फिर भी परलोकगत आत्मा के रहस्य की बात कौन जाने ! मुझे पूरा विश्वास है कि इस घटना से उनकी आत्मा को अवर्णनीय तृप्ति प्राप्त हो रही होगी।

पाण्डेय जी की इस कृति का महत्व मैं कई दृष्टियों से मानता हूँ। महादेवी साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी-पाठकों की रुचि अब पहले से कई गुना अधिक बढ़ चुकी है, पर उसके कुतूहल के उपशय की सामग्री हिन्दी में अभी प्रायः नहीं के बराबर पाई जाती है। महादेवी के काव्य और गीत साहित्य की व्याख्या अभी तक यदि किसी ने ढंग से की है तो वह केवल पाण्डेय जी ने ही। महादेवी जी की एक-एक कविता, एक-एक गीत केवल अपने-आप में अनमोल मोती नहीं है, वरन् वह एक-एक मोती अपने-आप में अनेक अनमोल मोतियों को छिपाए है। और उनमें से प्रत्येक मोती को मोती बनने में जिन अपार साधनाओं और बाधाओं का सामना करना पड़ा है, उनकी व्याख्या किसी भी हालत में सहज-साधारण नहीं है। किसी भी सीप की मोती बनने की प्रक्रिया साधारण नहीं होती, फिर महादेवी मानस के

मोती तो साहित्य-संसार में दुर्लभतम और अमूल्य निधि हैं—उनकी प्रक्रिया और भी जटिल है—उनके लिए केवल स्वाति-नक्षत्र की ही आवश्यकता नहीं है। वरन् स्वाति-नक्षत्र के भी कुछ विशिष्ट ही दुर्लभ क्षणों या सुदुर्लभ संयोग की अत्यन्त आवश्यकता है और वह एक-एक क्षण भी अपने भीतर अन्तर्जीवन की किन रहस्यानुभूतियों का अधियोग संजोए है, इसका ठीक-ठीक हिसाब लगा सकना आज किसी विद्वत्तम साहित्यालोचक के लिए भी सहज-संभव नहीं रह गया है। इसके लिए चाहिए अंतरतम की निगूढ़तम अनुभूति और सहज तादात्म्य, जो केवल पाण्डेय जी जैसे आलोचकों में ही संभव पाया जा सकता है। अतएव इस ग्रन्थ के भावी समीक्षकों से मेरा नम्र निवेदन है कि यदि वे समीक्षा के पूर्व उपरोक्त सभी तथ्यों पर विशेष ध्यान दिए बिना समीक्षा करने बैठ जायेंगे तो कभी इस अमूल्य रचना के साथ न्याय नहीं कर पावेंगे।

महादेवी जी की रचनाओं की आज एक बिल्कुल ही नयी दृष्टि से देखने व परखने की आवश्यकता आ पड़ी है। महादेवी जी जैसी कवयित्री का कोई उदाहरण विश्व-साहित्य के इतिहास के किसी भी युग में किसी भी देश में शायद ही पाया गया हो। उनके समान मौलिक चिन्तनशीलता और अछूती कल्पना का कोई उदाहरण कहीं भी सहज-सुलभ नहीं है, केवल भावना के क्षेत्र में ही उन्होंने निराली रसमयता का प्लावन नहीं बहाया है, वरन् वैचारिकता और चिन्तन के क्षेत्र में भी उनके समान प्रौढ़ और आत्म-विश्वास-परायण नारी का जोड़ मिलना कठिन है। यह उपलब्धि केवल एक ही जन्म की साधना द्वारा संभव नहीं है, इसके लिए युग-युग की सांस्कृतिक चेतना के जन्म-जन्मान्तरीण विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। पाण्डेय जी ने इसी कारण “सांस्कृतिक पृष्ठभूमि” नाम से एक अलग अध्याय अपने गहन अध्ययन के फलस्वरूप इस ग्रन्थ में दिया है, जिसकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी, साथ ही ‘महादेवी काव्य की पृष्ठभूमि’ शीर्षक से एक दूसरे महत्वपूर्ण अध्याय में उन्होंने महादेवी जी के सांस्कृतिक चेतना के विकास पर अतिरिक्त प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयास किया है। मुझे पूरा विश्वास है कि महादेवी साहित्य के अध्ययन के लिए जिस प्रकार की रचना के नितांत अभाव का अनुभव पिछले कुछ दशकों में किया जा रहा था, उसकी पूर्ण पूर्ति इस ग्रन्थ द्वारा हो जायगी—केवल इसी युग के साहित्य-श्रद्धेताओं के लिए नहीं, आने वाली पीढ़ियों के लिए भी।

यह ग्रन्थ वास्तव में पाण्डेय जी की महत्वाकांक्षा के अनुरूप ही तैयार हुआ है और हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में यह निश्चय ही एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करके ही रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

अनुक्रम

आमुख	:	९
जीवन-झाँकी	:	२३
प्रथम दर्शन और व्यवित्तत्व बोध	:	४६
सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	:	६४
महादेवी-काव्य की भूमिका	:	१०२
महादेवी के काव्य में निहित भाव-तत्त्व	:	१७०
रहस्यवाद की परम्परा	:	२१०
महादेवी का काव्य-दर्शन	:	२१८
महादेवी की साहित्य-साधना	:	२२५
महादेवी की काव्य-रचनाएँ	:	२४४
गद्यकार महादेवी	:	३२५

परिशिष्ट-१

जीवन-क्रमणिका की महत्वपूर्ण तिथियाँ	:	३४७
-------------------------------------	---	-----

परिशिष्ट-२

कृतियों तथा विशेष भाषणों का काल-क्रम	:	३५०
--------------------------------------	---	-----

आमुख

शुभश्री महादेवी जी सांस्कृतिक कवयित्री हैं। यह आश्चर्य के साथ बहुत ही क्षोभ का विषय है कि हमारे देश में अभी तक काव्य का विश्लेषण-विवेचन संस्कृति की भूमिका पर अत्यन्त विरल है। वास्तव में सांस्कृतिक मूल्यों के प्रकाश के बिना सम्यक् काव्यालोचन सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य और विशेषतः काव्य मनुष्य की इन्द्रिय-सुख-साधक स्थूल प्रयोजनवती प्राकृतिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति मात्र न होकर उसकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का ही उपादान है।

संस्कृति अपने स्वरूप और स्वभाव से ही सर्जनात्मक है। कृति का अर्थ रचना या सृजन ही है और सं (सम्) का अर्थ साम्य, संतुलन या पूर्णता है। वस्तुतः भाव और रूप का, पदार्थ और भवार्थ का, सत्य और सौन्दर्य का, शिव और शक्ति का तथा आत्मा और परमात्मा का साम्य ही भारतीय संस्कृति का रहस्यमय सूत्र है। इस प्रकार भावात्मक एवं चिंतनात्मक साम्य, संतुलन से समन्वित समृद्ध संस्कृति मानव जीवन के विकास का अनिवार्य अंग और महत्वपूर्ण मूल्य है।

सांस्कृतिक अनुभवों, क्रियाओं और मूल्यों की व्याख्या और जीवन के चरम मूल्य का अन्वेषण करने वाले दर्शन और उसे भावात्मक दृष्टिकोण से प्रतिफलित करने वाले सर्जनात्मक काव्य में हमारे यहाँ कभी कोई विरोध नहीं रहा। क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक ही है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति' के समात्मभाव का उन्मेष ही दर्शन में 'समोऽहं सर्वभूतेषु' के सर्वात्मवाद में प्रतिष्ठित होता आया है। समात्मभाव की सार्थकता के लिए जिस व्यापक पारस्परिक स्नेह, सद्भाव, समानता और समानुभूति की आवश्यकता होती है, वही संस्कृति का मूल प्रतिपाद्य और मूल्य है। स्पष्ट है कि सांस्कृतिक मूल्यों में व्यक्ति के प्राकृतिक व्यक्तित्व की एकान्त पृथक्ता का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्तित्व आत्मिक चेतना का रूप न होकर ऐन्द्रिक संवेदना का ही लक्षण है। संस्कृति का आत्मिक समभाव प्रकृति और संवेदना का अतिक्रमण करता हुआ प्रकृति, व्यक्ति और आत्मा, तीनों का समाहार कर लेता है।

मनुष्य जिस चेतना की अभिवृद्धि के कारण अन्य प्राणियों के समान केवल प्राकृतिक जीवन से संतुष्ट नहीं हो पाता वह प्राकृतिक नियमों की ज्ञाता होने के

कारण उसका अतिक्रमण करती हुई अपने आन्तरिक प्रकाश और मौलिक भाव-विस्तार तथा प्रसात्मक चिंतन के माध्यम से संस्कृति की सर्जनात्मक सीढ़ियों पर आरोहण करती हुई सर्वात्मचेतन सर्वात्मभाव की आध्यात्मिक भूमिका में ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि संवेदना, चेतना की आरम्भिक, विचार तथा दर्शन माध्यमिक एवं अध्यात्म उसकी चरम परिणति या अन्तिम स्थिति है। प्रकृति से संस्कृति की ओर का यह गुणात्मक विकास ही मनुष्य को पशु-प्राणी से एक भिन्न स्थिति देकर उसे जीवन-सार्थकता की अनंत सम्भावनाओं और क्षमताओं के प्रति उन्मुख करते हुए प्रयोजनातीत स्वलक्ष्य मूल्यों के आकलन और अनुभव का उत्साह और आकर्षण देता रहता है। मनुष्य का यह सांस्कृतिक अभियान उसकी चेतना की ऊर्ध्वगामी वृत्ति का प्रमाण होने के साथ ही चेतनाओं के परस्पर साम्य का आधार आत्मतत्त्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी सफल सिद्ध होता है।

मूल्य प्रायः दो प्रकार के होते हैं—एक तो निमित्त मूल्य और दूसरा स्व-लक्ष्य मूल्य। निमित्त मूल्य की वस्तु वह होती है जो किसी अन्य उद्देश्य का साधन होती है। जब हम भोजन के मूल्य की चर्चा करते हैं तब यह मूल्य एक सापेक्ष मूल्य होता है, क्योंकि उसका मूल्य भूख मिटाने का साधन है। इसलिए एक निमित्त एवं गौण मूल्य है। स्वलक्ष्य मूल्य वह मूल्य है जो किसी अन्य उद्देश्य का निमित्त अथवा साधन न होकर स्वयं आत्माश्रय होता है। उसका मूल्य वह स्वयं होता है। शुभ संकल्प, ज्ञानार्जन की आकांक्षा, दार्शनिक चिंतन, अनुभवात्मक सृजन, लोक-मंगल की भावना, आत्मिक जीवन के विकास, विस्तार और सम्भावनाओं का आग्रह, गुणात्मक उत्थान की चेष्टा तथा सांस्कृतिक संवर्द्धन आदि ऐसे ही मूल्य हैं, क्योंकि ये सभी स्वलक्ष्य से ही मूल्यवान हैं, किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति के साधन नहीं हैं। स्वलक्ष्य मूल्य की सब से बड़ी विशेषता यह होती है कि वह सभी विचारशील प्रबुद्ध व्यक्तियों द्वारा समान रूप से वांछनीय माना जाता है।

भारतीय मनीषा के अनुसार मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा का अधिष्ठान माना गया है और उसमें अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों—मूल्यों को स्वीकार किया गया है, जो इसके व्यक्तित्व के विकास के भौतिक और आध्यात्मिक उपादान हैं। अर्थ, काम और धर्म ऐसे मूल्य हैं जिनका सम्बन्ध प्रमुखतः सामाजिक जीवन से है, किन्तु मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य एवं ध्येय है, शेष तीनों लौकिक मूल्य इसकी प्राप्ति के साधन हैं।

मोक्ष-मूल्य न तो लौकिक ही और न पारलौकिक ही वरन् पारमार्थिक है। परमार्थ वह प्रवृत्ति है जो मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठाकर निःस्वार्थ बनाती है

और आत्म-विकास के साथ उसे अन्य प्राणियों की सेवा और कल्याण करने की प्रेरणा देती है। निष्काम कर्मयोग इसी का दूसरा नाम है। वस्तुतः मोक्ष का सम्बन्ध आत्मा से है और उसका उद्देश्य सब के साथ समभाव रखते हुए प्राकृतिक क्षणिक सुख-दुःखों से मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार करना है, जो इसी जीवन में सम्भव है।

इस अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव जीवन्मुक्ति की स्थिति में चरितार्थ होता है। यह स्थिति कोरी सैद्धान्तिक धारणा या कोई अमूर्त आदर्श-मात्र नहीं, वरन् एक वास्तविक अनुभवात्मक अवस्था है। जीवन्मुक्त व्यक्ति वह है जो अपने संयम और नैतिक आचरण से नश्वर सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, स्व-पर के सभी द्वन्द्वों और सापेक्षताओं का अतिक्रमण कर सभी स्थितियों में समान रहता है। वह संसार में रहते हुए, जीवन और जगत् का अनुभव करते हुए भी आसक्त और लिप्त नहीं होता। वह निरन्तर आत्मोत्थान के लिए लोकमंगल की साधना करता रहता है। 'सर्वभूत हित रत' उसका प्रमुख स्वभाव होता है। उसका जीवन स्वयं आनन्दमय होता है और वह सभी को आनन्द-मार्ग पर लाने की चेष्टा करता रहता है।

स्पष्ट है कि जीवन्मुक्ति की स्थिति को प्राप्त करने का आशय सामाजिक जीवन या लोकमंगल के मूल्यों की अवहेलना कदापि नहीं है, वरन् इन मूल्यों को उदात्त, व्यापक तथा पूर्ण रूप देना है। जीवन के सभी मूल्यों का यथास्थान अपना महत्त्व है, किन्तु उस महत्त्व का बोध हमें केवल तभी हो सकता है जब हम किसी एक ऐसे परम मूल्य का ज्ञान रखते हों, जो सभी मूल्यों के परस्पर संघर्षों और विरोधों का समन्वय तथा सामंजस्य कर सके और स्वयं इन सब से परे होकर भी इनका निषेध न करे। मोक्ष या जीवन्मुक्ति की स्थिति एक ऐसा ही स्वलक्ष्य आध्यात्मिक मूल्य है। कहना होगा कि भारतीय संस्कृति अपने भावात्मक और चिंतनात्मक उत्कर्ष काव्य और दर्शन दोनों में ही आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वाधिक महत्त्व और मान्यता देती है।

हमारी आध्यात्मिक संस्कृति के उद्भव एवं उत्थान में हमारे देश की भूमि और प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ रहा है, क्योंकि मानव-जीवन के विकास में उसकी मनोवैज्ञानिक और सामाजिक स्थितियों की भाँति उसकी भौगोलिक परिस्थिति भी महत्त्वपूर्ण होती है। संस्कृति का आकलन और आयोजन प्राकृतिक परिवेश की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही आरम्भ होता है। स्वभावतः दाह्य प्रकृति और मानव अर्जित संस्कृति में सामंजस्य की स्थिति अनिवार्य रहती है। प्रकृति के प्रति उसकी संस्कारगत अबाध आत्मीयता संस्कृति में संगीत गूल्गगत परिष्कार-भिन्नता का

जाती है। हमारा देश प्राकृतिक परिवेश की विविधता की दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रखता है। इसी कारण इसकी संस्कृति भी अपनी अलग विशेषता रखती है।

भारत एक बहुत विस्तृत भूमि-भाग है। विभिन्न जलवायु प्राकृतिक सौन्दर्य, उर्वर-अनुर्वर क्षेत्र, वनस्पति-वृक्ष, वन-उपवन तथा पशु-पक्षी इसमें पाये जाते हैं। इसमें रहने वाले लोग, उनका रहन-सहन और उनकी बोलियाँ भी भिन्न हैं, किन्तु इन समस्त बाह्य विभेदों के रहते हुए भी सम्पूर्ण देश एक गहरी और व्यापक एकता के सूत्र में बँधा हुआ है। इसका प्रधान कारण यहाँ के निवासियों की जीवन और प्रकृति के विविध रूपों में व्याप्त आन्तरिक एकता की अनुभूति ही है। इस प्राकृतिक परिवेश की विविधता में अन्तर्निहित एकता देश की सांस्कृतिक एकता की उद्भावना और सर्जनात्मक सक्रियता के संघटन में कितना महत्त्व रखती है, यह सर्वविदित है। प्रकृति की बाह्य विविधता और भिन्नता में आन्तरिक एकता का बोध भारतीय संस्कृति का मूल उत्स है। सम्पूर्ण देश भाव, ज्ञान और कर्म में एकता का यह सम्बाद सन्निहित है, जो उसकी विशेषता और महत्ता का प्रमाण है। प्रकृति और अध्यात्म के समन्वय की यही नींव है।

मनुष्य जीवन की स्थिति, विकास और संस्कृति के उत्थान के लिए उसके चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति, उसके पैरों के नीचे की धरती और उसके ऊपर के असीम विस्तार—आकाश से कितना सहयोग और सौहार्द्र मिलता है, यह कहने की बात नहीं। आर्यों ने अपने जीवन-विकास में इस देश की धरती और प्रकृति से जितना आत्मीय सहयोग प्राप्त किया था, उसे हम भली भाँति जानते हैं। देश के हरित वनों की स्निग्ध छाया में ही उन्होंने अपने आश्रम बनाये और बहुत थोड़े श्रम से ही प्राप्त कंद-मूल-फलों का आहार प्राप्त कर शान्तिपूर्वक जीवन बिताने लगे। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन से उन्हें अपने जीवन की सभी सुविधाएँ मिलीं और उसी के सम्पर्क-सहयोग से उनका जीवन विकसित होता गया। प्रकृति के निरन्तर सजीव विकास के साहचर्य ने उन्हें सहज ही यह अनुभव करा दिया कि इस विश्व में किसी का अस्तित्व अन्य सब से नितान्त पृथक् और अकेला नहीं है, क्योंकि इसके भीतर सब का समावेश है। इस अनुभव से उन्होंने यह परिणाम निकाला कि जीवन का उद्देश्य अपने अस्तित्व की स्वार्थमयी सुरक्षा और संवर्द्धना ही नहीं, वरन् सबके साथ आत्मीय भाव से विकसित तथा विस्तीर्ण होना है।

प्राकृतिक दृश्यों और क्रिया-कलापों में हमारे भावों को उद्दीप्त करने की अद्भुत क्षमता होती है। काल की जो प्रक्रिया बाह्य प्रकृति में नाना दृश्यों का आयोजन करती है, वही मनुष्य की अन्तः प्रकृति में नाना प्रकार के भावोदय का

भी विधान करती है। यदि मनुष्य और प्रकृति एक दूसरे से सर्वथा विरोधी और विजातीय तत्वों से निर्मित होते तो यह प्रक्रिया किसी प्रकार भी सम्भव न हुई होती। प्रकृति के सामान्य के कारण ही बुद्धि की तार्किक सूक्ष्मता के स्तर तक पहुँचने के बहुत पहले ही अपनी स्वाभाविक रागात्मकता के सहज उन्मेष के कारण वैदिक ऋषियों—ऋषियों की भावना तथा काव्यशक्ति प्रस्फुटित हो गई और वे प्रकृति के अनीम-अनीम तत्वों के सौन्दर्य के माध्यम से विश्व के रहस्यमय रूप को चीन्हे-गहनानुसंध की भावात्मक नेष्टा करने लगे। प्रकृति निरीक्षण की अपनी इस रागात्मक प्रकृति में उन लोगों ने एक निराल विश्व की विभिन्न विभूतियों को एक ही मूल में ग्रथित पाया तो आनन्द की बात नहीं।

गूँय नीलिमा में लटकने अंगरेज तारों के समूह संसार का अभिप्रेक करने वाली, नेत्रों को ज्योति ने भरने वाली तथा जागरण के साथ कार्यरत होने का सन्देश देने वाली रिमनवदना उगा, अनीम आनन्द में अवाध गति से विचरण करने वाले सूर्य-चन्द्र, धरती में लहराती अगाध जलराशि, वर्षा शरद, वसंत ऋतुएँ, आँधी-तूफान, मेघ गर्जन, विद्युत की चमक-जमक, वनस्पतियों में पल्लव फूल और फलों का क्रमिक विकास आदि प्रकृति के मृदु-कठोर सभी रूपों में उन्हें एक नियम-नियंत्रण तथा क्रम का अन्तर्बोध और अनुभव हुआ। दिन-रात, ऋतु-चक्र तथा ग्रहों की व्यवस्थित गति में व्यक्त होने वाले नियमित और निश्चित परिवर्तनों को देखकर उन्होंने अनुभव किया कि प्रकृति सुन्दरी के सारे कार्य निश्चित और नियमित रूप से गतिशील होते हैं और उगमें एक अडिग व्रत पालन करने की दृढ़ प्रवृत्ति पायी जाती है। उसके सभी रूपों तथा व्यापारों में एक सामंजस्य और क्रमवद्धता है।

आकाश, धरती—अखिल प्रकृति के इस अटूट नियम और सामंजस्यपूर्ण सनातन सम्यन्ध से, सृष्टि की इस आन्तरिक एकसूत्रता से उनको बोध हुआ कि सम्पूर्ण विश्व में एक निरन्तर निश्चित व्यापक व्यवस्था की स्थिति वर्तमान है, कोई कु-प्रवन्ध, अव्यवस्था या अराजकता नहीं है, वरन् एक सुव्यवस्थित नियमन और गतिवद्धता है। उन्होंने इस व्यवस्था को 'ऋत' की संज्ञा दी।

वैदिक ऋषियों ने प्रकृति की विखरी विभूतियों और अपनी अन्तश्चेतना में एक ऐसी एकसूत्रता का अनुभव किया, जो उन्हें सब के साथ समता और आत्मीयता के बंधन में बाँध कर उनके जीवन को एक व्यापक पीठिका में प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ उनके सर्वतोमुखी विकास का कारण और साधन बन गयी। उन्होंने स्पष्टतः यह समझ लिया कि प्रकृति और मानव, दोनों ही एक सर्वव्यापक सत्य के अभिन्न और अनिवार्य अंग हैं। फलतः वे सभी वस्तुओं में निहित आत्मतत्त्व और

इस तत्त्व के माध्यम से सबके समत्व का प्रतिपादन करने की ओर अग्रसर हुए। एकत्व, समत्व और समत्व की इसी भावानुभूति के कारण उन्हें सम्पूर्ण विश्व में एक ही आध्यात्मिक स्पंदन का बोध हुआ तो यह स्वाभाविक ही कहा जायगा।

केवल वैज्ञानिक जिज्ञासा की शान्ति अथवा केवल पार्थिव प्रयोजनवती सिद्धि के लिए वे कभी किसी वस्तु की ओर आकर्षित नहीं हुए, क्योंकि उनके जीवन का उद्देश्य अस्तित्व-केन्द्रित न होकर मूल्य-केन्द्रित था। उनका संकल्प विश्व की विराट आत्मा के साथ आत्ममिलन की अक्षय शान्ति और आनंद का अनुभव करना था न कि नश्वर अस्तित्व की रक्षा का आकुल-व्याकुल आयोजन। वे यह भलीभाँति समझ चुके थे कि विश्व की प्रत्येक सत्ता से उनका आत्मिक साहचर्य और समवाय है। उनकी दृष्टि से आकाश और उसमें उदित होते सूर्य का, पुष्पित-फलित धरती और उसमें प्रवाहित होते हुए जल का, आकाश और धरती के बीच संचारित होते हुए पवन का स्वरूप एक ही विराट का अंश या अंग है, जो इन सब का मूल कारण है। एक ही अग्नि के अनेक स्फुर्लिगों की तरह एक ही परमात्मा की सब (देव-गण) विभूतियाँ हैं। इसी भावोदय के फलस्वरूप वैदिक देवताओं की अनेकता क्रमशः एक अखण्ड व्यापक अद्वैत चेतना में रूपान्तरित हो गयी और ऋषियों ने उद्घोषणा की—‘एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति’—ऋग्वेद, अर्थात् परमात्मा एक है, तो भी विद्वान लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं। अथवा ‘कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति’—ऋग्वेद, अर्थात् कवि या क्रान्तदर्शी लोग एक परमात्मा की कल्पना अनेक प्रकार से करते हैं। भारतीय संस्कृति की इस आध्यात्मिक परम्परा का वैदिक काल में ही पर्याप्त प्रौढ़ विकास हो चुका था। वेदान्त में इस सांस्कृतिक उपलब्धि की दार्शनिक व्याख्या के साथ उसकी अनुभूति का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

महादेवी जी ने लिखा है—“संस्कृति मनुष्य के, बुद्धि और हृदय के जिस परिष्कार और जीवन में उसके व्यक्तीकरण का पर्याय है, उसका दाय विभिन्न भूखण्डों में वसे मानव मात्र को प्राप्त है, परन्तु संस्कृति की साहित्य में प्राचीनतम अभिव्यक्ति वेद साहित्य के अतिरिक्त अन्य नहीं। वेद-काल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं, आत्मा का अथक शिल्पी भी है। प्रकृति में उसका सौन्दर्य-दर्शन केवल कोमल मधुर तत्वों तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह उग्र और रुद्र रूपों में भी आकर्षण का अनुभव करता है। जिस तूलिका से वह अपने पार्थिव परिवेश को उज्ज्वल रेखाओं और इन्द्रधनुषी रंगों में चित्रमयता देता है, उसी से अपने अन्तर्जगत् में मंगल संकल्पों को अजर मूर्तिमत्ता प्रदान करता है। उसकी जिस तुला पर ज्ञान की गरिमा तुलती है, उसी पर कर्म-पथ पर पड़े प्रत्येक

पग का मूल्य निश्चित होता है। उपा की दीप्त छवि अंकित करने में जिस गुणालता का उपयोग हुआ है, वही नासदीय सूक्त में जिज्ञासाओं को सार्थक वाणी दे सकी है। जिस भक्तिजनित तन्मयता से वह ऋत के रक्षक वरुण की वन्दना करता है, उसी के साथ इन्द्र के वज्र-निर्घोष के अह्वान में प्रवृत्त होता है। अपने आपको 'पृथिवी पुत्र' की संज्ञा देकर वह धरती के वरदानों को जैसा आदर देता है, 'आत्मा का विनाश नहीं होता' स्वीकार कर वह अखण्ड चेतना के प्रति भी वैसा ही विश्वास प्रकट करता है। मनुष्य की प्रज्ञा की जैसी विविधता और उसके हृदय की जैसी रागात्मक समृद्धि वेद-साहित्य में प्राप्त है, वह मनुष्य को न एकांगी दृष्टि दे सकती न अंध विश्वास। आकाश के अखण्ड विस्तार में केन्द्रित दृष्टि के लिए घट की सीमा में प्रतिविम्बित आकाश ही अन्तिम सत्य कैसे हो सकता है? वैदिक चिन्तक की तत्त्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पारकर एक तत्त्वगत सूत्र खोज लेती है।"

नासदासीशो सदासीत्तदानी नासीद्व्रजो नो व्योमा परोयत्।

किमावरोधः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद गहनं गभीरम्॥

तब अर्थात् मूलारम्भ में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था। अंतरिक्ष नहीं था और उसके परे का आकाश भी नहीं था। ऐसी अवस्था में किस ने किस पर आवरण डाला? कहाँ? किसके सुख के लिये? अगाध और गहन जल भी कहाँ था?

नासदीय सूक्त का यह गम्भीर चिन्तन कितना प्रौढ़ है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राक्रया अन्ह आसीत् प्रकेतः।

आसीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किमैचनाग्रस॥

उस समय मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवान् दृश्य सृष्टि न थी, अतएव (दूसरा) अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ (यह भेद) भी न था। (इसी प्रकार) दिन और रात का भेद समझने के लिए कोई साधन (प्रकेत) न था। (जो था) वह अकेला अपनी शक्ति (स्वधा) आत्मावलम्बन से वायु के बिना श्वास-प्रश्वास लेता हुआ केवल एक तत्त्व (ब्रह्म) था। उसके अतिरिक्त या उसके परे और कुछ भी न था।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सर्जनात्मक काव्य की सरसता और चिन्तनात्मक दर्शन की गम्भीरता, दोनों में ही वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक अनुभूति के महत्त्व की स्थापना करते हुए भारतीय संस्कृति का सूत्र संचालन किया था।

हम कह सकते हैं कि वेद-साहित्य की चिंतनात्मक परम्परा—दर्शन ने भारतीय चिंतन को दिशा ज्ञान दिया और उसकी सर्जनात्मक परम्परा—काव्य ने उसकी काव्य-प्रणाली को प्रेरणा दी। दोनों पद्धतियों का दाय हमारी संस्कृति फलतः साहित्य में सुरक्षित है।

वैदिक भावना और विचार से रस ग्रहण करने वाले उपनिषदों का प्रारम्भ ही, 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'—अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत् है यह समस्त ईश का आवास है, से होता है। ऐसे तत्त्वदर्शी के लिए, सब में व्याप्त एक परम सत्य की सत्ता ही इस विश्व को सत्य बनाती है। वस्तुतः उसे यह भी बोध रहता है कि जो तेजोमय अमृत चेतन-पुरुष विश्व-चेतना का अक्षय स्रोत है वही उसके अन्तःकरण में भी अधिष्ठित है और इसके साक्षात्कार के लिए उसे अपनी चेतना और विश्वचेतना में समभाव की स्थापना करना अनिवार्य है, क्योंकि जो शक्ति विश्व के विराट रूपों में नाना भाँति से संचरित हो रही है, वही मनुष्य में आकर उसकी चेतना का रूप धारण करती है। दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं वरन् एक अटूट समभाव है। उनकी इस भावना को मृत्यु भी भंग नहीं कर सकती, क्योंकि वे जानते थे कि—'यस्य छाया अमृतं, यस्य मृत्युः'—उसकी छाया में ही अमृत है और उसी में मृत्यु भी है। जीवन और मृत्यु में विरोध देखना तो दूर रहा उन्होंने विश्वास के साथ कहा—'प्राणो मृत्युः', जीवन ही मृत्यु है। आशय यह कि वे जीवन के प्रत्येक स्वरूप और परिवर्तन का स्वागत करते हुए अपनी आस्था में अटल रहे। उसका अनुभूत विश्वास था कि जो भी जहाँ कहीं भी है सब उसी अमर व्यापक जीवन से अनुप्राणित है। वह परमात्मा सर्वव्यापी और सच्चिदानन्द है इसलिए सब में कल्याण रूप होकर वास करता है। अस्तु सब पदार्थों में, सब प्राणियों में, अखिल विश्व के कण-कण में समभाव रखना और सब में अपने ही स्वरूप का अनुभव करना मानव जीवन का चरम विकास है।

उपनिषद् का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—'एकं रूपं बहुधा यः करोति, तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'—जो विश्व में अपने को बहुत रूपों में प्रकट करता है उस एक को अपने अन्तर में स्थित समझने वाले प्रशान्त-मना व्यक्तियों को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। निश्चय ही सब के प्रति संवेदना, सहानुभूति और समत्व की भावना के ही माध्यम से इस अव्यक्त सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। सृष्टि की रचना और उसके विकास-क्रम से भी यह प्रत्यक्ष है कि असीम का सीमावद्ध प्रकृति में प्रकाशित होना, अव्यक्त का व्यक्त में प्रकट होना ही सृजन का सारतत्त्व है। विश्व प्रकृति और मनुष्य की आत्मा का यह स्वभाव है। प्रत्यक्षतः जो अपूर्ण और सीमित

प्रतीत होता है वह किसी पूर्ण एवं असीम के ही प्रस्फुटन का निरन्तर विकसनशील स्वरूप है यथा बीज से अंकुर, पल्लव, कलिका, पुष्प तथा फल।

पूर्वजों की इस उपलब्धि को जीवन्त और क्रियाशील रखना हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। जिस प्रकार आंगिक विविधता के साथ सामंजस्यजनित प्रक्रिया के कारण हम अपने शरीर को एक मान कर अपनाते चलते हैं, उसी तरह इस सम्पूर्ण विश्व के गठन में अन्तर्निहित सामंजस्य देखकर इसे भी एक मानकर अपनाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए—‘ब्रसुधैव कुटुम्बकम्’ का यही आशय और उद्घोष है। संघर्ष, अलगाव, वैमनस्य तथा विभिन्नता की स्थिति विश्वात्मा के साथ हमारे समभाव की कमी का प्रतीक है। अपने क्षुद्र अहं के आवेग और आवेश में हम अपने व्यक्तित्व को विश्व-व्यक्तित्व से विच्छिन्न कर लेते हैं और तभी हमारी समस्याएँ, यातनाएँ और अपूर्णताएँ एक विकराल रूप धारण कर लेती हैं, सबके साथ मिल जाने पर उनका अस्तित्व नहीं रह जाता। ठीक उस तरह जिस तरह सागर से समन्वित हो जाने पर बूंद की अपनी कोई अलग इकाई और समस्या शेष नहीं रह जाती। व्यक्तिगत अहं जब विश्व के विराट अहं से तादात्म्य कर लेता है तब उसमें आत्मा की अमरता उद्भाषित हो उठती है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारा सबसे विच्छिन्न व्यक्तिगत अहं प्राकृतिक संवेदनावद्ध अस्तित्व मात्र है, उसे व्यक्तित्व तो सबसे मिलकर ही प्राप्त होता है। जैसे शब्द केवल ध्वनि रूप में सब शब्दों से अलग रहकर कोई सार्थकता नहीं रखता, किन्तु वही शब्द जब अन्य शब्दों से संयुक्त हो जाता है, तब भाव, विचार और अर्थ की सारवती सार्थकता में मुखरित हो उठता है।

अस्तु, आन्तरिक और आध्यात्मिक अनुभूति की स्थिर भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों में एक ही आत्मा की व्याप्ति देखता हुआ निरन्तर आत्मा का ही साक्षात्कार करता है, उसे किसी प्रकार का शोक-मोह नहीं होता। इस प्रकार जो भूत मात्र को आत्मा के रूप में और आत्मा को भूत मात्र के रूप में देखता, समझता और अनुभव करता है, वह कभी भी किसी से विद्वेष अथवा घृणा नहीं कर सकता—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

ठीक भी है, जो व्यक्ति स्थूल भौतिक अनेकत्व में सूक्ष्म आत्मा का एकत्व देखता है, जो शारीरिक भिन्नता में आत्मा की समानता को स्वीकार करता है और जो अपने-आप को और सत् मात्र को एक ही सत्ता मानता है, वह कदापि किसी से घृणा नहीं कर सकता, किसी से द्वेष नहीं कर सकता, किसी से अन्याय नहीं कर सकता।

आध्यात्मिक भावानुभूति और तत्त्व-मीमांसा के अनुसार विश्व का अनेकत्व केवल भौतिक व्यक्त सत्ता तक ही सीमित है, सूक्ष्म रूप से विश्व की आधारभूत अव्यक्त सत्ता निस्सन्देह एक एवं अद्वैत है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान भी इस अद्वैत-वादी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।

सबसे बड़ी विशेषता यह है कि भारतीय अध्यात्म और दर्शन ब्रह्म को भौतिक जगत् का अव्यक्त कारण मान कर तथा विश्व को उसकी भौतिक अभिव्यक्ति मानकर तत्त्वात्मक द्वैतवाद (Metaphysical Dualism) का अन्त कर देता है। जब ब्रह्म विश्व की आधारभूत सत्ता है और विश्व उसकी भौतिक अभिव्यक्ति है, तो वह ब्रह्म सीमित तथा स्थूल न होकर अव्यक्त, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, शक्तिमान, सत, चित और आनन्द स्वरूप ही होगा, क्योंकि केवल ऐसी ही सत्ता तथ्य और मूल्य, विज्ञान और धर्म, भौतिक जगत् और आध्यात्मिक सत्ता— दोनों के समन्वय का स्रोत और आधार बन सकता है। इसी भावबोध के कारण भारतीय संस्कृति में व्यक्ति और समाज में, आत्मा और ब्रह्म में, भौतिकता और अध्यात्म में द्वैत को केवल अज्ञानजनित अस्थायी द्वैत माना गया है तथा इनके एकत्व एवं अद्वैत को ही वास्तविकता माना गया है। जब तक तत्त्वात्मक दृष्टि से सत् मात्र को अद्वैत न मान लिया जाय, तब तक व्यक्ति व्यावहारिक तर्क के द्वैत से ऊपर नहीं उठ सकता और तत्त्वात्मक यथार्थ-ज्ञान के अभाव में व्यावहारिक तर्क के द्वैत की भ्रान्ति यथार्थ ही प्रतीत होती रहेगी। इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का महामंत्र स्मरणीय है।

सर्वात्मभाव का यह अनुभव व्यक्ति को व्यक्ति और समष्टि, समय और देश, कार्य और कारण के द्वन्द्वों से ऊपर उठा देता है और वह न केवल समाज को, प्राणि-जगत् को अपितु सत् मात्र के 'सर्वयदयमात्मा' का स्वरूप मानता हुआ अयमात्मा ब्रह्म, 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्म अस्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के उच्चतम धरातल पर संचरण करने लगता है। उसके लिए ज्ञाता, भोक्ता तथा ज्ञेय का पारस्परिक प्रातिभासिक भेद सिमट कर समात्म भाव की महिमा से मंडित हो जाता है—

‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतत्’

भोक्ता (जीवात्मा) भोग्यं (पदार्थ, प्रकृति) और इनका प्रेरक आत्मा ये तीनों ब्रह्म के ही रूप हैं। अस्तु, सब के साथ आत्म भाव के आधार पर समात्म भाव की अनुभूति का आनंद ही भारतीय संस्कृति और साहित्य तथा दर्शन की मूल चेतना है। समात्म भाव केवल तादात्म्य नहीं है, क्योंकि तादात्म्य तो निरा बौद्धिक भी हो सकता है, परन्तु समात्म भाव के लिए परस्पर स्नेह, सद्भाव तथा समानुभूति अनिवार्य है। इसी कारण इसमें न तो निरपेक्ष दार्शनिक सत्य की ही

कोई स्थिति है और न व्यक्ति के पृथक्त्व का ही कोई स्थान है। इस भाव में प्रकृति संस्कृति रूप धारण करते हुए प्रकृति, व्यक्ति और आत्मा का समाहार कर लेती है।

इस सर्वानुभव को, सब के प्रति समात्म भाव को प्रत्यक्ष करने का सर्वोत्तम साधन सबके प्रति समान प्रेम-भाव का आकर्षण और आकलन है, क्योंकि प्रेम का रस इन्द्रियों का नहीं, भाव का रस है, आत्ममिलन का आनन्द है, स्व-पर का अद्वैत है। कहा भी गया है कि—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्धाऽऽन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेश आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। आत्मा रस स्वरूप है, अपनी व्यापकता से वह आकाश और सबके हृदयाकाश में स्थित है। इसी कारण जीवात्मा रस पाकर आनन्दित होता है। यदि आकाश इस रस (प्रेम-आनन्द) से परिपूर्ण न होता तो विश्व में कौन अनुप्राणित होता और कौन गतिशील होता? वही सबको आनन्दित करता है। इतना ही नहीं, वरन्—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। आशय यह कि प्रेम (रस-आनन्द) चेतना का पूर्ण रूप है, इस-लिए प्रत्येक अस्तित्व का प्रमुख प्रयोजन प्रेम से ही पूरा होता है, क्योंकि प्रेम ही ऐसा रस-आनन्द है जो सृष्टि का मूल स्रोत है, ब्रह्म से उद्भूत होता है। वस्तुतः अपनी चेतना को सर्वात्म प्रेम के उच्च धरातल पर ले जाकर ही हम ब्रह्म-विहार या इसी आनन्द से एकात्मता प्राप्त कर सकते हैं। स्वभावतः ऐसा प्रेम अपने में स्वतः पूर्ण और उच्चतम स्वलक्ष्य मूल्य होता है। इस प्रेम की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है कि हम अपनी आत्मा का अखिल संसार से और संसार की आत्मा का विराट ब्रह्म की आत्मा से एकत्व का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करें, क्योंकि विश्वमात्र एक ही चेतना की अभिव्यक्ति है। इसीलिए प्रेम द्वारा परस्पर संपृक्त होकर ही निःसीम आनन्ददायक जीवन का अनुभव किया जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि रस (सरोवर) और सूर्य-किरणें (प्रकाश) जिस प्रकार कमल के उत्फुल्ल तथा आनन्दित होने के लिए अनिवार्य हैं, उसी प्रकार हमारे चैतन्य के उत्फुल्ल एवं आनन्दित होने के लिए रस (भाव) और प्रकाश (ज्ञान) दोनों आवश्यक हैं। इस समष्टि-प्रेम की काव्यात्मक अभिव्यक्ति से ही अध्यात्म काव्य या आधुनिक युग की शब्दावली में रहस्य-काव्य की संज्ञा दी जाती है।

आत्मा की मौलिक एकता का आधार ग्रहण करने के कारण अध्यात्म में अखिल अस्तित्वों के आन्तरिक साम्य का भाव—समात्म भव ही माना गया है।

अध्यात्म की उच्चतम स्थिति का प्रतिफलन इसी भाव की चरितार्थता पर निर्भर करता है। चेतना से अनुप्राणित होने के कारण मनुष्य का जीवन असीम परिधि की ओर विस्तृत होता रहता है। इसी कारण वह चिंतन के क्षणों में स्वात्म चेतन, सर्वात्म चेतन और परमात्म चेतन तक की यात्रा सहज ही कर लेता है और साहित्य, विशेषतः काव्य में अपनी इस सांस्कृतिक—आध्यात्मिक-दार्शनिक—उपलब्धि को आत्मचेतन, सर्वात्मभाव तथा समात्मभाव के उच्चतर सोपानों में आरोहण करता हुआ परमात्मभाव के शिखर पर प्रतिष्ठित कर देता है। वस्तुतः प्राकृतिक सत्ता, प्राणी और मानवीय जीवन एवं परमात्म चिंतन में चेतना की स्थितियों की भिन्नता छोड़कर तत्त्वतः वह कोई भेद नहीं मानता, क्योंकि एक ही चेतन तत्व इन सब में परिव्याप्त और अन्तर्निहित है।

आत्मा अथवा ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं, विश्वरूप है। उसके प्रति प्रेम-भावना, समष्टि प्रेम का प्रतीक है। सर्गारम्भ में आनन्दमय सृजनेच्छा से ही ब्रह्म ने अपने को द्विधा विभक्त कर लिया था। अपनी परा प्रकृति में वह परात्पर ब्रह्म रहते हुए भी जीवरूप से अपरा प्रकृति में व्याप्त हो गया। जीवात्मा विश्व-प्रेम के माध्यम से पुनः उसी प्रथम स्थिति की अद्वैतता में प्रतिष्ठित होना चाहती है। प्रेम की यह अद्वैत भावना उसी अनुभूति का एक रूप है।

मूल्यों की दृष्टि से भी हम सम्पूर्ण के लिए अशं का, नित्य के लिए अनित्य का, और प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए सुख का, महत्त्वपूर्ण मूल्य के लिए कम महत्त्वपूर्ण मूल्य का तथा सृजनात्मक मूल्यों के लिए असृजनात्मक मूल्यों का बलिदान करते हैं। हमारा जीवन सापेक्ष और अपूर्ण है। अध्यात्मबोध का रहस्य यही है कि वह सापेक्ष को निरपेक्ष की ओर तथा अपूर्ण को पूर्ण की ओर ले जाने का सतत् प्रयत्न करता है और वह पूर्ण धारणा मात्र नहीं है, बल्कि वास्तविक आत्मानुभूति है। सारे संसार में ऐसे लोग हुए हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर इस पूर्णता और निरपेक्षता का अनुभव किया है, और ऐसे परम शुभ और आनन्द को प्राप्त किया है, जिसकी उपेक्षा से सभी मूल्य फीके और व्यर्थ जान पड़ते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार वैयक्तिक मूल्यों को सामाजिक मूल्यों के अधीन करना उचित है, उसी प्रकार सामाजिक मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों के अधीन करना संगत है। स्पष्टतः जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान उच्चतम है, अन्य सभी मूल्य इनकी अपेक्षा गौण हैं।

आधुनिक युग में महादेवी जी अपने इस सांस्कृतिक-आध्यात्मिक उत्तराधिकार का पूर्ण निर्वाह करने में सतत् संलग्न हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने स्पष्ट कहा है—‘इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस

अव्यात्म की आवश्यकता है, वह किसी रूढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर उस सूक्ष्मता की परिभाषा है, जो व्यष्टि की सप्राणता में समष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है, इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा सक्रिय पूरक है, जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है।” सब रूपों के प्रति समान रूप से ममता जगाने वाले भाव को ही समात्मभाव कहा गया है, इसी की संज्ञा महाभाव भी है। महादेवी जी इसी भावोन्मेष की सांस्कृतिक आध्यात्मिक कवयित्री हैं।

—गंगाप्रसाद पाण्डेय

जीवन-झाँकी

होली भारतीय त्योहारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण और व्यापक पर्व है। इसे भरती का निजी उत्सव कहना चाहिए। भरती के रूप, रंग, रस, गंध होली में सजीव और सहज ही यौवनित हो उठते हैं। रसाल की मधुमती मंजरियाँ फागुनी वातावरण में झूम-झूम कर विश्व-प्राणों में मादकता का संचार करने लगती हैं। मधूक रसभार से भरती पर चू पड़ते हैं। अन्नमयी नवीन फसल आत्मसमर्पण द्वारा मानवीय जीवन-माधना में तृप्ति का उपहार लेकर उपस्थित होती है! चतुर्दिक राग-रंग और उल्लास की पिचकारियाँ छूटने लगती हैं। भरती और आकाश अबीर-गुलाल से अनुरंजित हो उठते हैं।

फाग-राग की नरग-स्निग्ध तरंगों में सारा जीवन तरंगित होने लगता है—यही तो होली है। सबसे बढ़कर यह कि इसी दिन से हमारा नया सम्बन्ध प्रारम्भ होता है। पौराणिक कथा के रूप में भी होली प्रह्लाद (प्रकृष्ट आह्लाद) की रक्षा और पूतना (जो पूत नहीं है) का अन्तक दिन है। इस प्रकार सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से होली की अपनी महिमा और विशेषता है।

इसी राग-रंगमय मंगल-मंडित दिन को साहित्य की देवी—महादेवी का जन्म संवत् १९६४ में फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश में हुआ। जन्मदिन की यह रंगमयता और सार्वजनीनता उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में सन्निहित है। जीवन एवं साहित्य के पट में इतने विभिन्न रंगी सूतों का सम्मेलन सहज ही नहीं मिलता। रहस्यवादी कवि, यथार्थवादी गद्यकार तथा समन्वयवादी आलोचक होने के साथ-साथ वे अद्वितीय रेखा-चित्रकार, संस्मरण-लेखिका, सामाजिक एवं ललित निबन्धकार, उच्चकोटि की चित्रकर्त्री और परम प्रबुद्ध समाज तथा राष्ट्र-सेविका भी हैं। उनके रचनात्मक कार्यों के प्रतीक प्रयाग महिला विद्यापीठ और साहित्यकार संसद के अतिरिक्त अन्य अनेक संस्थाएँ और पाठशालाएँ हैं। विशेषता यह है कि इन सभी क्षेत्रों में उनके व्यक्तित्व की अखण्डता सर्वथा अधुण है। इस दृष्टि से वे केवल भारत में ही नहीं, विश्व भर में इतनी विराट और व्यापक प्रतिभा की अकेली कलाकार हैं।

आकाश सभी प्रकार के आलोकों और रंगों का आधार है। यदि आपने

कभी सन्ध्या का आकाश देखा है तो महादेवी जी की इन पंक्तियों का रंग परखिए—
आकाश और कवयित्री का तादात्म्य देखिए—

प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन।

यह क्षितिज बना धुँधला विराग

नव अरुण-अरुण मेरा सुहाग

छाया सी काया वीतराग;

सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन,

प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन।

महादेवी जी माँ-बाप की पहली संतान हैं। रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज में आज भी, पर आज के पचास वर्ष पहले तो निश्चित रूप से प्रथम कन्या-लाभ शुभ या सुखद नहीं माना जाता था। महादेवी जी ने स्वयं इसका उल्लेख किया है—
“जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आगमन का समाचार दिया गया, वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक एक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियाँ संकेत से मूक गाने वालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को बिदा देते—यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति से बाहर होता, तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।” सौभाग्य से इनका जन्म बड़ी प्रतीक्षा और मनौती के पश्चात् हुआ। इनके बाबा ने इसे अपनी कुलदेवी दुर्गा का विशेष अनुग्रह समझा और आदर प्रदर्शित करने के लिए नाम रखा—महादेवी।

साकेतकार की यह उक्ति—‘सौ सौ पुत्रों से भी अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूत-शीला’ वास्तव में राजा जनक की पुत्रियों के लिए जितनी सार्थक है, उतनी ही श्री गोविन्दप्रसाद की पुत्री महादेवी के लिए भी।

महादेवी जी का काव्य करुणा-कलित-अश्रुसिक्त है। पैदा होते ही रोते तो सब बच्चे हैं, पर इनकी रोने की अद्भुत आदत ! माँ—हेमरानी देवी आस्तिक स्वभाव की भारतीय नारी होने के कारण पति को खिलाने-पिलाने का कार्य नौकरों पर न छोड़ कर स्वयं करना चाहती थीं और महादेवी जी इस बीच रो-रोकर कोला-हल मचा देती थीं। माँ ने विवशता से परम्परा-प्रचलित अफीम का सहज सम्बल ग्रहण किया। अफीम खिलायी और झूले पर पड़े पलंगे पर डाल दिया। वे अपनी दैनिकी में व्यस्त हो गईं और बालिका ने कल्पना-लोक की सैर की।

अफीम-सेवन से हानि जो भी हुई हो पर प्रत्यक्ष लाभ यह हुआ कि अन्य शिशुओं की अपेक्षा इनका विकास शीघ्र हुआ। तीन वर्ष की अवस्था में ही आंम की पाल से सार चुन लेने में आप निपुण हो गईं। वर्णमाला-ज्ञान के साथ ही भाई-बहन को चिढ़ाने की कला का प्रदर्शन करने लगीं।

पांच वरग की होते-होते आप को भोपाल तथा इन्दौर की यात्रा भी करनी पड़ी, जहाँ 'अतीत के चलचित्र' का रामा इन्हें मिला। छोटे भाई की स्पर्धा में राम-दाम-दण्ड-भेद के द्वारा रामा को आप किस तरह केवल अपने ही लिए राजा कहने को बाध्य कर देती थीं, इसकी भी एक रोचक कहानी है। अवस्था की प्रगति के साथ-साथ जीवन-विस्तार की छाया में यह कला-कुशलता घर की सीमा से निकल कर बगीचे के फूलों और पड़ोसियों के घर तक पहुँच गयी। रसाल और फूलों का यह आकर्षण कलात्मक रुचि का प्रतीक माना जाय तो राजा कहलाने का हठ पुरुष के साथ समानाधिकार का बीजारोपण। इन्दौर में पूर्णतः व्यवस्थित होने पर माँ (जिज्जी) ने चाहा कि बेटी को कुछ समय तिल्लीनों में उलझा रखें, कुछ समय गृह-कार्य की शिक्षा दें और यदि यह सब न हो सके तो पाटी पकड़ा कर स्कूल ही भेज दें। महादेवी जी इन चक्करों में नहीं पड़ना चाहती थीं। उनको तो फूल, तिल्ली, हरी दूध और फर्श या दीवाल पर कुछ उरेहने के लिए कोयला और सिन्दूर के अति-रिक्त और कुछ नहीं चाहिए। माँ-बाप के लिए एक परेशानी। छोटी बहन और भाई की ओर संकेत करते हुए जिज्जी ने कहा—'खेलना छोटी का काम है, बड़ों का पढ़ना या घर का काम करना।' इन्होंने पढ़ना पसन्द किया तो आश्चर्य नहीं।

आर्य-समाजी संस्कारों के साथ आप को मिशन स्कूल में भरती कर दिया गया। घर में हिन्दी, उर्दू, चित्रकला और संगीत की पढ़ाई का प्रबंध हो गया। जिज्जी ने किंचित डाँटकर कहा—'अब मास्टर्स से छुट्टी लिये बिना घर से बाहर मत जाना। पढ़ोगी नहीं तो घर में चुपचाप बैठी तो रहोगी।'

पढ़ाई प्रारम्भ के प्रथम दिन ही आप थोड़ी देर तक अध्यापक के पास बैठी रहीं और फिर छुट्टी की माँग पेश की। आवश्यकता पूछने पर उत्तर मिला—'फूल तोड़ लाऊँ नहीं तो माली तोड़कर बाबू (पिता जी) के गुलदस्ते में लगा देगा, जहाँ वे सूख जाते हैं।' 'तो क्या तुम्हारे तोड़ने से नहीं सूखते?' 'सूखते तो हैं, पर भगवान् जी पर चढ़ने के बाद। फिर जिज्जी उन्हें नदी भेजवा देती हैं। माली उनको कूड़े में फेंक देता है। और बाबू बीनने भी नहीं देते।' प्रश्नोत्तर से पंडित जी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने तुरंत छुट्टी दे दी। धीरे-धीरे पंडित जी को ज्ञात हुआ कि बालिका केवल वाचचीत में ही नहीं, पढ़ने में भी प्रवीण है। लड़कियाँ और ही ही क्या सकती हैं, लड़ाकू या पढ़ाकू। महादेवी जी ने दोनों रूपों को अपनाया है। लड़ाकू रूप उनके विद्रोह और नारी विषयक निबन्धों में मुखरित है और उनका पढ़ाकू रूप तो जग-जाहिर है ही ! जो भी हो, शैशव में पढ़ाई की अपेक्षा आपको इधर-उधर ऊधम मचाना ही अधिक प्रिय था।

रामा नामक रेखाचित्र में महादेवी जी ने अपने वचन की अनेक मनोरंजक

घटनाओं का अंकन किया है, जिनसे उनके स्वभाव और उनकी प्रबुद्धता का पता चलता है। दशहरे के मेले में खिलौने खरीदने के लिए रामा ने एक को कंधे पर बिठाया और दूसरे को गोद में ले लिया। महादेवी जी को उँगली पकड़ाते हुए बार-बार कहा—‘उँगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया।’ सिर हिलाते हुए स्वीकृति देते-देते ही इन्होंने उँगली छोड़कर मेला देखने का निश्चय कर लिया। भटकते-भटकते और दबने से बचते-बचते जब इन्हें भूख लगी तब रामा का स्मरण अनिवार्य हो उठा। एक मिठाई की दूकान पर खड़े होकर अपनी उद्विग्नता को छिपाते हुए इन्होंने सहज भाव से प्रश्न किया—‘क्या तुमने रामा को देखा है? वह खो गया है।’ हलवाई ने वात्सल्य-मुग्ध होकर पूछा—‘कैसा है तुम्हारा रामा?’ इन्होंने ओंठ दबा कर संतोष के साथ कहा—‘बहुत अच्छा है।’ हलवाई इस उत्तर से क्या समझता? अन्ततः उसने आग्रह के साथ विश्राम करने के लिए वहीं बिठा लिया। ‘मैं हार तो मानना नहीं चाहती थी, परन्तु पाँव थक चुके थे और मिठाइयों से सजे थालों में कुछ कम निमंत्रण नहीं था। इसी से दूकान के एक कोने में बिछे टाट पर सम्मान्य अतिथि की मुद्रा में बैठकर मैं बूढ़े से मिठाई रूपी अर्घ्य को स्वीकार करते हुए उसे अपनी महान यात्रा की कथा सुनाने लगी।’ सन्ध्या समय जब सबसे पूछते-पूछते बड़ी कठिनाई से रामा उस दूकान के सामने पहुँचा तब इन्होंने विजय-गर्व से फूलकर कहा—‘तुम इतने बड़े होकर भी खो जाते हो रामा।’

एक बार जब आप केवल सात वर्ष की थीं, पड़ोस में किसी आवारा कुत्ती ने बच्चे दिये। जाड़े की रात का सनाका और ठण्डी हवा के सन-सन झोंकों के साथ पिल्लों की कूँ-कूँ की ध्वनि करुणा का ऐसा संचार करने लगी, जो महादेवी जी के कोमल हृदय के लिए असह्य हो उठी। बेचैनी के साथ आपने कहा—‘बड़ा जाड़ा है, पिल्ले जड़ा रहे हैं। मैं उनको उठा लाती हूँ, सवेरे वहीं रख दूंगी। चलो, चलो, मेरी अच्छी जिज्जी।’ अस्वीकृति की सूचना पाते ही आप जोर-जोर से रोने लगीं। सारा घर जग गया और अन्त में पिल्ले घर लाये गये! उनके इस स्वभाव में आज भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसे अतिथि जीव-जन्तुओं से उनका घर अब भी प्रायः भरा रहता है।

इस करुणाजनित स्वभाव के कारण जीवन और जगत की किस करुण स्थिति में उनके हृदय का स्पंदन झंकृत नहीं? सामने आई हुई किस रक्षता को वे अपनी सहज स्निग्धता से सरस नहीं कर देना चाहतीं? ऐसी कौन सी पाषाणी कठोरता है, जो उनकी मूलाधार करुणा के स्पर्श से काँप नहीं उठती? सत्य और समूह की रक्षा के लिए विद्रोह की किस ज्वाला को उन्होंने अपनी त्यागमयी तपस्या की आँच नहीं दी, यह बता सकना कठिन है।

उमो अचरगा में पूजा-आरती के समय मां से गुने हुए मोरा, तुलसी आदि के तथा उनके स्वरचित पदों के संगीत पर मुग्ध होकर इन्होंने पद-रचना प्रारम्भ कर दी थी।

काव्य की प्रथम शिन्-रचना का प्रारम्भ सात वर्ष की अवस्था में इस प्रकार हुआ था—‘आओ प्यारे तारे आओ, मेरे आंगन में बिछ जाओ।’ किन्तु इसके बाद की लियी पूर्ण रचना समस्यापूर्ति ही है—

आगम हँ दिन नायक को, अरुनाई भरी नभ की गलियान में,
सीरी सुमंद बतास वही, मुस्कान नई बगरी कलियान में;
संत धुनी विगदावलियाँ अब गुंजित हैं खग औ अलियान में,
वारन के हित कंज-कली मुकुताहल जोरि रही अँखियान में।

प्रयाग पढ़ने आने के पहले से ही आप ‘सरस्वती’ पत्रिका से परिचित हो चुकी थीं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ भी देख चुकी थीं। बोलने की भाषा में कविता लिखने की सुविधा उन्हें आकर्षित करने लगी थी। वस्तुतः इन्होंने ‘मेघ बिना जलवृष्टि भई है’ को खड़ी बोली में इस प्रकार रूपान्तरित कर दिया—

हाथी न अपनी सूँड में यदि नीर भर लाता अहो,
तो किस तरह वादल बिना जल-वृष्टि हो सकती कहो ?

‘अहो’ और ‘कहो’ देखकर ब्रजभाषा-प्रेमी आपके अध्यापक पंडित जी ने कहा—‘अरे ये यहाँ भी पहुँच गये’? पर आपने इसे अनसुना कर दिया और ब्रज-भाषा छोड़कर खड़ी बोली को अपना लिया।

खड़ी बोली की प्रथम पूर्ण रचना जो आपके आठवें वर्ष में लिखी गई थी और जिसका शीर्षक ‘दिया’ है, यह है—

धूलि के जिन लघु कणों में है न आभा प्राण,
तू हमारी ही तरह उनसे हुआ वपुमान !
आग कर देती जिसे पल में जलाकर क्षार,
है बनी उस तूल से बर्ती नई सुकुमार।
तेल में भी है न आभा का कहीं आभास,
मिल गये सब तब दिया तू ने असीम प्रकाश।
धूलि से निर्मित हुआ है यह शरीर ललाम,
और जीवन-वर्ति भी प्रभु से मिली अभिराम।
प्रेम का ही तेल भर जो हम बने निःशोक,
तो नया फैले जगत के तिमिर में आलोक !

इसी समय एक ऐसी घटना घटी, जिसने महादेवी जी को इतना प्रभावित किया कि वे उस वेदना से कभी मुक्त नहीं हो सकीं। नौकर ने पत्नी को इतना पीटा कि वह लहू-लुहान होकर रोती हुई जिज्जी के पास दौड़ आई अन्यथा वह उसे मार ही डालता। गर्भिणी स्त्री के लिए काम-काज का भारी बोझ और ऊपर से ऐसी मार! जिज्जी ने सहानुभूति के साथ उसकी गाथा सुनी और नौकर को डाँटा-फटकारा। सब शान्त हो जाने पर महादेवी जी ने कहा—‘हाथ कितना पीटा है! यह भी क्यों नहीं पीटती?’ जिज्जी ने सहज भाव से कह दिया—‘आदमी मारे भी तो औरत कैसे हाथ उठा सकती है?’ ‘और अगर तुमको बाबू इसी तरह मारें तो?’ ‘ना, ना, बाबू ऐसा नहीं कर सकते! आर्यसमाजी हो कर भी मेरे साथ सत्यनारायण की कथा सुनते हैं, बड़े अच्छे आदमी हैं। कोई-कोई आदमी दुष्ट होते हैं।’ ‘तो फिर इसने दुष्ट के साथ शादी क्यों की?’ ‘पगली, शादी तो घर के बड़े-बूढ़े करते हैं, यह बेचारी क्या करे? अब कोई उपाय नहीं।’

इसके बाद थोड़ी देर तक दोनों एक-दूसरे को देखती रहीं, फिर जिज्जी ने जाने क्यों दीर्घ साँस ली और महादेवी जैसे अपने भीतर डूब गई।

वय की सामर्थ्य से कहीं अधिक आपने सातवें वर्ष से लेकर नव वर्ष तक के बीच में हिन्दी, उर्दू, संगीत तथा चित्रकला का अप्रत्याशित ज्ञान प्राप्त कर लिया था। ब्रजभाषा के पद, समस्यापूर्ति के साथ खड़ी बोली में भी कविताएँ लिखने लगी थीं। इसे संस्कार की प्रबलता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है? जिज्जी और बाबूजी ने भी बेटी की असाधारण प्रतिभा और बुद्धि की प्रखरता देखकर प्रोत्साहन देने में कभी कोई चूक नहीं की। आजीवन शिक्षा-संस्थाओं से सम्बद्ध रहने के कारण बाबू जी वच्चों की प्रतिभा पहचानने में पारंगत थे। पढ़ाई-लिखाई में पिता जी का प्रबुद्ध निरीक्षण-परीक्षण और उत्साहवर्द्धन तथा गृह-कार्य में माता जी की शिक्षा-दीक्षा ने मिलकर महादेवी जी को दोनों क्षेत्रों में दक्ष कर दिया था। महादेवी जी ने इसका उल्लेख भी किया है—“एक ओर साधना-पूत, आस्तिक और भावुक माता और दूसरी ओर सब प्रकार की साम्प्रदायिकता से दूर कर्मनिष्ठ और दार्शनिक पिता ने अपने-अपने संस्कार देकर मेरे जीवन को जैसा विकास दिया, उसमें भावुकता के कठोर धरातल पर साधना एक व्यापक दार्शनिकता पर और आस्तिकता एक सक्रिय, किन्तु किसी वर्ग या सम्प्रदाय में न बँधने वाली चेतना पर ही स्थित हो सकती थी।”

सम्भवतः इसीलिए एक सजग यथार्थवादी की तरह सोचने-समझने और आस्थावान आदर्शवादी की तरह कार्य करने की उनकी अपनी एक अलग प्रणाली है। समन्वय और सामंजस्य उनके जीवन के मूलधार हैं। अनेक आश्चर्यजनक

विलक्षणताओं का सहज समझाना, विविध विजातीय वर्गों से समान सम्बन्ध, विभिन्न वर्ग और विचार के व्यक्तियों से एकरस सहानुभूति, परस्पर-विरोधी नाना प्रकार के कार्यों को कर सकने की अद्भुत क्षमता, मोतियों की ह्राद और चिनगारियों का एक साथ मेलना लगाते चलने की अनन्य धुन आदि उनकी समन्वयशीलता के लक्षण हैं। काव्य में गम्भीर रहस्यवादी होकर भी जीवन में इतनी सहज-सरल तथा परानुभूतिशील, गान्ध और मिश्रवत् गुलुलुली होने का रहस्य भी यही है।

अभी तक छोटे से गिल्लीने-विषय के लिए वे बच्चों के साथ कलह-कोलाहल तक भी उतर आती हैं। चुन्नी का हाथी छीन लेना चाहती हैं, मुन्नी की गुड़िया छिपा लेने की ताक में रहती हैं। संपर्कित परिवार के बच्चे खिलौनों के विषय में इनसे सदा सतर्क रहते हैं। गिल्लीनों का इतना बड़ा संग्रह इनके पास है कि शायद ही किसी और के पास हो। उनकी इस पंक्ति पर ध्यान दीजिए—‘यह खिलौने और यह उर प्रिय नयी असमानता है।’

‘क्षण में आँसू क्षण में हास’ की उक्ति में भी बच्चों के साथ आपकी वाजी रहती है। मैंने देखा है कि निराला जी की मानसिक अवस्था से कर्णार्द्र होकर आँसुओं के साथ उन्हें विदा देते समय भी वे गुप्त जी का स्वागत मुक्त हास के साथ करने में समर्थ हैं। पलकों में आँसू और ओठों में हास साथ ही सँजो रखने में वे अद्वितीय हैं।

नवाँ वर्ष पूरा होने को हुआ कि बाबा ने गुड़िया का व्याह रचने की ठान ली। पके आम—बूढ़े होने के कारण वे अपनी महामहिम महादेवी का विवाह अपनी आँखों की छाया में ही कर देना चाहते थे। घर में उनके विरुद्ध कुछ कहने का किसी में साहस भी नहीं था। प्राचीन परिपाटी यही थी। बाबा की हठ, उन्होंने न केवल व्याह वरन् आगामी कई वर्षों तक साइत न बनने के कारण उसी समय एक सप्ताह के लिए बालिका की विदा भी कर दी। रोती-चिल्लाती इस विदा की कातरवाणी कितनी हृदय-विदारक रही होगी, यह सहज ही अनुमेय है।

ससुराल (बरेली के पास नवावगंज नामक कस्बा) पहुँचकर महादेवी जी ने जो उत्पात मचाया उसे ससुराल वाले ही जानते हैं। न खाना, न पीना, न बोलना, न सुनना—केवल रोना, रोना, बस रोना। आँखें सूज गईं, ज्वर आ गया और कय का ताँता बँध गया। नयी बालिका बहू के स्वागत-समारोह का उत्साह पीछे पड़ गया और घर में एक आतंक छा गया। फलतः श्वसुर महोदय दूसरे दिन ही इन्हें वापस लौटा गये। श्वसुर लड़कियों की स्कूली पढ़ाई के नितान्त विरोधी थे, इसलिए पढ़ाई का क्रम टूट गया। इसे विधि का विधान ही कहना चाहिए कि साल भर के बाद ही श्वसुर का देहान्त हो गया।

महादेवी जी के लिए अब केवल एक ही प्रशस्त पथ था—पढ़ाई का। विद्या-नुरागी बाबू जी ने भी यही उचित समझा और आगे पढ़ने के लिए इन्हें कास्थवेट कालेज, प्रयाग में भरती कर दिया। फिर क्या था, धड़ल्ले से पढ़ाई और काव्य-रचना चल पड़ी। मिडिल की परीक्षा आपने प्रथम श्रेणी में पास की और प्रान्त भर में प्रथम स्थान पाने के कारण राजकीय छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। उसी समय सौ छन्दों का एक करुण खण्डकाव्य भी लिखा।

महादेवी जी ने उस समय की साहित्यिक मनोभूमि का उल्लेख किया है—
“जब मैं अपनी विचित्र कृतियों तथा तूलिका और रंगों को छोड़कर विधिवत् अध्ययन के लिए बाहर आयी, तब सामाजिक जागृति के साथ राष्ट्रीय जागृति की किरणें फैलने लगी थीं, अतः उनसे प्रभावित होकर मैंने भी ‘शृंगारमयी अनुराग-मयी भारत जननी भारत माता’, ‘तेरी उतारूँ आरती माँ भारती’ आदि जिन रचनाओं की सृष्टि की थी वे विद्यालय के वातावरण में ही खो जाने के लिए लिखी गई थीं। उनकी समाप्ति के साथ ही मेरी कविता का शैशव भी समाप्त हो गया। उस समय की ‘अबला’, ‘विधवा’ आदि रचनाएँ ‘आर्य महिला’ एवं ‘महिला जगत्’ पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हुई थीं।

इसके बाद महादेवी जी की काव्य-प्रवृत्ति उनकी मूल भाव-धारा की ओर उन्मुख हो गई, “जिसमें व्यष्टिगत दुख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा। कहना नहीं होगा इस दिशा में मेरे मन को वही विश्राम मिला जो पक्षि-शावक को कई बार गिर-उठकर अपने पंखों के सँभाल लेने पर मिलता होगा।” उस भाव की प्रथम रचना ‘चाँद’ के प्रथम अंक में प्रकाशित हुई। तब से रचना-क्रम अबाध रूप से चलता रहा और बहुत बाद में प्रकाशित ‘नीहार’ का अधिकांश उनके मैट्रिक होने के पहले ही लिखा जा चुका था।

मिडिल, दसवाँ, ग्यारहवाँ दर्जा पास करते-करते कवि-सम्मेलनों, वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में प्राप्त तमगों और पुरस्कारों से छात्रावास का कमरा भर गया। उस समय की प्रचलित प्रसिद्ध पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित होने लगीं और चारों ओर से कविताओं की माँग बढ़ने लगी तथा काव्य-मर्मज्ञों का ध्यान इस नवीन प्राञ्जल प्रतिभा की ओर उत्सुकता से आकर्षित होने लगा। आशय यह कि मिडिल से इग्टर तक की विद्यार्थिनी के रूप में ही आपको एक आश्चर्यजनक ख्याति मिल चुकी थी। सन् २३, २४ में श्री इलाचन्द्र जोशी को अपने अल्पकालीन ‘चाँद’ के सहकारी संपादक के रूप में महादेवी वर्मा के नाम से प्रकाशन के लिए आयी हुई कविता को देख कर आश्चर्य के साथ जो संदेह हुआ था उसका वर्णन उन्होंने ‘संगम’

के महादेवी-अंक के अपने लेख 'जीवन विजयिनी महादेवी' में रोचकता और विशदता के साथ किया है।

अपने कालेज-जीवन में कालेज के वक्त्रों को नाटक खेलने के लिए आपने एक काव्य-रूपक की भी रचना की थी, जिसमें फूल, अमर, तितली और वायु को पात्र बनाया गया था। न जाने क्यों आगे आपने इस विधा को प्रश्रय नहीं दिया ? कालेज की सभी छात्राओं से आपका आत्मीय सम्बन्ध और उनके सुख-दुख से सर्वाधिक लगाव सहेलियों की चर्चा का विषय बना रहा। छात्राएँ और अध्यापिकाएँ सभी समान रूप से आपको स्नेह और सम्मान देती थीं। श्री सुभद्राकुमारी चौहान से प्रगाढ़ मैत्री की नींव भी कालेज में ही पड़ी। कविवरपंत जी को हिन्दू बोर्डिंग-हाउस के कवि-सम्मेलन में उसी समय इन्होंने पहली बार देखा। उनके बड़े बाल और वेशभूषा के कारण उन्हें लड़की समझ कर पुरुषों के बीच बैठने की ढिठाई पर मन-ही-मन अप्रसन्न भी हुई।

बी० ए० पास होते ही गौने का प्रश्न उपस्थित हुआ। इस बार उन्होंने साफ शब्दों में दृढ़तापूर्वक, किन्तु सहज भाव से जिज्जी को बता दिया कि वे विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकार करने को तैयार नहीं और तब गौने की चर्चा ही व्यर्थ है। जिज्जी को यह निश्चय सुन कर अत्यंत पीड़ा हुई और उन्होंने बहुत तरह से समझाना भी चाहा, पर महादेवी जी अपने निश्चय पर अटल रहीं। बाबू जी को भी बहुत दुख हुआ और उन्होंने इन्हें एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें अबोध बालिका के प्रति विवाह रूप में किये गये अन्याय की मुक्त कंठ से क्षमा माँगते हुए यह भी लिखा कि यदि दूसरा विवाह करने की इच्छा है तो वे इनके साथ धर्म-परिवर्तन करने को भी तैयार हैं। इन्होंने अपने उत्तर में स्पष्ट कर दिया कि दूसरे विवाह की बात नहीं, वे विवाह करना ही नहीं चाहतीं। यदि पिछले कृत्य की ग्लानि छोड़ कर उनके वर्तमान निश्चय को स्वीकार कर लिया जाय तो दोनों ही पक्ष पापों से मुक्त हो जायेंगे। बाबू जी ने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसी समय से इस प्रसंग का अन्त हो गया।

उन दिनों भारतीय नारी के लिए विवाह को इस प्रकार अस्वीकार कर देना कितना कठिन और विस्मयकारी था, कहने की बात नहीं। वचपन से ही महादेवी जी का यह स्वभाव रहा है कि उन्होंने जो अपने जीवन-विकास के लिए उचित समझा सो किया, हठ और विद्रोह के साथ किया। संसार का कोई भी प्रलोभन या भय उससे विमुख उन्हें नहीं कर सका।

विवाहित जीवन अस्वीकार करने की बात को लेकर कतिपय फ्रायड-भक्तों और भक्तिनियों ने, जिनका संयम और साधना पर विश्वास नहीं है, महादेवी जी

के प्रति मनमाने अनुमान आरोपित करते हुए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में इसकी प्रतिक्रिया का प्रतिफलन देखने की हास्यास्पद चेष्टा की है। वैवाहिक जीवन अस्वीकार करने के मूल में भारतीय नारी की युग-युगों से चली आती हुई वह दयनीय दशा, जिसका उल्लेख अपने सामाजिक निबन्धों में महादेवी जी ने बारंबार आक्रोश और क्षोभपूर्ण शब्दों में किया है तथा उनकी सहज वैराग्य-भावना है। बौद्ध भिक्षुणी बनने की इच्छा से भी इसका समर्थन होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष-निरपेक्ष नारी-व्यक्तित्व की स्थापना का उनका जीवन-व्यापी उद्देश्य भी इसमें सक्रिय रहा हो तो आश्चर्य नहीं। अनुमान से अधिक महत्त्व स्वयं उनके स्पष्ट कथन को न देकर हम अपने को ही-लांछित करते हैं। उनके इस कथन पर ध्यान दीजिए—“मेरे जीवन ने वही ग्रहण किया जो उसके अनुकूल था। कविता सब से बड़ा परिग्रह है, क्योंकि वह विश्व मात्र के प्रति स्नेह की स्वीकृति है।”

परिग्रही जीवन को अस्वीकार करके उन्होंने अपना कोई सीमित परिवार नहीं बनाया, पर उनका जैसा विशाल परिवार-पोषण सब के वश की बात नहीं। गाय, हिरण, कुत्ते, बिल्लियाँ, गिलहरी, खरगोश, मोर, कबूतर तो उनके चिर संगी हैं ही, लता-पादप-पुष्प आदि तक उनकी पारिवारिक ममता के समान अधिकारी हैं। आगंतुक और यदि वह अतिथि हो तो उसके स्वागत की उनकी तन्मयता देखने लायक होती है। विशाल साहित्यिक परिवार में से प्रयाग आने वाले साहित्यिकों के लिए तो उनका निवास घर ही सा है, पर असाहित्यिकों के लिए भी उनका द्वार मुक्त रहता है। गुप्त जी ने ठीक ही कहा था—“मेरी प्रयाग-यात्रा केवल संगम-स्नान से पूरी नहीं होती, उसको सर्वथा सार्थक बनाने के लिए मुझे सरस्वती (महादेवी) के दर्शनों के लिए प्रयाग महिला विद्यापीठ जाना पड़ता है। संगम में कुछ फूल-अक्षत भी चढ़ाना पड़ता है, पर सरस्वती के मंदिर में कुछ प्रसाद मिलता है। संसद हिन्दी के लिए उन्हीं का प्रसाद है।”

प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् उन्होंने अपनी रुचि के अनुकूल कार्य समझ कर प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या का भार ग्रहण किया और ‘चाँद’ का निःशुल्क संपादन भी करने लगीं। अब तक आपकी ‘नीहार’ और ‘रश्मि’ काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी थीं।

यों तो कविताओं के साथ-साथ वचन से ही आपने गद्य लिखना भी प्रारम्भ कर दिया था और ‘पर्दा-प्रथा’ पर लिखित निबन्धों की प्रतियोगिता में ‘उत्तर प्रदेश शिक्षा-विभाग’ से आपको मिडिल कक्षा में ही पुरस्कार भी मिल चुका था। ‘भारतीय नारी’ नामक नाटक भी क्रास्थवेट कालेज और विद्यापीठ में अभिनीत हो चुका था, कतिपय संस्मरण भी लिखे जा चुके थे, परन्तु ‘चाँद’ के संपादकीय के रूप में लिखा

गद्य अपना एक अलग महत्व रखता है। उपेक्षित प्राणियों में नारी-वर्ग का स्थान शीर्षस्थ है, इससे हम भारतीय अनभिज्ञ नहीं। महादेवी जी के लिए यह स्वाभाविक था कि इस वर्ग के प्रति किये गये अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध वे आवाज उठातीं। इन निबन्धों में उन्होंने भारतीय नारी की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का बहुत गहराई के साथ एक समाज-शास्त्री की भाँति विश्लेषण-विवेचन किया है। आगे चल कर किंचित परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ ये निबन्ध 'शृंखला की कड़ियाँ' नामक कृति में संग्रहीत हुए हैं।

महादेवी जी कवि रूप में जितनी परिचित और प्रसिद्ध हैं उतनी गद्यकार के रूप में नहीं, यद्यपि उनका गद्य भी उतना ही महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है। काव्य की तरह उनकी गद्य-रचनाएँ भी गाम्भीर्य, प्रौढ़ता, प्राञ्जलता और उनके व्यक्तित्व की महार्घता से समन्वित प्रकृष्ट और परिष्कृत हैं। अपने नारी विषयक निबन्धों में महादेवी जी ने जिस क्रान्तिकारी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, वह बड़े-से-बड़े समाज-सुधारक में भी विरल है। सामान्य नारी की स्थिति पर विचार करते हुए उन्होंने विधवाओं, वेश्याओं और अवैध सन्तानों की समस्याओं पर भी अपने साहसी और निर्भीक विचार व्यक्त किये हैं। उनके सुझाव और निष्कर्ष इतने तटस्थ और सामाजिक चेतना से परिपुष्ट हैं, जो नर-नारी दोनों वर्गों के लिए उपयोगी और व्यावहारिक हैं। यह ठीक है कि नारी की करुण स्थिति देख कर उनका हृदय विह्वल हो गया और उनका विद्रोह सक्रिय हो उठा, परन्तु उन्होंने कभी निष्पक्षता छोड़ कर संतुलन नहीं खोया—“अन्याय के प्रति मैं स्वभाव से असहिष्णु हूँ, अतः इन निबन्धों में उग्रता की गंध स्वाभाविक है, परन्तु ध्वंस के लिए ध्वंस के सिद्धान्त में मेरा कभी विश्वास नहीं रहा। वस्तुतः नारी के प्रति उनकी संवेदनशील करुणा जीवन के प्रगतिशील दर्शन और कल्याण पर आधारित है। ऐसी स्थिति में वलिपशु के लिए करुणा और वलि करने वाले के प्रति आक्रोश स्वाभाविक ही कहा जायगा।

“अनेक व्यक्तियों का विचार है कि यदि कन्याओं को स्वावलम्बी बना देंगे तो वे विवाह ही न करेंगी, जिससे दुराचार भी बढ़ेगा और गृहस्थ-धर्म में भी अराजकता उत्पन्न हो जायगी। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि स्वाभाविक रूप से विवाह में किसी व्यक्ति के साहचर्य की इच्छा प्रधान होनी चाहिए, आर्थिक कठिनाइयों की विवशता नहीं।”

उन्होंने घर के दायित्व के प्रति ‘आधुनिकाओं’ के विद्रोह को भी स्वीकार नहीं किया और न घर के दायित्वों तक ही सीमित रहने वाली परम्परा को ही माना। उनके मत से नारी का कार्यक्षेत्र घर भी है और घर के बाहर भी—“समाज को

किसी न किसी दिन स्त्री के असंतोष को सहानुभूति के साथ समझकर उसे ऐसा उत्तर देना होगा, जिसे पाकर वह अपने-आपको उपेक्षित न माने और जो उसके मातृत्व के गौरव को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसे नवीन युग की सन्देशवाहिका बना सकने में समर्थ हो।” उनका निष्कर्ष इन शब्दों में स्पष्ट है—“स्त्री में माँ का रूप ही सत्य, वात्सल्य ही शिव और ममता ही सुन्दर है। जब वह इन विशेषताओं के साथ पुरुष के जीवन में प्रतिष्ठित होती है तब उसका रिक्त स्थान भर लेना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है।”

गद्य लिखने की प्रेरणा का स्पष्टीकरण करते हुए महादेवी जी ने लिखा है—“मेरे सम्पूर्ण मानसिक विकास में उस बुद्धि-प्रसूत चिंतन का भी विशेष महत्व है, जो जीवन की बाह्य व्यवस्थाओं के अध्ययन में गति पाता रहा है। अनेक सामाजिक रूढ़ियों में दबे हुए, निर्जीव संस्कारों का भार ढोते हुए और विविध विपमताओं में साँस लेने का भी अवकाश न पाते हुए जीवन के ज्ञान ने मेरे भाव-जगत् की वेदना को गहराई और जीवन को क्रिया दी है। उसके बौद्धिक निरूपण के लिए मैंने गद्य को स्वीकार किया था।” उनके सामाजिक निबन्धों में उनका यह संकल्प अत्यंत ओज के साथ सार्थक और चरितार्थ हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

‘नीरजा’ उनके काव्य-संचरण का तीसरा सोपान है। इसमें अनुभूति के उत्कर्ष और कलात्मक मनोरमता के साथ हिन्दी गीत-काव्य अपने चरम विकास का स्पर्श पा लेता है। गीतों की दृष्टि से ‘नीरजा’ हिन्दी की श्रेष्ठतम रचना है। छायावाद के दुर्वासा आलोचक आचार्य शुक्ल ने भी इनके गीतों की सफलता को अनन्य माना है।

चौथी कृति ‘सान्ध्यगीत’ में आत्मा-परमात्मा तथा प्रकृति और विश्व के बीच रागात्मक सम्बन्ध का आकलन करते हुए महादेवी जी का काव्य समात्म भाव के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। रहस्यवादी काव्य की यही चरम सफलता है। उन्होंने स्वयं भी लिखा है, “... ‘नीरजा’ और ‘सान्ध्यगीत’ मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिससे अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख में सामञ्जस्य का अनुभव करने लगा।”

‘सान्ध्यगीत’ के प्रकाशन के साथ कवयित्री का चित्रकर्त्री रूप भी सामने आया। इस प्रकार ‘सान्ध्यगीत’ काव्य, संगीत और चित्र के समन्वित स्वरूप से आलोचित है।

उनकी पाँचवीं काव्य-कृति ‘दीपशिखा’ को काव्यमय चित्र तथा चित्रमय काव्य अथवा चित्रगीत की संज्ञा दी जा सकती है। प्रत्येक गीत की पृष्ठभूमि के रूप में एक चित्र अंकित है, जो काव्योत्कर्ष की चारुता बढ़ाने में सहज ही समर्थ है।

कला और भाव दोनों दृष्टियों से 'दीपशिखा' अत्यंत प्रौढ़ और अपने ढंग की अकेली काव्य-कृति है। 'दीपशिखा' देखने के पश्चात् ही निराला जी ने इनके विषय में लिखा था—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की वीणा-वाणी,
स्फूर्ति-चेतना-रचना की प्रतिमा कल्याणी।

राष्ट्रकवि गुप्त जी ने बधाई देते हुए ये पंक्तियाँ लिख भेजी थीं—

सहज भिन्न हो महादेवियाँ एक रूप में मिलीं मुझे,
बता वहन साहित्य-शारदा वा काव्यश्री कहूँ तुझे।

अपने चित्रों की चर्चा करते हुए महादेवी जी ने लिखा है—“शैशव से ही रंग और रेखाओं के प्रति मेरा बहुत कुछ वैसा ही आकर्षण रहा है जैसा कविता के प्रति। रात को स्लेट पर गणित के स्थान में तुक मिला कर और दिन में माया चाची की सिन्दूर की डिविया चुरा कर कोने में फर्श पर रंग भरना और दंड पाना मुझे अब तक स्मरण है। कलाओं में चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है। माध्यम की दृष्टि से चित्र सूक्ष्म और स्थूल के मध्य में स्थिति रखता है। देश-सीमा के बंधन रहते हुए भी वह रंगों की विविधता और रेखाओं की अनेकता के सहारे काव्य को रंग-रूपात्मक साकारता दे सकता है। अमूर्त भावों का जितना मूर्त वैभव चित्रकला में सुरक्षित रह सकता है उतना किसी अन्य कला में सहज नहीं, इसी से हमारे प्राचीन चित्र जीवन की स्थूलता को जितनी दृढ़ता से सँभाले हैं, जीवन की सूक्ष्मता को भी उतनी ही व्यापकता में बाँधे हुए हैं। चित्र-कला में बहुत छोटे से ज्ञान-बीज पर मैंने रंग-रेखा की शाखाएँ फैलायी हैं। ललित कला हो या उपयोगी शिल्प, सभी को कुछ शीघ्र ही ग्रहण कर लेने की मुझ में सहज शक्ति है, इसी से चित्र बनाने से लेकर कपड़ा बुनने तक सब कुछ मैं अनायास ही कर लेती हूँ। परन्तु यह सत्य है कि कपड़ा बुन कर वह तृप्ति नहीं प्राप्त होती जो चित्र अंकित कर लेने पर स्वाभाविक है। मेरे गीत और मेरे चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है, उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीत में विविध रूप, रंग, भाव, ध्वनि सब एकत्र हैं, पर चित्र में इन सब के लिए स्थान नहीं रहता। उसमें प्रायः रंगों की विविधता और रेखाओं के बाहुल्य में भी एक ही भाव अंकित हो पाता है, इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाँध लेने की क्षमता नहीं रखता। कुछ अजंता के चित्रों पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्ति-कला के आकर्षण से, चित्रों में यत्रतत्र मूर्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष यह तो मैं नहीं

वता सकती, पर इस चित्र-मूर्ति सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नहीं दबा डाला, ऐसा मेरा विश्वास है। रंगों की दृष्टि से मैं बहुत थोड़े और विशेषतः नीले-सफेद से ही काम चला लेती हूँ। जहाँ कई को मिलाना आवश्यक होता है वहाँ ऐसे मिलाना अच्छा लगता है कि किसी की स्वतंत्र सत्ता न रह सके। प्रकृति का शान्त रूप जैसे मेरे हृदय को एक चंचल लय से भर देता है, उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्मा को प्रशान्त स्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रता की प्रतिक्रिया ही सम्भवतः मेरी एकाग्रता का कारण रहती है। मेरे अन्तर्मुखी गीतों में तो यह एकाग्रता ही व्यक्त हो सकी है, परन्तु चित्र में उसका बाह्य वातावरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर चित्र बनाना अनायास और बना लेने पर आनंद स्थायी होता है।”

इस वक्तव्य के माध्यम से उनके गीतों और चित्रों की विशेषताओं से हम भी अनायास ही परिचित हो जाते हैं और सहज भाव से कह सकते हैं कि चित्रों की ऊपर गिनायी गयी सम्पूर्ण विशेषताएँ उनके चित्रों में सफलतापूर्वक प्रतिफलित हुई हैं और उनके चित्रों की गणना विख्यात चित्रकारों के चित्रों के साथ ही की जायगी। वस्तुतः महादेवी जी एक कुशल चित्रकर्त्री भी हैं। उन्होंने मूर्ति-कला को भी अपनी प्रतिभा का सहयोग दिया है, परन्तु उनकी मूर्तियाँ अभी तक सीमित क्षेत्र में ही मूर्तित हैं।

महादेवी जी साहित्यकार, चित्रकार और मूर्तिकार ही नहीं, वरन् एक प्रभावशाली व्याख्याता तथा सक्रिय समाज-सेविका भी हैं। वास्तव में महादेवी जी की भाव-चेतना इतनी गम्भीर, मार्मिक और संवेदनशील है कि उसकी अभिव्यक्ति का प्रत्येक रूप एक नितान्त मौलिक और हृदयग्राही शैली की स्थापना करने में स्वभावतः सफल होता है। व्यक्तित्व की स्वकीयता और स्वचेतनता का यह प्रौढ़ प्रमाण है। लेखन-कला की भाँति भाषण-कला का भी अपना एक अलग क्षेत्र और महत्व है। श्रोताओं को भाव-विभोर कर देने की महादेवी जी में अद्भुत क्षमता है। जिन्होंने उनके भाषणों को सुना है वे जानते हैं कि वे अपने भाषणों में राज-नीतिकों की तरह संचीय सफलता के लिए कभी उन नारों तथा आवेशों का प्रयोग नहीं करतीं जो सस्ती उत्तेजना के सहारे वक्ता की सफलता का कारण बनते हैं। वे बड़ी गम्भीरता और धैर्य के साथ विषय को सुनने वालों के लिए इतना संवेदनीय बना देती हैं कि वे उनके शब्दों को अपने संवेदनों से मिलाते हुए उनके साथ परम आत्मीय भाव से वहते जाते हैं। वक्ता और श्रोता का भावस्पर्दन एक ही लय में लयमान हो जाता है। वक्ता और श्रोता का ऐसा तादात्म्यस्थापन भाषण-कला की चरम परिणति है। महादेवी जी ऐसी ही समर्थ व्याख्याता हैं।

अपने साहित्यिक और सामाजिक कार्यों के साथ वे देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन में भी निरन्तर यथायोग्य सहयोग देती रही हैं। सन् १९४२ के विप्लव में उन्होंने जिस अडिग धैर्य और अटूट साहस के साथ विद्रोहियों का साथ दिया है, उनकी सहायता की है, उनको तथा उनके परिवार और समाज को संरक्षण दिया है, वह बहुत ही रोमांचकारी और आश्चर्यजनक है। स्वर्गीय राष्ट्र-भक्त श्री पुरुषोत्तमदास टंडन भी इस विषय में उनका लोहा मानते थे। उन्हीं दिनों की एक घटना-विशेष से परिचित होकर जोशी जी ने कहा—“आजकल सरकार का रख बहुत कड़ा है। किंचित् मात्र सन्देह होने पर पुलिस वाले बहुत परेशान करते हैं। स्थिति महिलाओं के लिए और भी अधिक भयावह है, आपको बहुत सावधान रहना चाहिए!” महादेवी जी की आँखें सहसा लाल हो गईं और दृढ़ता से उन्होंने कहा—“यह सब तो मैं जानती हूँ, पर विश्वास और आशा से आये हुए देशप्रेमी विद्रोही को सहानुभूति और संरक्षण देने से इनकार भी तो नहीं किया जा सकता? इस समय देश को बहुत बड़े बलिदान और त्याग की आवश्यकता है। पुलिस वाले हमें जीवित तो पकड़ नहीं सकते, और यथाशक्ति काम तो करना ही है। राक्षसी परिपीड़न का भय हमको नहीं है, क्योंकि हम जौहर व्रत के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।” हम लोग केवल स्तब्ध रह गये। बंगाल के अकाल के समय ‘बंगदर्शन’ और चीनी आक्रमण के समय ‘हिमालय’ का संकलन और प्रकाशन उनकी राष्ट्र-सेवा के ही साहित्यिक अनुष्ठान हैं। ‘बंगदर्शन’ की अपनी बात में महादेवी जी ने लिखा था—“किसी अन्य देश में ऐसी घटना घटित होती तो क्या होता इसकी कल्पना की जा सकती है। परन्तु हमारा देश यदि इसे अदृष्ट का लेख मान कर स्वीकार कर ले तो स्वाभाविक ही कहा जायगा। फिर भी प्रत्येक विचारक जानता है कि यह आकस्मिक वज्रपात नहीं है, जिसका कारण दुर्दैव या संयोग को मानकर जिज्ञासा विराम पा सके। यह तो मनुष्य के स्वार्थ की शिला पर उसके प्रयत्न और बुद्धि द्वारा निर्मित नरक है, अतः इसका कारण ढूँढ़ने दूर न जाना होगा। आज के विराट मानव की व्यवस्था का समुद्र, आज के लेखक को जीवन का कोई महान तथ्य, कोई अमूल्य सत्य न दे सकेगा, ऐसा विश्वास कठिन है। इस दुर्भिक्ष की ज्वाला का स्पर्श करके हमारे कलाकारों की लेखनी-तूली यदि स्वर्ण न बन सकी तो उसे राख हो जाना पड़ेगा।”

‘हिमालय’ का समर्पण इस प्रकार है—

“जिन्होंने अपनी मुक्ति की खोज में नहीं, वरन् भारत-भूमि को मुक्त रखने के लिए अपने स्वप्न समर्पित किये हैं, जो अपना सन्ताप दूर करने के लिए नहीं, वरन् भारत की जीवन-ऊष्मा को सुरक्षित रखने के लिए हिम में गले हैं, जो आज हिमालय में

मिल कर धरती के लिए हिमालय बन गये हैं, उन्हीं भारतीय वीरों की पुण्यस्मृति में"—और इस संग्रह के विषय में लिखते हुए उन्होंने लिखा है—"इतिहास ने अनेक बार प्रमाणित किया है कि जो मानव-समूह अपनी धरती से जिस सीमा तक तादात्म्य कर सका है, वह उसी सीमा तक अपनी धरती पर अपराजेय रहा है। इस तादात्म्य के अनेक साधनों में विशिष्ट साहित्य है। किसी भूमिखण्ड पर किस मानव-समूह का सहज अधिकार है, इसे जानने का पूर्णतम प्रमाण उसका साहित्य ही है। आधुनिक युग के साहित्यकार को भी अपने रागात्मक उत्तराधिकार का बोध था, इसी से हिमालय के आसन्न संकट ने उसकी लेखनी को, आज के शंख और आस्था की वंशी के स्वर दिये हैं।"

प्राचीन काल से आज तक हिमालय पर लिखी महत्वपूर्ण कविताओं का संकलन अपने-आप में भी एक बहुत बड़ी राष्ट्रीय उपलब्धि है।

इस प्रकार अन्याय की दुर्दमनीय स्थितियों के प्रति मन में विद्रोह स्वाभाविक है, पर उसे क्रियात्मक रूप देने की क्षमता जिस अपराजय आत्मदान की अपेक्षा रखती है वह महादेवी जी की निजी विशेषता है। यही कारण है कि उनके विद्रोह की प्रखरता जीवन के प्रति अटूट आस्था की सजलता में बादल के बीच बिजली की तरह अन्तर्हित रहती है। वस्तुतः मैथिली की अग्नि-परीक्षा, बुद्ध का गृहत्याग और महादेवी का विद्रोह सत्य को सुन्दर और सुन्दर को शिव बनाने की ऊर्ध्वगामी सीढ़ियाँ हैं, जिनके द्वारा राग-द्वेष से मुक्त हो कर मनुष्य जीवन की उच्चतम भूमि पर चढ़ सकता है। इनके विद्रोह में किसी प्रकार का उद्दाम वेग नहीं, एक दृढ़ संयम है, आग की लपटों का उच्छ्वसित आवेग नहीं, दीपक की लौ की आलोकवाही स्निग्धता है, चमत्कारी बुद्धि का उतावलापन नहीं, भावावेश को स्पंदित कर देने वाली हार्दिकता का विश्वास है, संकोच, संदेह तथा भय-पराजय का भाव नहीं, विजयी की वह विनम्रता और उदारता है, जिस पर साधना का पानी चढ़ा हुआ है। आशय यह कि विद्रोह की मंगल-मुखी भावना पर ही उनकी आस्था है।

यद्यपि उनकी काव्य-रचना का क्रम अटूट है, 'दीपशिखा' की तरह 'प्रमा' चित्र-गीत-कृति भी पूर्ण हो चुकी है, पर अब तक प्रकाशित नहीं हुई। कतिपय गद्य-कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने लिखा है—"जीवन की दृष्टि से मैं बहु-धंधी हूँ, अतः एकान्त काव्य-साधना का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ होगा। साधारणतः मुझे भाव, विचार और कर्म का सौन्दर्य समान रूप से आकर्षित करता है, इसी से किसी एक में जीवन की पूर्णता पा लेना मेरे लिए सहज नहीं। भाव और विचार जगत् की सब सीमाएँ न छू सकने पर भी मेरे कर्म-क्षेत्र की विविधता कम सारवती नहीं। साहित्य मेरे सम्पूर्ण जीवन की साधना नहीं है, यह स्वीकार करने में मुझे लज्जा

नहीं। हमारे जीवन का धरातल इतना विषम है कि एक पर्वत के शिखर पर बोलता है और दूसरा कूप की अतल गहराई में सुनता है। इस मानव-समष्टि में, जिसमें शत-प्रतिशत असाक्षर और एक प्रतिशत से भी कम काव्य के मर्मज्ञ हैं, हमारा बौद्धिक निरूपण कुंठित और कलागत सृष्टि पंख-हीन है। शेष के पास हम अपनी प्रसाधित कलात्मकता और बौद्धिक ऐश्वर्य छोड़ कर व्यक्ति मात्र हो कर ही पहुँच सकते हैं। बाहर के वैषम्य और संघर्ष में थकित मेरे जीवन को जिन क्षणों में विश्राम मिलता है, उन्हीं को कलात्मक कलेवर में स्थिर कर मैं समय-समय पर उनके पास पहुँचाती ही हूँ, जिनके निकट उनका कुछ मूल्य है। शेष जीवन को जहाँ देने की आवश्यकता है, वहाँ उसे देने में मेरा मन कभी कुंठित न होगा।

विशाल साहित्यिक परिवार के हर्ष-शोक मेरे अपने हैं, परन्तु उससे बाहर खड़े व्यक्तियों की सुख-दुख-कथा मुझे पराई नहीं लगती। अपने सुशिक्षित-सुसंस्कृत विद्यार्थियों से साहित्यालोचन करके मुझे प्रसन्नता होती है, परन्तु अपने मलिन-दुर्बल जिज्ञासुओं (गँवई-गाँव के बच्चों) को वर्णमाला पढ़ाने में मुझे कम सुख नहीं मिलता। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैंने उस उपेक्षित संसार में बहुत कुछ भव्य पाया है, अन्यथा सम्य समाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती। अनेक बार लोकगीत सुन कर ऐसा भी लगा है कि यह भाव मेरे गीत में होता। 'एक कदम की डार वसैं दो पँखियाँ' गाने वाली मेरी ग्रामीण सखी इस गीत को अपने जीवन की अन्योक्ति बना कर गाती है। साधारण शाब्दिक अर्थों में यह गीत दो विहगों के करुण विछोह की कथा है, परन्तु उसे अलौकिक अर्थ में ग्रहण कर लेने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होती। अपने छोटे घर के द्वार पर टेढ़ा-मेढ़ा स्वस्तिक बना कर उसके दोनों ओर हाथ की छाप लगाने वाली सरल गृहिणी की कल्याण-कामना चाहे बहुत स्पष्ट न हो, पर मूलतः यह मेरी उस भावना से भिन्न नहीं जिसके कारण मैं शून्य भित्ति पर बुद्ध का चित्र बना देना चाहती हूँ।

इस साम्य का एक और भी कारण है। हमारे इस उपेक्षित वर्ग ने भारतीय नारी की आत्मा पायी है—विश्वासी, सहनशील और अश्रुस्नात, इसी से उस ओर के जीवन से मेरा नितान्त अपरिचय सम्भव नहीं। कार्य इतना मूल्यवान क्यों हो कि सब तक न पहुँच सके, यह भी समस्या है। एक बहुत बड़े मानव-समूह को हमने ऐसी दुर्दशा में रख छोड़ा है जहाँ साहित्य का प्रवेश कल्पना की वस्तु है। वह समाज हृदय की बात समझता है, पर व्यक्ति के माध्यम से। ऐसे समाज में काव्य पहुँचाने से अधिक महत्त्व का प्रश्न मनुष्य पहुँचाना है, जो अपनी सहज संवेदना से उनके हृदय तक पहुँच कर बुद्धि की खोज-खबर ले सके।"

स्पष्ट है कि साहित्य-सृजन के अतिरिक्त उन्होंने सामाजिक कार्य-क्षेत्र में भी

सक्रिय भाग लिया है और नीरस साहित्यिक रचनात्मक कार्य-भार सँभालने में भी संलग्न रही हैं। महिला विद्यापीठ, साहित्यकार संसद, रंगवाणी आदि संस्थाओं की सम्बर्द्धना तथा स्थापना के साथ सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों को एक मंच पर एकत्रित करने का सर्वप्रथम श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। ग्रामीण विपन्न जीवन के साथ निकट का संपर्क स्थापित कर के उन्होंने उनको शिक्षित करने की चेष्टा के साथ उनके सुख-दुख में भी हाथ बटाया है।

उनके संस्मरण-समन्वित रेखाचित्र जो 'अतीत के चलचित्र' तथा 'स्मृति की रेखाएँ' में संगृहीत हैं, इस सत्य के ज्वलंत उदाहरण हैं। महादेवी जी ने इन रेखाचित्रों में किसी नेता, ऐतिहासिक व्यक्ति या किसी महान् पुरुष-स्त्री को न लेकर समाज के विपन्न, अनाथ, अछूते, अशिक्षित तथा निम्नवर्ग के व्यक्तियों को ही चित्रित किया है। इन पात्रों की बाह्य कुरूपता और विपन्नता के आवरण को अपनी सहानुभूति की तीव्रता से भेद कर उनके आन्तरिक सौन्दर्य और उनकी मनुष्यता को स्पष्ट करने में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली है, जो उनके प्रति इनकी सहृदयता और निकटता की साक्षी है। सब से बड़ी बात यह है कि इन रेखाचित्रों में निबन्ध, कहानी और संस्मरण तीनों की विशेषताओं का आनंद एक साथ मिलता चलता है। इन चित्रों के द्वारा जीवन को यथार्थ रूप में देखने-परखने और भोगने की जिस प्रवृत्ति का महादेवी जी ने दिशा-निर्देश किया है, उसमें मानव-हृदय की अतल गहराइयों में उतरने और संवेदनशील आत्मीयता जगाने की अद्वितीय क्षमता है। अपनी सहज सहानुभूति के कारण ही वे 'गुगियाँ' ऐसे निर्वाक प्राणी का जीवन-वृत्त पुस्तक में लिखी कहानी की भाँति पढ़ और समझ लेती हैं, चीनी वस्त्र-व्यापारी भी अपने कपड़ों के गट्ठर के साथ उनके सामने अपना हृदय खोल देता है, पहाड़ी अपढ़ कुली भी उन्हें अपने जीवन के मर्म से अवगत कर देता है। आशय यह कि समाज, परिस्थिति अथवा भाग्य द्वारा उपेक्षित व्यक्तियों की अव्यक्त वेदना को स्वायत्त कर लेना और उनके प्रति एक सहज सक्रिय सहानुभूति प्रकट करना महादेवी जी की स्वभावगत निजता है। यह व्यापक सहानुभूति उनके साहित्य तथा व्यवित्तत्व को एक असाधारण भूमिका देने में सक्षम है। अनुभूति की सचाई, सहानुभूति की गहराई और प्राणी मात्र के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकने की व्यापक आत्मीयता इनकी सब से बड़ी विशेषता है।

'पथ के साथी' के संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में महादेवी जी ने समकालीन कवियों के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा प्रभावों और मनोभूमियों को स्पष्ट करने के साथ-साथ अपने और उनके बीच के आत्मीय सम्बन्धों का भी उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, साथियों के जीवन-दर्शन, संवेदन की गहराई और उनकी कार्य-विधि

की प्रणाली का भी उल्लेख किया है। इन संस्मरण-चित्रों में महादेवी जी ने साथियों के बाह्य रूपों को रेखाओं से घेरने के साथ ही उनकी अन्तर्वृत्तियों को भी परखने और उनका मूल्यांकन करने की चेष्टा की है। वस्तुतः यह कृति साथियों के साथ स्वयं महादेवी जी के जीवन-विषयक दृष्टिकोण को भी प्रकट करती है, तो यह अस्वाभाविक नहीं। संक्षेपतः संस्मरण, कल्पना और आलोचना की त्रिवेणी का यह साहित्यिक संगम सभी को अपनी सरस-स्निग्धता के साथ आत्मीयता के सागर तक पहुँचा देता है, यह निर्विवाद है। महादेवी जी का निरीक्षण पूर्णत्व को पकड़ता है, उनकी कल्पना व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग के लिए उपमान एकत्र कर लेती है, उनकी अनुभूति मन के चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व के साथ तादात्म्य ग्रहण करती है और उनकी प्रज्ञा व्यक्तित्व के सहज उज्ज्वल पृष्ठों को धारण कर लेती है। आनुवंशिक संस्कार एवं समकालीन प्रभाव, परम्परा आदि के संदर्भ में पथ के साथियों के अध्ययन का प्रयास महादेवी की अप्रतिम उपलब्धि है।

‘शृंखला की कड़ियाँ’ के सामाजिक निबन्धों के अतिरिक्त महादेवी जी ने प्रौढ़ विवेचनात्मक एवं ललित निबन्ध भी लिखे हैं, जो क्रमशः ‘साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध’ और ‘क्षणदा’ में संकलित हैं। ‘कसीटी पर’ शीर्षक से लिखे गये निबन्ध अभी तक पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हुए।

निबन्धों की सर्वप्रथम विशेषता निबन्धकार के व्यक्तित्व की छाप उनके निबन्धों में सर्वत्र व्याप्त है। प्रत्येक निबन्ध उनके सुचिंतित एवं सुनिश्चित मत और उनके अखण्ड व्यक्तित्व का सजीव तथा गतिशील चित्र-सा जान पड़ता है। कहा जाता है कि असफल कवि काव्यालोचक बन जाता है, महादेवी जी ने इसे खंडित कर दिया है। उनका विवेचन उनके कवि तथा विचारक रूप के सामञ्जस्य का सुफल है। अपने विवेचनात्मक निबन्धों में युगीन साहित्य-प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए भी उन्होंने सनातन साहित्यिक मूल्यों का निर्देश दे कर साहित्य के स्थायी मानदंडों का ही निष्पक्ष निरूपण किया है। इस प्रकार युग-सृजन में प्राण-प्रवेग भरने के साथ युगीन समीक्षा को भी प्रेरणा देने में वे सफल रही हैं। कवि के स्वानुभूत मार्मिक स्पर्शों से जीवन्त और मुखरित होने के कारण इस विवेचना की प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता भी अमोघ है। इसकी बड़ी भारी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल-व्यापक भूमि पर रख कर परखने की क्षमता है। स्वभाव से ही कवि-समालोचक की दृष्टि में काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता होती है। सृजन के विभिन्न और विविध तत्त्वों से सहज ही परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओं का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी स्वाभाविक है।

भारतीय साहित्य के अध्ययन तथा चिंतन-मनन से प्राप्त साहित्य के मूल्यांकन की प्राचीन कसौटी तो महादेवी जी के पास है ही, आवश्यकतानुसार युगानुरूप नवीन-नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से घिरी न हो कर गतिशील जीवन को संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल, स्वच्छ और सतत प्रसरणशील है। सच तो यह है कि महादेवी जी ने काव्यालोचन के सिद्धान्तों को जीवन के विकासशील सिद्धान्तों के समकक्ष रख कर विवेचना के सूत्रों को केवल सिद्धान्तवादी समीक्षकों के हाथ से छीन कर कवि के जीवन-व्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति-कौशल से सधे हाथों में रख दिया है, जनतंत्रीय जीवन-धारा का साहित्य में भी अभिप्रेक किया है। इस प्रक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो सम्बर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था। डा० नगेन्द्र ने बड़े पते की बात कही है—“महादेवी जी के ये निबन्ध काव्य के शाश्वत सिद्धान्तों के अमर व्याख्यान हैं। आज साहित्यिक मूल्यों के ववण्डर में भटका जिज्ञासु इन्हें आलोक-स्तम्भ मान कर बहुत कुछ स्थिरता पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।”

ललित निबन्धों में महादेवी जी ने उक्ति-वैचित्र्य, सूक्त-कथन, व्यंग्य और लक्षणा-व्यंजना तथा हृदय-ग्राह्य जिस चित्रमयी अलंकृत शैली का सूत्रपात किया है, उससे उनके निबन्धों में काव्यमयी सरसता और प्रभावोत्पादकता के साथ अभिव्यञ्जना को एक ऐसी सामर्थ्य प्राप्त हो गई कि उनकी निबन्धकता नितान्त उदात्त और उन्मेषक बन गई है। प्रवाह और प्रांजलता इन निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। यह ठीक है कि इनमें बौद्धिक व्यायाम, तर्क के दांव-पेंच और किसी जटिल समस्या के सुलझाव का दर्प नहीं, किन्तु उनकी मार्मिक तथा अनुभूत उक्तियाँ स्वतः तर्क को पीछे ढकेल कर भावात्मक रूप में अकाट्य बन जाती हैं—“हिन्दी अपना भविष्य किसी से दान में नहीं चाहती। वह तो उसकी गति का स्वाभाविक परिणाम होना चाहिए। जिस नियम से नदी, नदी की गति रोकने के लिए शिला नहीं बन सकती, उसी नियम से हिन्दी भी किसी सहयोगिनी का पथ अवरोध नहीं कर सकती।”

उत्कृष्ट मौलिक सृजन के साथ महादेवी जी ने अनुवादक का भी बहुत बड़ा और महत्वपूर्ण कार्य किया है। काव्यमयी वैदिक ऋचाओं से ले कर बाल्मीकि, धेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति तथा जयदेव की उदात्त सरस काव्य-विभूतियों का काव्यमय हिन्दी रूपान्तर ‘सप्तपथा’ में प्रकाशित हुआ है, परन्तु अभी तक उसका अधिकांश अप्रकाशित ही है। कालिदास के महाकाव्य ‘कुमार-

सम्भव' तथा 'रघुवंश' और अश्वघोष के महाकाव्य 'बुद्धचरित' का सम्पूर्ण अनुवाद भी उन्होंने किया है। आज के नाना ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और विचार की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के कलह-कोलाहल में मानव के तरुणकाल की प्रशान्त प्रसादात्मक भावभूमि के प्रामाणिक परिचय की उपादेयता आज कितनी महत्त्वपूर्ण है, कहने की आवश्यकता नहीं। जीवन की ऊर्ध्वगामी प्रगति और स्वस्थ विकास के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि हम अपने अतीत से परिचित और प्रेरित होते चलें। अपनी बात—भूमिका में महादेवी जी ने संस्कृति और साहित्य के परस्पर सम्बन्ध और उसकी निरन्तरता का प्रतिपादन करते हुए वेदों से ले कर जयदेव तक के साहित्य का विस्तृत विश्लेषण-विवेचन भी उपस्थित किया है, जो अत्यंत सारगर्भित और राष्ट्र की असंख्य परिवर्तन सँभालने वाली अखण्ड पीठिका पर रचित साहित्य के ऐतिहासिक अनुसंधान का अभिनव आधार देने वाला है।

अनुवाद के विषय में कुछ विशेष कहने का अधिकार तो प्राचीन भाषाविद् पंडितों को ही है, परन्तु इतना तो निःशंक हो कर कहा ही जा सकता है कि किसी युगान्तर कवि के काव्य का काव्य में अनुवाद करना तब तक सम्भव नहीं जब तक अनुवादक मूल कवि के साथ पूर्ण तादात्म्य न स्थापित कर ले। अनुवाद को मूल से मिला कर देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल कवि की अनुभूतियों और संवेदनाओं के साथ महादेवी जी का पूर्ण तादात्म्य है। एक नहीं अनेक कवियों के साथ तादात्म्य की यह क्षमता जिस व्यापक-विराट प्रतिभा की माँग करती है, महादेवी जी उससे सम्पन्न हैं। महादेवी जी मानती हैं कि अनुवाद मूल आत्मा का नवीन अवतरण है, अस्तु उसकी सार्थकता आत्मा के न बदलने और शरीर के नवीन रहने पर ही चरितार्थ होती है। इस अनुवाद में भाषा की ध्वनि, संकेत, प्रतीक तथा अभिव्यञ्जना की प्रणाली में चाहे जो भी अन्तर हो, जो अनिवार्य है, परन्तु कवि की मूल भावना को यथावत् अक्षुण्ण रखने में वे सर्वथा सफल हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः अर्द्धशती की अवधि में महादेवी जी ने एकनिष्ठ हो कर अबाध गति से अपने भावमय सृजन और कर्ममय जीवन की राधना में साथ-साथ संलग्न रह कर अपनी इस घोषणा को प्रत्यक्ष और सार्थक बनाने में अनन्य सफलता प्राप्त की है—“कला के पारस का स्पर्श पा लेने वाले ना गल्लाकार” के अतिरिक्त कोई नाम नहीं, साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव-सौन्दर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।”

इसीलिए संतोष के साथ उन्होंने कहा है—“जीवन के मुतले समयों से ले कर अब तक मेरा मन अपने प्रति विश्वासी ही रहा है। मार्ग चाहे जितना अस्पष्ट

रहा, दिशा चाहे जितनी कुहराच्छन्न रही, परन्तु भटकने, दिग्भ्रान्त होने और चली राह में पग-पग गिन कर पश्चात्ताप करते हुए लौटने का अभिशाप मुझे नहीं मिला है। मेरी दिशा एक और मेरा पथ एक रहा है, केवल इतना ही नहीं, वे प्रशस्त से प्रशस्ततर और स्वच्छ से स्वच्छतर होते गए हैं।” यह उनके अखण्ड और सुगठित व्यक्तित्व का ही परिणाम है। ‘कथनी, करनी और रहनी की यह एकता जो रचना, विचार और जीवन के रूप में अविरোধी जान पड़े, कोई सामान्य विशेषता नहीं है। महादेवी जी के लेखन की सचाई और उसके स्थायित्व के सम्बन्ध में हमें निःशंक होना चाहिए।’

साहित्यिकों और साहित्यिक संस्थाओं ने, समाज और सरकार ने—सम्पूर्ण राष्ट्र ने उनकी विजय-यात्रा की उपलब्धियों की महत्ता को स्वीकार करते हुए उन्हें सम्मानित और अभिनन्दित किया है, यह किसी से छिपा नहीं है।

अस्तु, ‘रजकणों में खेलती विरज विधु की चाँदनी’—महादेवी जी का व्यक्तित्व समात्मभाव की साधना से जितना सरल, मधुर, करुण तथा कोमल है, उनका कृतित्व उतना ही उदात्त, व्यापक, विराट एवं महान है। हिमालय का सम्बोधन करते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व का अनायास ही जैसे उद्घाटन कर दिया है—

हे चिर महान !

यह स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल बरसा जाती रंगीन हास,
सेली बनता है इन्द्रधनुष परिमल मलमल जाता बत्तास ;

पर राग हीन तू हिम निधान ।

नभ में गर्वित झुकता न शीश पर अंक लिये है दीन क्षार,
मन गल जाता नत विश्व देख तन सह लेता है कुलिश भार ;

कितने मृदु कितने कठिन प्राण ।

टूटी है कब तेरी समाधि शंझा लौटे शत हार हार,
वह चला दृगों से किन्तु नीर सुन कर जलते कण की पुकार ;

सुख से विरक्त दुख में समान ।

मेरे जीवन का आज मूक तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले मन ले कवणा की थाह नाप ;

उर में पावस दृग में विहान ।

वास्तव में महादेवी जी से तुलना करने के लिए हिमालय ही सब से अधिक उपयुक्त है। उनके व्यक्तित्व का वही उन्नत और दिव्य रूप, वही विराट तथा विशाल प्रसार, वही अमल-धवल एवं अटल-अचल धीरता-गम्भीरता, वही पर दुःख-

कातरता, करुणा तथा स्नेहसिक्त तरलता और सब से बढ़ कर वही सर्व-सुखद शुभ्र मुक्त हास—यही तो महादेवी हैं।

अन्त में मुझे यह कहना समीचीन और समयानुकूल जान पड़ता है कि यदि हम उनके सन्देश को अपने जीवन में चरितार्थ कर सकें तो इससे उनको परम संतोष और आनंद तो मिलेगा ही, हमारा अपना पथ भी प्रशस्त और सर्व-कल्याणमय होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है—

‘इस युग का कवि हृदयवादी हो या बुद्धिवादी, स्वप्नद्रष्टा हो या यथार्थ का चित्रकार, अध्यात्म से बँधा हो या भौतिकता का अनुगत, उसके निकट यही एक मार्ग शेष है कि वह अध्ययन से मिली जीवन की चित्रशाला से बाहर आ कर, जड़ सिद्धान्तों का पाथेय छोड़ कर अपनी सम्पूर्ण संवेदना-शक्ति के साथ जीवन में घुल-मिल जावे। उसकी केवल व्यक्तिगत सुविधा-असुविधा आज गौण है, उसकी केवल व्यक्तिगत हार-जीत आज महत्व नहीं रखती, क्योंकि उसके सारे व्यक्तिगत सत्य की आज समष्टिगत परीक्षा है। उसे स्वप्नद्रष्टा भी होना है, जीवन के क्षुत्क्षाम निम्न स्तर तक मानसिक खाद्य भी पहुँचाना है, तृपित मानवता को संवेदना का जल भी देना है और सब के अज्ञान का भार भी सहना है। सारांश यह कि आज के कवि को अपने लिए अनुरागिक हो कर भी संसार के लिए गृही, अपने प्रति वीतराग हो कर भी सब के प्रति अनुरागी, अपने लिए संन्यासी हो कर भी सब के लिए कर्मयोगी होना होगा, क्योंकि आज उसे अपने को खो कर पाना है।’

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीद्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

प्रथम दर्शन और व्यक्तित्व-बोध

महीयसी महादेवी जी के काव्य से मेरा प्रथम परिचय किशोरावस्था की उस स्थिति में हुआ, जब काव्य के भाव, अर्थ, रस तथा सौन्दर्य से अधिक महत्त्व उसके सस्वर सफल पाठ या गायन का होता है। सातवीं कक्षा में हिन्दी की योग्यता के लिए प्राप्त 'नीहार' को मैंने तोते की तरह रट तो डाला, पर समझा कुछ नहीं, यह सत्य है।

शिक्षा-क्रम के साथ संस्कार और रुचि के अनुकूल काव्यात्मक भाव-विस्तार भी होता गया और धीरे-धीरे काव्य की पकड़ के साथ स्वयं कुछ लिखने की प्रेरणा भी जगी, तो यह स्वाभाविक ही थी। आठवीं कक्षा के विद्यार्थी के रूप में लिखी पंक्तियाँ, काव्य का सूत्रपात होने के नाते मुझे अब तक याद हैं—

हूँस उठे अश्रु से भरे नयन, धुल जाये जीवन का विषाद,
छा जाये जीवन में वसंत, गूँजे कविता का कलित नाद।

क्रिश्चियन कालेज, प्रयाग में पहुँचकर पाठ्य-क्रम, स्वाध्याय, साहित्यिक गोष्ठियों तथा कवि-सम्मेलनों के सम्मिलित प्रभाव से छायावादी कवियों के काव्य का यथासाध्य व्यवस्थित और हृदयग्राही परिचय मिला। महाप्राण निराला और पंत जी के दर्शन भी हुए, परन्तु महादेवी जी नहीं दिखीं। उनके दर्शनों की अभिलाषा तीव्र से तीव्र होती गयी। कविवर वच्चन और समालोचक शान्ति-प्रिय जी के निकट आने का अवसर मिला और प्रायः से कुछ अधिक उनसे मिलना-जुलना भी होता रहा।

इसी बीच 'भारत', 'देशदूत' और 'सरस्वती' में मेरी कतिपय तुकबंदियों को स्थान भी मिल गया। उत्साहित होकर मैंने 'चाँद' में, जिसका सम्पादन उन दिनों महादेवी जी करती थीं, एक कविता भेजी। सम्पादकीय संस्पर्श से सँभल कर वह ऐसे सुन्दर रूप में प्रकाशित हुई कि हृदय गद्गद हो उठा। इसी घटना से मेरे मन में महादेवी जी के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव और अधिक बढ़ गया, तो आश्चर्य की बात नहीं। उनके काव्य के अध्ययन-मनन और उनके दर्शनों की आकुल आकांक्षा के आधार पर उनके विषय में सोचते, सुनते और पढ़ते-पढ़ते कल्पना की रंगीन, किन्तु अनगढ़ रेखाओं से मेरे मानसपट में उनके अनेक चित्र

वनते-विगड़ते रहे, जो स्वाभाविक ही था। सृष्टि को देखकर जैसे विभिन्न व्यक्ति स्रष्टा के विषय में अपनी भावनाओं को विविध आकार-प्रकार देते रहते हैं, उसी प्रकार पाठक भी कृतियों के माध्यम से कृतिकार का रूप-चित्र भावांकित करता रहता है। मेरे स्वभाव का तो यह अनिवार्य अंग है।

महादेवी जी का चित्र बनाने के लिए उनकी कतिपय कविताओं का आधार ग्रहण करने की चेष्टा में मैं ऐसा उलझ गया कि बहुत दिनों तक उनका कोई स्पष्ट चित्र मेरे मन में अंकित नहीं हो सका। प्रत्यक्ष विरोधाभासों के भीतर अन्तर्निहित साम्य, अनेकता में एकता देख लेने की सुधी दृष्टि और सर्वव्यापक सामंजस्य एवं सन्तुलन, जो महादेवी जी के काव्य और व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ तथा महत्ता है, उस समय मैं उसे नहीं ग्रहण कर सका।

‘मैं वनी मधुमास आली’ की मधुर विषाद की करुण यामिनी में सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी और दृगों से उमड़ी कालिन्दी का पावन प्रवाह मैं नहीं संजो सका। इसी तरह ‘प्रिय ! मैं हूँ एक पहेली भी’ का जग-जीवन में स्पंदित मधु, मधुर हास, मद, क्रन्दन और विषाद पी-पीकर दुख की चिर प्यास और सुख-सरिता की रँगरेली, दोनों एक साथ ही बनने की घोषणा तथा प्रति रोम से झरने वाले निर्झर की धारा और आग की ज्वाला, विरक्ति और आसक्ति, सीमा की गोद में पलकर भी असीम से खेलने की अत्यन्त सूक्ष्म रूपरेखा का अंकन भी मुझसे सम्भव नहीं हुआ।

‘प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन’ में सन्ध्याकालीन क्षितिज की तरह विराग और उसकी अरुणिमा की तरह राग, साधों का सुनहलापन और विषाद का सघन तिमिर, आकाश और सन्ध्या के मूक मिलन के समय की अश्रुमती हँसती चितवन, सान्ध्यगगन की उदासी, उसकी रंगमयता, क्षणिकता में निहित उसकी सनातनता, अपने भीतर अनंत ज्वाला एवं अपार शीतलता संवरण करने की उसकी क्षमता आदि से समन्वित महादेवी जी का चित्र बना लेना मेरे लिए एक पहेली की उलझन से किसी भी तरह कम नहीं था। तभी यह गीत सामने आया—

मेरी है पहेली बात।

रात के झीने सितांचल से बिखर मोती बने जल,

स्वप्न पलकों में बिखर झर प्रात होते अश्रु केवल;

सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात !

मस्करा कर राग मधुमय वह लुटाता पी तिमिर विष,

आसुओं का क्षार पी मैं बाँटती नित स्नेह का रस;

सुभग मैं उतनी मधुर हूँ, मधुर जितना प्रात !

ताप जर्जर विश्व उर पर तूल से घन छा गये भर ,
 दुःख से तप हो मृदुलतर उमड़ता करुणा भरा डर ;

सजनि मैं उतनी सजल जितनी सजल बरसात !

जिस प्रकार रात के श्वेत अंचल—चाँदनी से उद्भासित आकाश में मोती-तारे बिखर-बिखर कर अन्त में जल-ओस बन जाते हैं, उसी प्रकार मेरी पलकों में विचरण करने वाले विविध स्वप्न भी अन्त में आँसू बन जाते हैं। अतः मैं उतनी ही करुण हूँ जितनी करुण रात है। जिस प्रकार प्रभात तिमिर के विष को पीकर मधुमय राग अरुणाभा से विश्व को भर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपने खारे आँसुओं को पीकर संसार के लिए प्रेम का रस ही बाँटती हूँ। अतः मैं प्रभात की भाँति ही मधुर हूँ। जिस प्रकार वर्षाऋतु में विश्व के हृदय को ताप से दुखी देख कर आकाश में पानी से भरे बादल छा जाते हैं उसी प्रकार दुख से तपे मेरे हृदय में विश्व के प्रति सजल करुणा घुमड़ उठती है। अतः मैं बरसात की तरह सजल और करुणापूर्ण हूँ।

इसे पढ़-समझ कर मेरे विवश हृदय में उत्साह का संचार होने लगा और अनायास ही महादेवी जी के चित्रांकन का बोध भी जाग पड़ा। मेरा मन आश्वस्त हुआ और 'सुरभित पाटल के रंगों से रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल' का सहारा लेकर मैंने अपने मन में उनका एक चित्र बना डाला, जो इस प्रकार का था—

हिम-सा स्वच्छ उज्ज्वल दुकूल, जिसमें श्रृंगारिकता नहीं, सात्त्विकता की झलक, पर सुरुचि की सम्पन्नता भी अनिवार्य है। कुछ खोजती सी अन्तर्हित सौन्दर्य का पथ देखती आकुल सजग-सजल आँखें, जो जीवनव्यापी जिज्ञासा में निर्निमेष व्यस्त होकर भी अपनी दृष्टि से दिव्य भावोन्मेष का संचार करने में समर्थ हैं। अधरों में अरुणोदय की स्फूर्ति का उपमान मंदहास, जो अपने और दर्शक के बीच का अन्तर अपनी निर्मल तथा शुभ्र स्निग्धता से भरकर सबको आत्मीयता की निकट स्थिति और आश्वासन देने में सहज ही सफल है। व्यक्तिगत सीमित ऐश्वर्य-राग को छोड़कर असीमित अभिप्राय से आवेष्टित और उद्दीप्त महारागमय प्रतिभा-प्रसन्न मुखमंडल, जिससे प्राणी मात्र के प्रति महामैत्री तथा महाकरुणा के अमोघ आलोक की किरण-फुहारें फूटती रहती हैं। सब मिलाकर एक ऐसा व्यक्तित्व जो प्रातः की तरह मधुर, रात की तरह करुण और बरसात की तरह सरस-सजल है—एक ऐसा चित्र जिसे देखकर अपरिचित व्यक्ति भी सहसा कह उठे—लगता है इसे पहले कभी और भी देखा है।

बड़ी आकुल प्रतीक्षा और मनौती के उपरान्त वह पुण्य पर्व भी आया, जब मुझे महादेवी जी के प्रत्यक्ष प्रथम-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने बनाये चित्र से

उनका बहुत कुछ साम्य पाकर जिस आश्चर्य और प्रसन्नता का स्मरण हुआ, वह केवल अनुभवगम्य है।

हलके गुलाबी जाड़े की वह सन्ध्या आज भी उतनी ही जीवन्त और प्रेरणा-प्रद है। १, एलगिन रोड, प्रयाग के स्वच्छ टीनी विशाल फाटक को पार कर वगीची के लता-कुंज-कुसुमों के बीच से अपेक्षाकृत छोटी बँगलिया के द्वार पर पहुँचते ही ऐसा लगा कि हम किसी मंदिर के द्वार पर खड़े हैं। धूपवत्ती की मंद-मंद सुगंध शांत वातावरण को सुरभित कर रही थी। द्वार के ठीक सामने कक्ष में प्रतिष्ठित मुरली मनोहर की मनोरम मूर्ति कुछ बोलती-सी जान पड़ती थी। कक्ष में प्रवेश कर देखा सारा कक्ष सरस्वती, बुद्ध, ईसा और महात्मा गांधी की कलात्मक मूर्ति से महिमान्वित है। पूर्व दिशा की दीवाल बुद्ध के महाप्रयाण वाले दृश्य से चित्रित थी। बीच कक्ष में एक शीशा-जड़ित चीखुटी संगमरमर की चौकी पर एक सुन्दर पुष्पदान रंग-विरंगे मुगन्धित सुमनों से सुसज्जित रखा था। कक्ष के चारों कोनों में तिपाईनुमा ऊँचे-छोटे मेजों पर काठ, खर, हाथी दाँत तथा मिट्टी के तरह-तरह के खिलौने बड़े ही ढंग से सजाकर रखे गये थे, जिनमें हाथी, घोड़ों, ऊँटों, बन्दरों, मछलियों, चिड़ियों तथा छोटे-छोटे शंख-घोंघों के साथ खिलौने के रूप हारमोनियम, तबला और सितार भी थे, पर बेलन, कड़ाही और वालटी की शोभा तो अद्भुत ही थी। फर्श काली सफेद टाइलों से जड़ी थी। ऊपर की सफेद दूधिया छत के बीच हलकी नीलाभ रोशनी देनेवाला बल्ब लटक रहा था। उस प्रसाधन के अनुरूप और उपयुक्त दो कुर्सियाँ और एक सोफा। कक्ष सर्वांशतः मानों रमणीयता का परम प्रतीक जान पड़ता था।

बैठते ही बैरगिया रंग के बालों की चादर ओढ़े एक बिल्ली आकर म्याऊँ-म्याऊँ करने लगी, साथी ने कहा—‘स्वागत कर रही है!’ ‘मुनू-मुनू’ सुनते ही निर्भीकतापूर्वक पास आकर पैरों से सट गयी और मैं उस पर हाथ फेरने लगा। कुछ ही देर बाद सफेद बड़े-बड़े बालों वाला एक कुत्ता भी आता दिखायी दिया। दोनों के जन्मजात विरोध-भाव की आशंका से मैं कुछ सटपटाया कि बिल्ली झपट कर उससे खेलने लगी तो चकित हो कर मैं प्राचीन आश्रमों का स्मरण करने लगा और वे दोनों अत्यंत स्नेह-भाव से खेलते-कूदते रहे।

एक परम शिष्ट बृद्धा ने आकर अभिवादन किया और चुपचाप अबोल लौट गयीं। कुछ ही क्षणों के पश्चात् शुभ्रवसना, प्रसन्नवदना देवी जी पधारें। ‘कहुँ निषंग कहुँ धनुतीरा’ की स्थिति में हम दोनों उठे और चरण स्पर्श किया। ‘कहिए-कहिए, ये सब क्या?’ कहते हुए वे एक कुर्सी में समासीन हो गयीं। श्री शान्तिप्रिय जी ने मेरा परिचय देते हुए कहा—“ये ‘चाँद’ के लेखक भी तो हैं, आदेश

नाम तो स्मरण होगा ?” उत्तरस्वरूप देवी जी ने हँसना शुरू किया तो बड़ी देर तक हँसती ही रहीं, जैसे हँसी का अवाध निर्झर फूट पड़ा हो। मैं हँसी का कारण खोजने में व्यस्त, स्वभावतः कुछ हतप्रभ और साथी एकदम मौन। हँसी रुकी तो लगा मानो एक संगीतलहरी सहसा थम गयी। सम्भवतः मेरे मुख पर उभरने वाली असमंजस की रेखाओं से अवगत होकर ही वे आश्वासन के स्वरों में मुखरित हुई—‘चाँद के न जाने कितने लेखक हैं, सबके नाम कहाँ तक स्मरण रहे,’ और फिर वही हँसी, हँसी, बस हँसी। फिर बोलीं—नाम स्मरण न होने पर भी बेचारा अपरिचित-सा तो नहीं लग रहा है। नाम-रूप का परिचय उतना महत्व भी नहीं रखता, क्योंकि सभी लेखक भावभूमि की दृष्टि से एक-दूसरे से चिरपरिचित रहते हैं। यद्यपि ‘बेचारा’ सम्बोधन मुझे अच्छा नहीं लगा था, किन्तु वाद के वाक्य ने मुझे प्रकृतिस्थ कर दिया था और मैं स्वर-ताल युक्त संगीत की तरह मधुर उस वाणी की मिठास और स्निग्धता पर विचार करने लगा, जो सबके प्रति समान स्नेह और सद्भाव के द्वारा मुखरित होती है। और मैं अपने बनाये चित्र से उनको मिलाने लगा।

व्यक्ति के साहित्य और उसके व्यक्तित्व तथा व्यवहार में कथनी, करनी, और रहनी में साम्य पा लेना सहज नहीं होता, पर देवी जी में इसकी सहज स्वाभाविक स्थिति जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। उन्हीं के शब्दों में—‘जहाँ व्यक्ति को देखकर लगता है मानों काव्य की व्यापकता ही सिमट कर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित होकर जान पड़ता है मानो व्यक्ति ही तरल होकर फैल गया है’, देवी जी से मिलने पर मुझे ऐसा ही अनुभव हुआ।

विल्ली कूद कर उनकी गोद में जा जमी। उसके कान सहलाते हुए उन्होंने वात्सल्य-तरल शब्दों में कहा—‘इसका नाम गोधूलि है, यह मेरी पोती है और वह’—कुत्ते की तरफ संकेत करते हुए—‘मेरा पोता है। दोनों ही बहुत अच्छे हैं, न कभी आपस में लड़ते हैं न किसी दूसरे को तंग करते हैं। साहचर्य-जनित स्नेह-सीहार्द की उपेक्षा मनुष्य तो कर सकता है, करता भी है, पर जानवर कभी नहीं करते। मनुष्य बुद्धिमान जो ठहरा। मनुष्य का बौद्धिक ऐश्वर्य और मानसिक वैभव उसके जीवन का वरदान है, परन्तु जब वह उसका उपयोग ममता तथा सहानुभूति की स्वाभाविक वृत्तियों के विरोध में करने लगता है, तब उसके लिये पशु से अधिक कठोर और कुत्सित हो जाना ही सहज हो जाता है। इनकी बुद्धिहीनता बहुत बड़ा वरदान भी है, क्यों रे गोधूलि?’ वे विचारमग्न-सी हो गयीं।

बृद्धा-भक्तिन ने चाय के साथ प्रवेश किया। मिठाइयों की बहुलता और विविधता देखकर मैं मन ही मन पुलकित हो उठा। चाय, मिठाई, मुक्ताहार, गहन-

गम्भीर प्रवचन और वात्सल्यमयी पावन दृष्टि की छाया से स्फूर्ति तथा निर्भयता पाकर मैंने विनम्रता के साथ प्रश्न किया—‘शान्तिप्रिय जी कह रहे थे, आजकल आप कहीं आतीं-जातीं नहीं, ऐसी क्या बात है? हमारे कालेज के अध्यापकों और छात्रों की बहुत बड़ी हार्दिक इच्छा है कि आप हमारी हिन्दी परिषद् में एक बार अवश्य पधारने की कृपा करें। परिषद् के एक अधिकारी के नाते मैं भी कृतार्थ हो जाऊँगा।’ ‘कृतार्थ!’ कहकर सुखद वायु के हलके झकोरे की तरह अपने हास के विस्तार के साथ उन्होंने दृढ़ता से कहा—‘नहीं, नहीं मैं कहीं न जाऊँगी। मैंने कुछ दिनों के लिए क्षेत्र-संन्यास ले लिया है। उस संकल्प को तोड़ना अच्छा नहीं।’ मैंने विस्मय-पूर्ण उत्सुकता से दुहराया—‘संन्यास!’ और जो उत्तर मिला वह अद्भुत था:

‘वचन से भगवान् बुद्ध के प्रति भक्तिमय अनुराग होने के कारण संसार को दुःखात्मक मानने वाले उनके दर्शन से असमय ही मेरा परिचय हो गया था। मेरे संस्कार और परिस्थितियों से इसका कुछ ऐसा मेल बैठा कि बी० ए० पास करने के बाद मैंने भिक्षुणी होने का निश्चय कर लिया। ग्रीष्मावकाश में सीलोन से नैनीताल आये हुए प्रख्यात महास्थविर से दीक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से मिली तो उन्होंने एक काष्ठ-पद आँखों के सामने रखकर मुझसे बातचीत की। यह सब मुझे अत्यन्त विचित्र तो लगी, किंचित आक्रोश भी जगा। जो गुरु शिष्य को सीधे देख सकने की भी शक्ति, क्षमता और आत्मविश्वास नहीं रखता, उसका शिष्यत्व स्वीकार करना हास्यास्पद ही नहीं, अपमानजनक भी है। मेरा मन सहसा विद्रोह कर उठा और मैं तुरन्त वहाँ से उठकर चली आयी।

उनका मुख तमतमा उठा और वे अत्यन्त गम्भीर होकर मौन हो गयीं। सहसा उनकी ये पंक्तियाँ मन में ध्वनित हो उठीं—

गिरा जब हो जाती है मौन, देख भावों का पारावार,
तोलते हैं जब बेसुध प्राण, शून्य से करुण कथा का भार,
मौन बन जाता आकर्षण, वही मिलता नीरव भाषण!

वास्तव में वह मुखाकृति अविस्मरणीय है। उनका मुखमंडल शान्त था पर भावशून्य नहीं, वरन् गहन चित्तन से उद्दीप्त और भावनापूर्ण विचारमग्न बैठी थी; किन्तु उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का उपालम्भ या तिरस्कार का भाव नहीं था। निश्चय ही वह दृष्टि असाधारण रूप से तटस्थ, शान्त एवं मननशील जान पड़ती थी। उस समय उनकी मुखाकृति की चित्रलिपि से न तो उदासीनता ही पढ़ी जाती थी न विरक्ति ही, पर उसमें संवेदना, सहानुभूति तथा करुणा के अंक भी नहीं उभर रहे थे। ये सब विशेषण उस लिपि की भावाभिव्यक्ति के लिए जैसे बहुत हलके पड़ते थे। केवल इतना ही कहा जा सकता था कि उस समय

उनके चेहरे से एक ऐसी आभा या ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी, जिसमें भगवान् बुद्ध के समस्त भाव अपने सच्चे अर्थों में प्रत्यक्ष हो रहे थे। इस प्रशान्त मुखमुद्रा का एक ऐसा अनोखा प्रभाव मुझ पर पड़ा कि मैं एक नितान्त अभिनव अनुभूति से अभिभूत हो उठा। महास्थविर के प्रति मेरी अंतस् की गहराई से उठने वाले क्षोभ, क्रोध और उपेक्षा के भावों का सघन अन्धकार इस ज्योति से धीरे-धीरे कटने लगा और मुझे अनायास ही यह बोध हो गया कि विनय, सहिष्णुता और सबके प्रति समान मैत्री-भावना ही वह आधार-भूमि है, जहाँ विरोध, वैषम्य तथा बाह्य विविधता का सामंजस्य और सम्यक् समाहार हो सकता है। उस निस्तब्ध वातावरण में उनकी ये पंक्तियाँ जैसे गूँज रही थीं—

जाग बेसुध जाग।

अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक-हार,
भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रतिद्वार,
शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप,
सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप;
करुणा के डुलारे जाग।

शंख में ले नाश मुरली में छिपा वरदान,
दृष्टि में जीवन अधर में सृष्टि ले छविमान,
आ रचा जिसने स्वरो में प्यार का संहार,
गूँजती प्रतिध्वनि उसी की फिर क्षितिज के पार,
वृन्दा विपिन वाले जाग !

रात के पथ हीन तम में मधुर जिसके इवास,
फैल भरते लघुकणों में भी असीम सुवास,
कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हँस उठ उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग।

अपने करुणा-प्रिय प्राण को सम्बोधित करते हुए महादेवी जी कह रही हैं—
'ऐ मेरे करुणा भरे प्राण। तू उस करुणार्द्र हृदय वाले त्यागपूर्ण भगवान् बुद्ध का अनुसरण कर, जिसने राजसी वैभव को छोड़कर स्वतः दुःख का वरण किया और प्रति व्यक्ति के दुःख को दूर करने के लिए संसार में भटकता-धूमता फिरा, जिसने शूल को अपने स्नेह-स्पर्श से फूल और संताप को चन्दन की तरह शीतल बना दिया, तू उसी के पद-चिह्नों पर चल, शंख में नाश और मुरली में वरदान छिपाये हुए जो अपनी दृष्टि से जीवन-दान तथा स्मित से सुन्दर सृष्टि की क्षमता से सम्पन्न था और

जिसने अपनी वंशी के स्वरों में प्रेम के संसार की रचना की थी, उस कृष्ण की प्रेम-रागिनी अब भी कहीं बहुत दूर सुनायी पड़ रही है। तू उसी रागिनी का अनुसरण कर ! पथहीन रात के घोर अंधकार में अपनी मधुर साँसों से छोटे-से-छोटे कण को भी सुरक्षित करने वाले, कांटों पर सोने वाले एवं आँसुओं—(ओसकणों) का हार पहनने वाले प्रातःकालीन गुलाब की तरह, मेरे प्राण तू भी खिल कर हँस ! रात (अज्ञानान्धकार) समाप्त हो चुका है, मेरे प्यारे प्राण, तू अब जाग !'

मौन में संपादित वातावरण को साथी ने स्वर दिया—'अरे ये साधु-संन्यासी बड़े ढोंगी होते हैं, बाह्य विधि-विधान के दिखावे के अतिरिक्त उनके भीतर कुछ नहीं होता। गोस्वामी जी ने इसीलिए इनका उपहास किया है। मुझे तो इनके प्रति कोई आस्था नहीं, सब व्यर्थ है।' महादेवी जी ने बहुत ही सहज भाव से कहा—'भाई इसे ढोंग तो क्या कहें, परन्तु यह ठीक है कि ये लोग साधना से अधिक साधना के मार्ग—माध्यम को महत्त्व देकर न तो संसार का ही कल्याण कर सकें और न अपना ही। साधना के मार्ग में बाह्य अनुशासनों और अन्तःस्फूर्ति दोनों की आवश्यकता रहती है, पर जब बाह्य अनुशासनों का घनीभूत रूप ही सिद्धि का सन्देशवाहक बनकर अन्तःस्फूर्ति के प्रसरणशील तरुण स्पन्दन को अपनी क्रिया-कुशलता की कठोरता से दवाने लगता है तब उसका राख के ढेर में आग की तरह दब जाना अनिवार्य है। तलवार से अधिक उसकी म्यान की चिंता रखने वाले की तलवार में जंग लग जाना स्वाभाविक ही है। धर्म तथा साधना के जीवन्त स्वरूप को कर्मकाण्ड के निर्जीव कंकाल में परिवर्तित कर देने का परिणाम ही तो हम लोग आज भोग रहे हैं। जो भी हो, उस साधु के प्रति मेरे मन में किसी प्रकार का क्षोभ नहीं है।' हम दोनों आश्चस्त हो गये और वे पुनः खिलखिलाकर हँसने लगीं।

मैंने मन ही मन भगवान् को धन्यवाद भी दिया, क्योंकि उन्हीं की कृपा से पंत जी गुसाईं होने से बच गये और महादेवी जी भिक्षुणी न हो पायीं, अन्यथा छायावाद की चतुर्दिक पुष्टि में बाधा भी पड़ सकती थी। उस समय मैं महादेवी जी के उस विद्रोह का समुचित विश्लेषण नहीं कर पाया था, पर उनकी कृति 'शृंखला की कड़ियाँ' पढ़ने के पश्चात् मैं यह भलीभाँति समझ गया कि 'मोतियों' के साथ, 'चिनगारियों का मेला' लगाने में वे कभी चूक ही नहीं सकतीं।

गोधूलि ने उछलकर सबका ध्यान आकर्षित किया कि शान्तिप्रिय जी उठ खड़े हुए। आते समय बाहरी वरामदे तक वे हमें छोड़ने आयीं और छोटे भाई शान्तिप्रिय का घरेलू नाम मुच्छन् वताते हुए उस दोहे का स्मरण करने लगीं, जो कभी शान्तिप्रिय जी ने सम्भवतः 'आज्ञ' में प्रकाशित कराया था—

श्री प्रकाश के मुँछ हैं मुछन मूँछ विहीन,

ताते उसके लेख हैं कौड़ी के दोस्तीन।

विनोदमग्न हँसती हुई वे दरामदे में तब तक खड़ी रहीं, जब तक हम लोग दृष्टिपथ से ओझल नहीं हो गये। उस दिन मैंने अपने को भीतर से कुछ अधिक विकसित और ऊर्ध्वोन्मुख पाया, तो यह स्वानाविक ही था। मुझे यह भी लगा कि महादेवी जी के समक्ष चाहे कोई व्यक्ति अपने साथ कितनी ही विन्ताएँ, विरोधी भावनाएँ और आतंकित करने वाली आपत्तियाँ लेकर आये, परन्तु वहाँ से वह शान्त, शान्तोद्दीप्त एवं समन्वयशील दृष्टि तथा सामञ्जस्यपूर्ण मनःस्थिति लेकर ही वापस जायेगा। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव ऐसा ही है। नन्दूष्य की जययात्रा में अङ्गि विश्वास रखने वाले व्यक्ति के पास से कोई भी धका-हारा होकर लौट ही कैसे सकता है? वास्तव में 'पारस की अमूल्यता दूसरों का मूल्य बढ़ाने में है। उसके मूल्य में न कोई कुछ जोड़ सकता है न घटा सकता है'।

यह मेरे छात्र-जीवन की घटना है। तब से निरन्तर उनके प्रति मेरी श्रद्धा और मेरे प्रति उनकी वात्सल्य-करुणा-कृपा उत्तरोत्तर वृद्धि ही पाती रही और आज तो मुझे उनके सान्नीप्य-सम्पर्क का वह दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त है, जो मेरे जीवन की महत्वपूर्ण पूँजी है। फिर भी विरोधानास्तों के पुंजीभूत समन्वित स्वरूप उनके गहन और समाहित व्यक्तित्व के विश्लेषण की क्षमता पर मुझे अब भी पूर्ण विश्वास नहीं है।

वास्तव में व्यक्तित्व, व्यक्ति की अन्तर चेतना की अदम्य प्रेरणा और बाह्य प्रभाव का समन्वित सुफल है। वस्तुतः व्यक्ति के विकास की सत्र से बड़ी विनियता यह होनी चाहिए कि उसके बौद्धिक उत्कर्ष, हृदय की भावात्मक स्फूर्ति और उसकी क्रिया में एक ऐसा सामंजस्यपूर्ण तारतम्य संगठित होता रहे कि जीवन के मूल राग को विरोधी स्वरों से बचाने के साथ-साथ व्यक्ति स्वयं भी इस प्रकार उल्लास चले कि जीवन की व्यापक कसाँटी में खरा सिढ़ हो कर सारवान हो उठे। महादेवी जी का व्यक्तित्व ऐसा ही सारगर्भित और सुगठित है। उनकी यह सान्धता—भावों में कोई सार्मिक परिष्कार लाना, शान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना अपवा कर्म में कोई नवीनतम देना, अपने-आप में बड़े का काम है अवश्य, परन्तु जीवन तो इन सब का सामंजस्यपूर्ण संशत है, किसी एक में सीमित और दूसरों से विच्छिन्न नहीं। बुद्धि, हृदय अपवा कर्म के अलग-अलग लक्ष्य संसार के दार्शनिक, कलाकार या सुधारक हो सकते हैं, परन्तु इन सबकी समग्रता नहीं। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्वर्ग कर सकता है उस व्यक्ति को युग-जीवन आती सम्पूर्णता के लिए स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है, उनके जीवन में चरितार्प है। उन्होंने

स्पष्ट स्वीकार भी किया है—‘साधारणतः मुझे भाव, विचार और कर्म का सौन्दर्य समान रूप से आकर्षित करता रहा है, इसी से किसी एक में जीवन की पूर्णता पा लेना मेरे लिए सहज नहीं। भाव और विचार जगत् की सब सीमाएँ न छू सकने पर भी मेरे कर्म-क्षेत्र की विविधता कम सारवती नहीं।’

समन्वय और सामंजस्य उनके व्यक्तित्व के मूलाधार हैं। अनेक प्रकार की आश्चर्यजनक विलक्षणताओं का सहज समन्वय, विविध विजातीय वर्गों से समान सम्वन्ध, विभिन्न वयस और विचार के व्यक्तियों से एकरस साम्य तथा सहानुभूति, परस्पर-विरोधी नाना प्रकार के कार्यों की अन्यन्य क्षमता और कुशलता आदि उनकी इस समन्वयशीलता के समर्थ साक्षी हैं। वस्तुतः जीवन की सम्पूर्णतम स्वीकृति ही उनका उदार-उदात्त उद्देश्य है, और जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि का सामंजस्यवादिनी होना भी अनिवार्य है। अपने काव्य में गम्भीर रहस्यदर्शी होकर भी जीवन में इतनी सहज-सरल तथा परनुभूतिशील, स्पष्ट और शिशुवत् कुतूहली होने का रहस्य भी उनका यही दृष्टिकोण है। महादेवी जी के आत्मीय बन्धु तथा सहयोगी पंत जी ने उनके काव्य, व्यक्ति-जीवन तथा सामाजिक जीवन और स्वभाव के संतुलन की चर्चा करते हुए लिखा है—‘उनका-सा विनोदी परिहासप्रिय छायावादियों में दूसरा नहीं मिलता, उनकी निश्छल, भावाकुल हँसी प्रसिद्ध है। किसी विनोदप्रिय अवसर या घटना के हलके से स्पर्श से ही उनकी हृत्तंत्री वज्र उठती है और वह हँसी से लोटपोट हो जाती हैं।’

महादेवी जी को वच्चों से बहुत प्यार है। दो-चार वच्चे हँसते-खेलते, लड़ते-झगड़ते देखकर वे रास्ते में भी कुछ देर के लिए अवश्य विलम जाती हैं। उनका कहना है कि वच्चों के प्रसन्न होने, रुठने और हँसने-रोने के कारण इतने सहज सरल और क्षणिक होते हैं कि उनका क्षण-क्षण का भाव-परिवर्तन देखना बहुत अच्छा लगता है। इनकी सतत परिवर्तनशील भाव-भंगिमा अनायास ही जीवन के गहनतम रहस्य का पता दे जाती है। अभी ‘कुट्टी अभी मिल्ली’ की निश्छल नाटकीयता से बड़ा और नाटक क्या होगा? इनकी चमकती जिज्ञासु छोटी गोल आँखें और इनके तोतले प्रश्नों की अवाध गतिशीलता अद्भुत होती है। इनकी लुका-छिपी का खेल—छिपने और प्रकट होने की क्रीड़ा— भगवान् की लीला का आनंद देने के साथ-साथ कलात्मक अभिव्यक्ति का भी संकेत कर जाती है।

वच्चों की दावत और उन्हें खिलाने का आनन्द लेना उनके स्वभाव का आवश्यक एवं अनिवार्य अंग है। अस्वस्थ होने पर वच्चों की भीड़ और उनका कलह-कोलाहल उनके लिए महौषधि का कार्य करता है। वे मानती हैं कि वच्चे फूल से भी अधिक सुन्दर होते हैं, क्योंकि वे बोलते हुए फूल हैं। भारतीय साधना-

मार्ग में परमहंसीय बालवृत्ति को जीवन की उच्चतम स्थिति माना गया है।
महादेवी जी ने भी लिखा है—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव-वीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षण भंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृंगार,
नयी आशाओं का उपवन मधुर वह था मेरा जीवन।

क्षीर निधि की थी सुप्त तरंग सरलता का न्यारा निर्झर,
हमारा वह सोने का स्वप्न प्रेम की चमकीली आकर,
शुभ्र जो था निर्मोघ गगन सुभग मेरा संगी जीवन।



अपनेपन की छाया तब देखी न मुकुर मानस ने,
उसमें प्रतिबिम्बित सबके सुख-दुख लगते थे अपने।
तब सीमाहीनों से था मेरी लघुता का परिचय,
होता रहता था प्रतिपल स्मित आँसू का विनिमय।

बच्चों के साथ उनके तादात्म्य का वह दृश्य बहुत ही मनोरम हो उठता है,
जब वे छोटे से खिलौने-विशेष के लिए उनके साथ छीना-झपटी के लिए भी प्रस्तुत
हो जाती हैं—चुन्नी का हाथी छीन लेना चाहती हैं, मुन्नी की गुड़िया छिपा देना
चाहती हैं, बच्चू का मोटर कार और रज्जू का हिरन झटक लेना चाहती हैं।
मनभाये खिलौने प्राप्त करने के लिये बच्चों को फुसला लेने में भी वे बहुत ही
सिद्धहस्त हैं। संयुक्त परिवार के बच्चे खिलौने के विषय में उनसे सदा सतर्क
रहते हैं। उनकी इस पंक्ति पर ध्यान दीजिए—

यह खिलौने और यह उर प्रिय नयी असमानता है।

बच्चों के साथ उनकी एक बात में और भी होड़ रहती है—‘क्षण में आँसू क्षण
में हास’। पलकों में आँसू और ओठों में हास, साथ ही सँजो रखने की क्षमता में वे अद्वि-
तीय हैं। महाप्राण निराला की मानसिक अवस्था से करुणाद्र्र होकर आँसुओं के साथ
विदा करते-करते भी वे राष्ट्रकवि गुप्त जी का स्वागत मुक्तहास से करती हुई देखी
गयी हैं। वस्तुतः वे क्षण को सनातनता की ही अभिव्यक्ति और उपलब्धि मानती हैं।
समय की सीमा का उनका निरूपण युग से चलकर पल पर ही विश्राम लेता है—

मधुर मधुर मेरे दीपक जल

युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल

प्रियतम का पथ आलोकित कर।

मिट मिट कर हर साँस लिख रही शत-शत मिलन-विरह लेखा,

निज को खोकर निमिष आँकते अन्तरेसे चरणों की रेखा,

पल भर का वह स्वप्न तुम्हारी युग-युग की पहचान बन गया।

पथ मेरा निर्वाण बन गया।

समय की शाश्वतता पर संचरण करने के लिए क्षण का महत्त्व स्वीकार करना अनिवार्य है।

साहित्यिकों से भरे कक्ष में भी यदि कहीं चूहा दिख जाय तो वे छोटे बच्चों की भाँति अस्थिर हो उठती हैं। चूहा ओझल हुआ नहीं कि उनका वस्तुव्य सुनि—‘चूहे से डरने की तो कोई बात नहीं, पर उसे देखते ही जाने कैसा लगने लगता है। वह इतना बुद्ध होता है कि बिल्ली को देखते ही आँख बंद कर लेता है। जीवन की ऐसी संघर्षहीन पराजय का प्रतीक अस्थिरता का नहीं तो क्या साहस और स्थिरता का संचार करेगा?’ बाल-स्वभाव के ऐसे अनेक उदाहरण उनके जीवन में सक्रिय देखे जाते हैं।

कृष्णाजनित कातरता के साथ उनकी अदम्य साहसी निर्भीकता भी कम प्रभावशाली नहीं। रान् '४२ में 'दीपशिखा' के प्रकाशन के साथ ही देशप्रेमी तथा-कथित विद्रोहियों की जो सहायता उन्होंने की वह बहुत ही रोमांचकारी है। अमुक विद्रोही को बाहर जाने के लिए पैसे चाहिए कि देवी जी का ड्रेसिंग-टेबिल विक गया। बोलें—‘हमें कौन साज-शृंगार करना है। बेकार ही जगह घेरे रहता है, इसे बेच दो।’ अमुक विद्रोही के पास के बुलेटिनों तथा अन्य कागजों को संरक्षण चाहिए और वह कागजों की पोटली उनके निवास में आ गयी। अमुक समाचार आज ही प्रयाग में उस व्यक्ति को मिल जाना चाहिए और वे स्वयं भक्तिन के साथ ताँगे पर चल पड़ें। अमुक लीथो मशीन पर आज पुलिस छापा मारेगी कि वह उनके कमरे में पहुँच गयी। अमुक विद्रोही आज दारागंज से गाड़ी पकड़ेंगे कि उनके लिए भोजन पहुँच गया, आदि-आदि। ऐसी ही एक घटना-विशेष से परिचित होकर श्री इलाचन्द्र जोशी ने उनसे कहा—‘आजकल सरकार का रुख बहुत कड़ा है। किंचित् मात्र सन्देह होने पर पुलिसवाले बहुत परेशान करते हैं। स्थिति महिलाओं के लिये और भी भयावह है, आपको बहुत सावधान रहना चाहिए।’ महादेवी जी की आँखें सहसा लाल हो गयीं और दृढ़ता के साथ उन्होंने कहा—‘यह सब तो मैं जानती हूँ। पर विश्वास और आशा से आये हुए देश-प्रेमी विद्रोही को सहानुभूति और संरक्षण देने से इनकार भी तो नहीं किया जा सकता? इस समय देश को बहुत बड़े बलिदान और त्याग की आवश्यकता है। तो क्या मैं इतना भी न करूँ? पुलिस वाले हमें जीवित तो पकड़ नहीं सकते, और यथाशक्ति काम तो करना ही है। राक्षसी परिपीड़न का भय हमको नहीं है, क्योंकि हम जौहरव्रत के सच्चे उत्तराधिकारी हैं, हमें जीवित

पकड़ लेने वाली पुलिस अभी पैदा नहीं हुई।' हम लोग अवाक् और स्तब्ध रह गये।

उनके जीवन और साहित्य दोनों में अदम्य साहस और अडिग आत्मविश्वास का स्तर निरन्तर गतिशील और मुखरित है—

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बनाना।

जाग तुझको दूर जाना।

अचल हिमगिरि हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,

या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले;

आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,

जागकर विद्युत् शिखाओं में निठुर तूफान बोले।

पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ आना।



पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।

अन्य होंगे चरण हारे,

और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;

दुखव्रती निर्माण उन्मद

यह अमरता नापते पद,

बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला।



घिरती रहे रात।

न पथ रूँधतीं ये गहनतम शिलाएँ,

न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशाएँ,

चली मुवत में ज्यों मलय की मधुर वात।

घिरती रहे रात !

सद्भाव और सहानुभूति के अचूक अस्त्रों में अजर दृढ़ता और अमर करुणा का पानी चढ़ाकर जीवन की विषम परिस्थितियों को स्वानुकूल बनाने में वे प्रायः सफल रहती हैं। जीवन-विकास की किसी भी स्थिति को उनका सहयोग सुलभ रहता है, पर साधनों की शुचित्ता पर वे अडिग हैं। सम्भवतः इसी कारण जीवन की व्यवस्था में बौद्धिक निरूपण और राजनीतिक दंड-विधान को पर्याप्त न मानकर वे हृदय के अन्तःस्फूर्ति परिष्कार पर अधिक बल देती हैं। साहित्यकारों, प्रकाशकों, परिवारों, अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की पंचायत में वे इसी आधार को लेकर पंच का काम भी करती रहती हैं।

परिग्रही जीवन को अस्वीकार करके उन्होंने अपना कोई परिवार नहीं बसाया, पर उनका जैसा विनाश परिवार-प्रापण नष्ट के लिए सम्भव नहीं है। गाय, मृगी, कुत्ते, बिल्ली, गिलहरी, गरमोंग, मोंग, कबूतर तो उनके चिरसंगी हैं ही, लता, फूल, पौधे, पेड़ सभी उनकी जीवन्त सक्रिय ममता के समान अधिकारी हैं। आग-नुक और यदि वह अतिथि हो तो उनके स्वागत की उनकी तन्मयता देखने लायक होती है। सांगंज यह कि उनका निवास संकर की बारात का जनबारा बना रहता है। सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उनका स्नेह और उनकी सहा-नुभूति सदैव सुलभ रहती है, पर उनके दुष्प्रयोग का अधिकार किसी को भी नहीं। बांछित भविष्य के विकास-सम्भव अंगुर की रक्षा के लिए वे प्राणों की बाजी भी लगा सकती हैं। परन्तु जीवन-उपवन के सौन्दर्य को नष्ट करने वाले बड़े-से-बड़े वृक्ष के प्रति भी ममताहीन हो जाना उनके लिए कुछ कठिन नहीं। निजत्व और परत्व की संकुचित सीमाओं ने वे बंधी नहीं हैं, फिर भी उनके जीवन और व्यवहार में निषेध और निष्पक्ष की वे श्रेणियाँ, जो लोकहित की भावना से निर्मित हैं, अडिग और अनल हैं। 'विश्वांगी बुद्धि और विवेकी हृदय अपने-आप में सब संकाओं का समाधान हैं। यही उनका आप्त वचन है। फलतः उनके साहस और उनकी निर्भीकता में कभी आँच नहीं आने पाती। बंगाल के अकाल के समय विदेशी शासन को और कुम्भ धुंधटना के लिए देगी-शरान को जो फटकार और चेतावनी इनके द्वारा दी गयी थी, वह इतिहास के पृष्ठों में सदा के लिए अंकित रहेगी।

जो अखंड आत्मभाव-समांत्वभाव उनकी सर्वसुलभ करुणा को निर्वाध सक्रियता देता है, वही उनके विद्रोह के साहस और शक्ति का भी सम्बल है। पुरुष के सस्ते मनोविनोद के लिए परित्यक्त और उसके अहं की पूर्ति के लिए उपेक्षित नारी-जाति के पीत क्लान्त मुख से भरे भारतीय समाज में काले हिन्दू-लॉ के समक्ष उन्होंने स्व-स्वीकृति के बिना हुए विवाह को, डंके की चोट के साथ परिवार, समाज तथा संसार के कटुतम व्यंग्य-प्रहार सहते हुए भी सबको चुनौती देकर ही अपने अपरिग्रही जीवन की नींव रखी है। जीवन भर उन्होंने जो उचित, न्यायपूर्ण और मनुष्यता के सम्मान के अनुकूल समझा, सो किया, हठ के साथ किया। संसार का कोई भी प्रलोभन या दंड-भय उन्हें उनके स्व-निश्चित पथ से विचलित करने में असमर्थ है। दुर्दमनीय स्थितियों के प्रति मन में विद्रोह की भावना प्रायः सभी के लिए स्वाभाविक है, पर उसे क्रियात्मक रूप देने की क्षमता, जिस अपराजेय आत्मत्याग की अपेक्षा रखती है, वह देवी जी की अपनी निजी विशेषता है। उनके विद्रोह की प्रखरता जीवन के प्रति अटूट आस्था की सजलता में उसी प्रकार अन्त-निहित रहती है, जिस प्रकार बादल में विद्युत्।

पुरुष-निरपेक्ष नारी के व्यक्तित्व की स्थापना और उसके स्वाधीन विकास की संवर्द्धना के लिए उन्होंने अपने जीवन और साहित्य में जो भगीरथ अनुष्ठान किया है, वह भारतीय इतिहास का नवीन स्वर्णिम पृष्ठ है। सिद्धार्थ का कल्याण, मैथिली की अग्नि-परीक्षा, मीरा और महादेवी का विद्रोह सत्य को सुन्दर और सुन्दर को शिव बनाने की वे ऊर्ध्वगामी सीढ़ियाँ हैं, जिनके द्वारा मनुष्य मात्र जीवन की उच्चतम भूमि पर चढ़ने में सफल मनोरथ हो सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इनके विद्रोह में किसी प्रकार का आक्रोश, अहंकार अथवा उद्दाम वेग न होकर एक साधनात्मक सहज संयम और विवेक है। आग की लपटों की उच्छ्वसित आकुलता नहीं, दीपक के लौ की सौम्य स्निग्धता है। चमत्कारी बुद्धि का उद्देश्य नहीं, भावावेश को स्पंदित कर देने वाली हार्दिकता है। संकोच तथा सन्देह एवं पराजय की आशंका नहीं, विजयी की वह विनम्रता और उदारता है, जिस पर आत्मविश्वास की साधना का पानी चढ़ा हुआ है और जो समात्मभाव के आभास से आलोकित है—

‘सब आँखों के आँसू उजले सबके सपनों में सत्य पला’, जैसी अभिव्यक्ति में उन्होंने ‘निर्वैरः सर्वभूतेषु’ की सर्वात्मकता को ही प्रत्यक्ष किया है।

अनंत विस्तृत स्नेह और अंगाध करुणा के अजर-अमर कूलों से व्यवस्थित उनका जीवन-प्रवाह सामूहिक जीवन के लिए सरसता, स्निग्धता और स्वच्छता का निरंतर संयोजन करता चलता है। इसीलिए उनका जीवन जितना ही बहु-धंधी है, उनका साहित्य उतना ही बहुरूपी। कर्ममय जीवन और भावनामय साहित्य-सृजन उनके व्यापक व्यक्तित्व के युग छोर हैं। जीवन-विकास की किस गति में उनका स्पंदन झंकृत नहीं? सामने आयी हुई किस रूक्षता को वे सरस नहीं कर देती? किस पापाणी कठोरता को वे अपनी सजल करुणा से कौपा नहीं देती? सत्य और लोकमंगल की रक्षा के लिए विद्रोह की किस ज्वाला को उन्होंने अपने त्याग-तपस्या की आँच नहीं दी? मेरे लिए यह बता सकना बहुत कठिन है।

उन्होंने देखा, भारतीय नारी बहुत पीड़ित है, क्योंकि वह अशिक्षित है, फलतः वे स्त्री-शिक्षा की ओर झुक पड़ीं। परिणामस्वरूप प्रयाग महिला विद्यापीठ सामने है। अपनी पुत्री को भरती कराने आये हुए एक केरली सज्जन ने पूछा—‘आपके कोई सन्तान भी है?’ देवी जी का उत्तर था—‘हाँ, हाँ मेरे सात-आठ सौ बच्चे हैं। ये सब विद्यार्थी मेरे बच्चे ही तो हैं।’ वास्तव में वे ऐसी ही बड़ी माँ हैं।

उन्होंने सोचा, राजनीतिकों की तरह हर नगर में ठहरने के लिए प्रासाद न हों, पर प्रयाग में तो साहित्यिकों का कोई घर ऐसा होना ही चाहिए जहाँ महाप्राण निराला जैसे नागरिक और बाहर से आने वाले साहित्यकार विश्राम के लिए

सुविधापूर्वक ठहर सकें। साहित्यकार संसद प्रयाग उनकी इसी भावना का भवन है। साहित्यकारों के परस्पर संपर्क और सहयोग के उद्देश्य से साहित्यकार संसद द्वारा आयोजित सन् '५० का अग्निल भारतीय साहित्यकार सम्मेलन राष्ट्र की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों के मिलने-जुलने की परम्परा का सूत्रपात करने में ही अगुआ नहीं, अपनी सफलता में भी अब तक अकेला है।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण बहुत कम साहित्यकार हिमालय-दर्शन कर पाते हैं, अतएव ताकुला-उत्तरायण, नैनीताल में देवी जी ने साहित्यकार संसद की ओर से साहित्य-शिविर का एक आयोजन किया, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त राष्ट्र की विभिन्न भाषाओं के साहित्यकार प्रायः एक माह साथ रहकर कविता, कहानी, नाटक और विचार-गोष्ठियों का आनंद लेते रहे। दक्षिण के महाकवि श्रीपाद कृष्णमूर्ति ने ठीक ही कहा था—'महादेवी जी यदि कहा जाय कि आप मूर्तिमान मनुष्यता हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं।' अपने नाम के शाब्दिक अर्थ को क्रियात्मक सार्थकता देने वाली महादेवी वास्तव में महादेवी ही हैं।

बादल और दीपक उनके सर्वाधिक प्रिय प्रतीक हैं। बादल के माध्यम से सर्वस्वत्याग और लोक-कल्याण की भावना तथा आत्म-विस्तार के भाव को अभिव्यक्त किया गया है—

शूल भरा जग, धूल भरा नभ,
झुलसी देख दिशाएँ निष्प्रभ,
सागर में क्या सो न सके यह,
करुणा के रखवाले ?

बादल कवयित्री की तरह इतने संवेदनशील हैं कि संसार के कष्ट को देखकर वे अपने निवास सागर में चैन के साथ विश्राम नहीं कर सके। ग्रीष्म की ज्वाला से धरती को तपते, आकाश को धूल से भरते एवं दिशाओं को झुलसते-जलते देखकर उनका करुणापूर्ण हृदय जैसे राहसा बिह्वल हो उठा और वे संसार को स्निग्ध तथा शीतल करने के लिए, करुणा की रक्षा के लिए सागर छोड़कर आकाश में छा गये हों—

प्यासे का जान ग्राम, झुलसे का पूछ नाम
धरती के चरणों पर, नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि-शरीर।

वस्तुतः स्वयं मिटकर जलती धरती को रससिक्त करना ही बादल के प्रतीक का प्रमुख अभिप्रेत है। सम्भवतः महादेवी जी ने इसीलिए यह कामना की है—
घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।

दीपक के द्वारा आत्मनिष्ठा, उपासना तथा समर्पण के भाव को संसृति किया गया है। साधनारत प्राण और आत्मा के प्रतीक रूप में भी दीपक प्रयुक्त हुआ है। लघुता की महत्ता का भी उससे प्रतिपादन होता है—

दीप मेरे जल अकस्मित,

धुल अचंचल।

पथ न भूले एक पग भी,

घर न खोये लघु विहग भी,

स्निग्ध लौ की तूलिका से,

आँक सब की छाँह उज्ज्वल।

दीपक से निष्कंप आलोक विकीर्ण करने का यह आग्रह इसलिए है कि इस आलोक के सहारे पक्षी अपने घोंसलों में और यात्री अपने गन्तव्य तक सुरक्षित रूप से पहुँच सकें, उन्हें किसी प्रकार का दिशा-भ्रम न हो, क्योंकि अपनी स्निग्ध ज्योति द्वारा दूसरों के मार्ग को प्रशस्त एवं प्रकाशित करना ही दीपक की सार्थकता है। इस प्रकार व्यक्तिगत साधना और लोकमंगल की भावना, दोनों का इसमें संकेत है। दीपक की स्निग्ध-मधुर लौ के माध्यम से महादेवी जी ने अपने भावालोक के उन्मेष की जो व्यञ्जना दीप-गीतों में की है, वह अत्यंत कलात्मक और उदात्त है।

जल, प्रकाश और वायु देवी जी के प्रिय तत्त्व हैं। सम्भवतः इसीलिए उनके व्यक्तित्व में सरलता, दिव्यता एवं निर्मलता का रासायनिक संश्लेषण भी पाया जाता है।

अस्तु 'रजकणों में खेलती विरज विधु की चाँदनी' महादेवी जी का व्यक्तित्व समात्मभाव की साधना से जितना सरल, मधुर, कर्ण तथा कोमल है, उनका कृतित्व उतना ही उदात्त, व्यापक, विराट एवं महान् है। अपनी 'चिर महान्' कविता में हिमालय को सम्बोधित करते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व की महार्थता को अनायास ही स्पष्ट कर दिया है—

हे चिर महान् !

यह स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल वरसा जाती रंगीन हास,

सेली वनता है इन्द्रधनुष परिमल मल मल जाता वतास;

तू राग हीन तू हिम निधान !

नभ में गवित झुकता न शीश पर अंक लिये है दीन क्षार,

मन गल जाता नत विश्व देख तन सह लेता है कुलिश भार;

कितने मृदु कितने कठिन प्राण !

टूटी है कव तेरी समाधि झंझा लौटे शत हार-हार,
वह चला दृगों से किन्तु नीर सुनकर जलते कण की पुकार,
सुख से विरक्त दुख में समान !

मेरे जीवन का आज मूक तेरी छाया से हो मिलाप,
तन तेरी साधकता छू ले मन ले करुणा की थाह नाप;
उर में पावस दृग में विहान !

हे चिर महान !

वास्तव में महादेवी जी से तुलना करने के लिए चिरमहान् हिमालय ही सबसे अधिक उपयुक्त है। उनके व्यक्तित्व का वही उन्नत दिव्य रूप, वही विराट विशाल प्रसार, वही अमल-धवल तथा अटल-अचल धीरता-गम्भीरता, वही परदुःखकातरता, करुण और स्नेह-सिक्त तरलता और सबसे बढ़कर वही सर्व-सुखद शुभ मूक हान—यही तो महादेवी हैं।



सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सृष्टि-विकास-क्रम में न जाने कितने युगों, कल्पों तथा अगणित प्रयोगों एवं अनवरत साधना के पश्चात् प्रकृति ने मानव-जीवन का वरदान पाया होगा, इसका निश्चय तो क्या अनुमान लगाना भी अत्यंत कठिन है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि वनस्पति, प्राणी तथा पशुओं का केवल प्रकृति की प्रक्रिया से प्रेरित और परिचालित प्रगति-क्रम मनुष्य तक पहुँचकर सहसा स्वचेतन क्रिया के रूप में बदल गया।

मनुष्य को ज्योंही यह बोध हुआ कि वह अपनी अनेक पूर्वस्थितियों का अपनी विकसनशील चेतना के बल पर अतिक्रमण करने के पश्चात् ही इस स्थिति तक पहुँचा है, त्योंही वह अपने विकास को अपनी बाह्य एवं आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार अपनी इच्छा और संकल्प से गतिशील करने के लिए लालायित हो उठा। केवल देह-धर्म को लेकर चलने वाली प्राणियों की स्थूल प्रवृत्ति को उसने अपने अन्तर्मन के सूक्ष्म धरातल की ओर उन्मुख कर दिया।

प्रकृति ने भी अपनी साधना की चरम उपलब्धि मानव को सुगठित उपयोगी अनन्य शरीर, रागमय प्राण, विधायक कल्पना और विवेकी बुद्धि का पाथेय दे कर उसे संसार में स्वनिर्मित पथ पर चलने के लिए मुक्त कर दिया और वह अपनी रुचि एवं प्रयोजन के अनुकूल अनुभव और बुद्धि से अपने परिवेश और जीवन को नियमित एवं नियंत्रित करता हुआ उत्साह के साथ आगे बढ़ने लगा। अपने इस अभियान में चेतना और वाणी की सम्यक् समृद्धि और जीवन की सुरक्षा का समुचित प्रबंध होने के पश्चात् ही उसने प्रकृति की पीठिका पर अपनी स्वार्जित संस्कृति का बीजारोपण किया होगा, यह सहज ही अनुमेय है।

महादेवी जी ने लिखा है—“परिष्कार-क्रम तो जीवन की शपथ है, अतः प्रत्येक भूखण्ड के निवासी मानवों ने ज्ञात-अज्ञात रूप से अपने विकास की ओर यात्रा प्रारम्भ की होगी, यह तो निश्चित है, परन्तु सब की यात्रा के परिणाम का एक बिन्दु पर मिलना संदिग्ध रहेगा। नदियों का उद्गम एक हो सकता है, उनकी गतिशीलता भी निश्चित हो सकती है, परन्तु गन्तव्य और दिशा, तटों से सीमित रहना अनिवार्य है। इसी कारण सभी खण्डों की मानव-जाति एक साथ बुद्धि और हृदय के संस्कार के एक ही स्तर पर नहीं पहुँच सकती। संस्कृति शब्द से हमें

जिसका घोघ होता है, वह वस्तुतः ऐसी जीवन-पद्धति है, जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव-निर्मित परिवेश सम्भव कर देती है और फिर दोनों परिवेशों की संगति में निरन्तर स्वयं आधिपत्य होती रहती है।”

मानव-समूह धूम्र से किसी धूम्र में अवतरित नहीं होगा, वरन् वह विशेष भूखण्ड के विशेष प्राकृतिक परिवेश में जन्म और विकास पाता है। पृथ्वी एक होने पर भी अनेक आकर्षण-विकर्षण से प्रभावित और विविध है, अतः तत्त्वतः एक होने पर भी मानव-जाति को अपने पृथक परिवेश के कारण भिन्न समस्याओं का सामना करना और भिन्न समाधानों को स्वीकार करना पड़ता है।

प्राकृतिक परिवेश के साथ जैवी प्रकृति की स्थिति धरती और वीज की स्थिति है, जो एक का दूसरे में रूप-परिवर्तन है और जिसमें आदि से अन्त तक वीज को अपने नित्य के पोषण-परिवर्द्धन के लिए ही नहीं, अपनी स्थिति के लिए भी धरती की आवश्यकता रहती है। यह नियम मानव-जीवन और उसके प्राकृतिक परिवेश के सम्बन्ध में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वह भूत प्रकृति में जैवी प्रकृति का श्रेष्ठतम रूप है।

संस्कृति मनुष्य के, बुद्धि और हृदय के जिस परिष्कार और जीवन में उसके व्यक्तीकरण का पर्याय है, उसका दाय विभिन्न भूखण्डों में बसे हुए मानव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु संस्कृति की साहित्य में प्राचीनतम अभिव्यक्ति वेद-साहित्य के अतिरिक्त अन्य नहीं है।

स्पष्ट है कि संस्कृति का आकलन और आयोजन चतुर्दिक फैली बाह्य प्रकृति और मनुष्य की अन्तः प्रकृति की क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सम्भव होता है और मानव की प्रकृति के प्रति संस्कारगत स्वाभाविक आत्मीयता उसकी स्वार्जित संस्कृति में संयमित मूल्यगत परिष्कार-प्रियता बन जाती है। भारतीय संस्कृति की विशेषता अस्तित्व-केन्द्रित न हो कर मूल्य-केन्द्रित होना है। स्वचेतन मनुष्य की सभी क्रियायें मूल्यानुप्राणित होती हैं। ये मूल्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो निमित्त मूल्य और दूसरे स्वलक्ष्य मूल्य। निमित्त मूल्य की वस्तु वह वस्तु होती है जो किसी अन्य उद्देश्य की साधन होती है। जब हम रोटी के मूल्य की चर्चा करते हैं तब यह मूल्य एक सापेक्ष मूल्य होता है, क्योंकि रोटी का मूल्य भूख मिटाने का साधन है। इसलिए यह एक निमित्त एवं गौण मूल्य है। स्वलक्ष्य मूल्य वह है, जो किसी अन्य उद्देश्य का निमित्त अथवा साधन न हो कर स्वयं आत्माश्रय होता है—उसका मूल्य वह स्वयं ही होता है। सामार्जन की अनन्त आकांक्षा, दार्शनिक चिंतन, अनुभवात्मक सृजन, शुभ-संकल्प, आत्मिक जीवन के विकास, विस्तार और संभावनाओं का आग्रह, गुणात्मक उत्थान, सांस्कृतिक क्रिया-कलाप आदि ऐसे ही स्व-

लक्ष्य-मूल्य हैं। संक्षेपतः इन्हें हम प्रयोजनीय और प्रयोजनातीत अथवा भौतिक और आध्यात्मिक मूल्य भी कह सकते हैं।

निमित्त मूल्य से मानवीय सम्यता का, जिससे उसकी भौतिक-प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, और स्वलक्ष्य-मूल्य से उसकी संस्कृति का और साहित्य का, जिससे उसकी आत्मिक-आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, विकास होता है। सम्यता का उत्थान परिवेश की चुनौती से प्रेरित होता है और संस्कृति एवं साहित्य का उत्थान आत्म-विस्तार की आन्तरिक प्रेरणा और संकल्प से गतिशील होता है। एक उसका निर्माण है तो दूसरा उसका संकलित सृजन। इन दोनों दिशाओं की प्रगति के लिए आधार-भूमि प्रकृति ही है, इसमें संदेह नहीं।

किसी मानव-समूह—राष्ट्र की संस्कृति से परिचित होने के लिए वहाँ के प्राकृतिक परिवेश की अवगति अनिवार्य है।

भारत एक बहुत विशाल और विस्तृत भूमि-भाग है। अनेक प्रकार की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य, उर्वर क्षेत्र, वृक्ष-वनस्पति, वन-उपवन तथा पशु-पक्षी इसमें पाये जाते हैं। इसमें रहने वाले लोग, उनका रहन-सहन और उनकी बोलियाँ भी प्रकृति की तरह विविध हैं, किन्तु इन समस्त बाह्य विभेदों के रहते हुए भी सम्पूर्ण देश एक व्यापक तथा गहरी एकता के सुदृढ़ सूत्र से बँधा हुआ है।

उत्तर में नगाधिराज हिमालय और दक्षिण में हिन्द महासागर होने के कारण प्रायः सारे देश में एक ही प्रकार की ऋतु-पद्धति का उन्मेष पाया जाता है। आदि काल से पर्वतों में हिमालय और सागरों में हिन्द महासागर का अपना एक अलग गौरव रहा है। संसार की संस्कृति-सम्यता के आदि स्रोत स्थानों के मध्य में स्थित होने के कारण यह सागर सब के पारस्परिक मिलन-पथों को संयुक्त एवं प्रशस्त करने में अपना विशेष महत्व रखता है। इस देश के लिए तो हिमालय और हिन्द महासागर जैसे अक्षय वरदान रहे हैं, वह सर्वविदित है।

ग्रीष्म काल में सागर से वाष्प के बादल उठते हैं और हिमालय की ओर यात्रा प्रारम्भ करते हैं। अपनी गगनचुम्बी ऊँची चोटियों से हिमालय उन्हें रोक लेता है और कहीं बाहर नहीं जाने देता। चोटियों से टकरा कर उन बादलों में से कुछ इस देश के भूमि-भाग को अपनी वर्षा से स्निग्ध और संसिक्त कर देते हैं और कुछ तुषार रूप में परिवर्तित हो कर हिमालय में ही जम जाते हैं, जो ग्रीष्म काल में गल-पिघल कर सरिताओं की सरस धारा के रूप में धरती की प्यास बुझाते हुए पुनः सागर में पहुँच जाते हैं। सागर और हिमालय की एक-दूसरे पर जल-सिंचन की निरन्तर एवं अबाध केलि-क्रीड़ा के फलस्वरूप सारे देश में मूसलाधार वर्षा

होती है और उसका अनुसरण करती हुई अन्य ऋतुओं का आगमन होता है। विशेषता यह है कि ऋतुओं की इस विशेष प्रक्रिया का उपहार निरन्तर रूप में सारे देश को प्राप्त होता रहता है। इस प्रकार इस देश के प्राकृतिक परिवेश से यहाँ के निवासियों को कितना अन्न, कितना मधु, रस तथा प्रकाश और आनन्द मिलता है, उसकी गणना सम्भव नहीं। प्राकृतिक उपादानों द्वारा समस्त जीव योनि तथा मानव को भरण-पोषण तो मिलता ही है, वह मानव के भावोदय में भी सहायक सिद्ध होती है। वस्तुतः प्रकृति एक ओर जीवन की स्थूल तथा अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ अपने सौन्दर्य, उल्लास और व्यापारों से मानव की अंतरंग अनुभूतियों को प्रेरित और प्रभावित करती हुई उसके और अपने रागात्मक सम्बन्धों का निर्वाह करती है, तो दूसरी ओर अपने नाना रूपों, गतियों, परिवर्तनों, नियमों तथा ध्वनियों और चमत्कृत कर देने वाले विस्फोटक नादों से मानव को अभिभूत कर के उसके ज्ञान और दर्शन का सूत्रपात करने वाले जिज्ञासा और कुतूहल का भी उन्मेष करती है।

कहना न होगा कि मनुष्य-जीवन स्थिति, विकास और सांस्कृतिक संयोजन के लिए उसके चतुर्दिक व्याप्त प्रकृति—उसके नीचे की धरती और उसके ऊपर के विस्तार आकाश से कितना अधिक सहयोग, सौहार्द एवं सम्बल मिलता है। प्रकृति की रमणीय मनोनुकूल स्थितियों के ही कारण भारतीय, जीवन और जगत की गहनतम समस्याओं और आध्यात्मिक तत्वों के विश्लेषण, विवेचन तथा अनुभव करने में आदि काल से ही सफल और सब से आगे रहे हैं। आर्यों ने अपने जीवन के विकास में इस भूमि-भाग के प्राकृतिक परिवेश से कितना सहयोग पाया था, इससे हम परिचित ही हैं। इसके हरे-भरे, पुष्पित-फलित वनों की स्निग्ध छाया और सरिताओं के उर्वर तटों पर ही उन्होंने अपने आश्रम बसाये और बहुत थोड़े श्रम से प्राप्त कंद-मूल-फलों के आहार बना कर सुखपूर्वक अपना जीवन-यापन करने लगे। प्रकृति के विस्तीर्ण जीवन से ही उन्हें अपने जीवन की सारी सुविधायें मिलीं और उसी के मुक्त सहयोग-सम्पर्क में उनका जीवन विकसित होता गया। प्रकृति के सजीव तथा नियमित विकास के निरन्तर सहयोग और साहचर्य ने उन्हें सहज ही यह अनुभव करा दिया कि इस विश्व में किसी का अस्तित्व अन्य सब से नितान्त पृथक् और विच्छिन्न नहीं है, क्योंकि उसके भीतर ही सभी का समावेश है।

उन्होंने देखा कि आकाश में बिखरे असंख्य तारों का समूह, जागरण का सन्देश देने वाली उषा, अनन्त आकाश में विचरण करने वाले सूर्य-चन्द्र, मेघ, विद्युत् तथा धरती में लहराती अगाध जलराशि, वर्षा, आँधी सभी परस्पर सम्बंधित और सापेक्ष हैं। दिन-रात और ऋतुओं के चक्र में उपस्थित होने वाले नियमित

और निश्चित परिवर्तन, पत्रों, पुष्पों एवं फलों के रूप में वनस्पतियों का व्यवस्थित क्रम-विकास देख कर उन्होंने यह अनुभव किया कि प्रकृति का सारा कार्य-व्यवहार एक निश्चित और नियमित रूप से गतिशील होता है और उसमें एक दृढ़ एवं अडिग व्रत पालन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। धरती और आकाश—निखिल प्रकृति के एक अटूट और अडिग सनातन सम्बन्ध ने—सृष्टि की अन्तर्निहित आन्तरिक एकता ने उन्हें यह बोध करा दिया कि सारे विश्व में एक निरन्तर व्यापक व्यवस्था की स्थिति वर्तमान है। उसमें कोई परिच्छिन्नता, कुप्रबंध तथा अव्यवस्था नहीं, वरन् एक सुदृढ़ और निश्चित व्यवस्था की स्थिति वर्तमान है, नियमबद्धता एवं क्रम-निर्वाह का अटल नियमन और संयमन है। प्रकृति की इस व्यापक व्यवस्था को उन्होंने 'ऋत' की संज्ञा दी थी।

कहा जाता है कि काल की जो प्रक्रिया बाह्य प्रकृति में दृश्यों की रूप-रचना करती है, वही मनुष्य की अन्तःप्रकृति में भावोदय की विधायिका है। यदि मनुष्य और प्रकृति एक-दूसरे से सर्वथा विजातीय तत्वों से निर्मित होते तो यह प्रक्रिया किसी प्रकार भी सम्भव न होती। वैदिक ऋषियों-कवियों ने अपनी अन्तर्चेतना के माध्यम से प्रकृति की निखरी विभूतियों में एक ऐसी एकसूत्रता खोज ली, जो उन्हें सब के साथ समता एवं आत्मीयता के बन्धन में बाँध कर उनके जीवन को व्यापक भूमिका में प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ उनके सर्वतोन्मुखी विकास का कारण भी बन गयी। जब उन्होंने यह जान लिया कि प्रकृति और मनुष्य किसी एक ही सर्वव्यापक सत्य के अंश या अंग हैं तब वे सभी वस्तुओं में आत्मतत्त्व और आत्मतत्त्व के माध्यम से सब के समत्व का प्रतिपादन करने में अग्रसर हुए। इस एकत्व, समत्व और ममत्व की भावानुभूति के कारण उन्हें सम्पूर्ण विश्व में एक ही आध्यात्मिक स्पन्दन का अनुभव होने लगा तो यह स्वाभाविक ही कहा जायगा।

केवल वैज्ञानिक तथ्यात्मक जिज्ञासा की शान्ति अथा मात्र पार्थिव प्रयोजन की पूर्ति के लिए वे कभी किसी वस्तु की ओर उन्मुख नहीं हुए, क्योंकि उनका उद्देश्य विश्व की विराट आत्मा के साथ आत्म-मिलन की स्थायी शान्ति और आनन्द का अनुभव करते हुए सब के साथ सह-अनुभूति की उपलब्धि करना था। वस्तुतः भारतीय वैदिक संस्कृति का सर्व प्रथम आग्रह और उपलब्धि यही है कि विश्व की प्रत्येक सत्ता के साथ मनुष्य का आत्मिक साहचर्य और समवाय है। उनकी दृष्टि में उदित होते हुए सूर्य का, प्रवाहित होते हुए जल का, पल्लवित-पुष्पित पृथ्वी का, नाना ज्योतियों से जगमगाते आकाश का तथा सब जगह संचरित वायु का स्वरूप उसी विराट का अभिन्न अंश है, जो इन सब का मूल कारण है। इस प्रकार प्रकृति-निरीक्षण और उसके साहचर्य से वैदिक ऋषियों में तत्त्वोद्रेक की वह दिव्य

दग्गा स्फुरित हो उठी थी, जो आत्मा की अखण्डता और अनंतता की मधुर अनुभूति से आलोकित और नंचानित रहती है और जिनके प्रकाश में बाह्य जगत् की समस्त सत्ताएँ सम्बद्ध और एक ही जगति से स्पन्दित जान पड़ती हैं—‘तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं, उसी के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। अस्तु, अपनी आत्मा से विश्वात्मा के सम्बंध का अनुभव और इस अनुभव के फलस्वरूप सर्वभूतों के साथ आत्मीय एकात्मता की प्राप्ति ही इस संस्कृति का चरम ध्येय रहा है।

प्रकृति के रूपों, गुणों और व्यापारों का निरन्तर साक्षात्कार करते-करते और उनमें निहित सौन्दर्य, आत्मत्याग और नियमन का अनुभव करते-करते वैदिक ऋषियों के भावाकुल हृदय में काव्यमयी छन्दोवद्ध दैवी वाणी ऋचाओं में मुखरित हो उठी और चित्तन में दार्शनिक जिज्ञासा स्फुरित हो उठी तो यह आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में वेद-साहित्य भारतीय काव्य, दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति के वट-वृक्ष को संवर्धन देने वाला अक्षय अमृत-रस है। सम्भवतः इसके ऋषियों-कवियों को इसीलिए ‘पथिकृत’ मार्ग बनाने वालों की संज्ञा दी गयी है।

‘वेदकाल का मानव भौतिक जीवन का भावुक कलाकार ही नहीं, आत्मा का अथक शिल्पी भी है। प्रकृति में उसका सौन्दर्य-दर्शन केवल कोमल मधुर तत्वों तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह उग्र और रुद्र रूपों में भी आकर्षण का अनुभव करता है। जिस तूलिका से वह अपने पार्थिव परिवेश को उज्ज्वल रेखाओं और इन्द्रधनुषी रंगों में चित्रमयता देता है, उसी से अपने अन्तर्जगत् में मंगल संकल्पनों को अजर मूर्तिमत्ता प्रदान करता है। उसकी जिस तुला पर ज्ञान की गरिमा तुलती है, उसी पर कर्म-पथ पर प्रत्येक पग का मूल्य निश्चित होता है। उपा की दीप्ति अंकित करने में जिस कुशलता का उपयोग हुआ है, वही नासदीय सूक्त में जिज्ञासाओं को सार्थक वाणी दे सकी है। जिस भक्तिजनित तन्मयता से वह ऋतु के रक्षक वरुण की वन्दना करता है, उसी के साथ इन्द्र के वज्र निर्घोष के आह्वान में प्रवृत्त होता है। अपने-आपको ‘पृथिवीपुत्र’ की संज्ञा दे कर वह धरती के वरदानों को जैसा आदर देता है, ‘आत्मा का विनाश नहीं होता’ स्वीकार कर वह अखण्ड चेतना के प्रति भी वैसा ही विश्वास प्रकट करता है। किसी अन्य युग के काव्य में जिन्हें स्थान मिलना कठिन है, उन विषयों को भी छन्दायित करने में ऋषि की प्रतिभा कुंठित नहीं हुई।”

प्रत्यक्ष है कि ऋषि कवि की दृष्टि समग्रवादी होने के कारण समन्वयशील है। वह अन्नमय कोश से ले कर आनन्दमय कोश तक की सम्पूर्ण स्थितियों को सहर्ष स्वीकार करता है। वह पृथ्वी के साथ आकाश एवं द्युलोक का स्मरण करना नहीं

भूलता। इस प्रकार खण्ड सत्य एवं सौन्दर्य को एक अखण्ड व्यापक पीठिका के संदर्भ में देखने वाला उसका संस्कार जितना गहरा है, उसकी चेतनात्मक प्रज्ञा उतनी ही ऊँची है। इसी कारण सृष्टि की असीम विधिता और बाह्य भिन्नता को पार कर वह सब में अनस्यूत एक तत्त्वगत एकता का सूत्र खोज लेता है। और स्वयं उसके देवताओं की अनेकता एक अखण्ड व्यापक चेतना-शक्ति में समाहित हो जाती है। अपनी उपलब्धि के उल्लास में वह मुखरित हो उठता है—‘एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति’—परमात्मा एक है, तो भी विद्वान लोग उसे अनेक नामों से पुकारते हैं अथवा ‘कवयो वचोभिरेकं सन्त बहुधा कल्पयन्ति’, कवि लोग एक परमात्मा की कल्पना अनेक प्रकार से करते हैं। स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृत की आध्यात्मिक परम्परा का वैदिक काल में ही प्रौढ़ और पर्याप्त विकास हो चुका था। उपनिषदों में इस सांस्कृतिक उपलब्धि की दार्शनिक व्याख्या के साथ उसकी अनुभूति का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

वैदिक भावना और विचार से रस ग्रहण करने वाली उपनिषद् का प्रारम्भ ही ‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्’ जगत् की प्रत्येक वस्तु में ईश का आवास है—से होता है। इस मान्यता के अनुसार सब में व्याप्त एक परम सत्य की सत्ता ही इस विश्व को सत्य बनाती है। इतना ही नहीं ऋषि यह भी जानता है कि जो तेजोमय अमृत-पुरुष विश्व-चेतना का स्रोत है, वही उसके अन्तःकरण में भी प्रतिष्ठित है और उसे इसके अनुभव तथा साक्षात्कार के लिए अपनी चेतना और विश्व-चेतना में समभाव की स्थापना अनिवार्य है, क्योंकि ‘आत्मवत् सर्वं भूतेषु’ की साधना से ही यह महत्व प्राप्ति सम्भव हो सकती है। उसका यह दृढ़ निश्चय और विश्वास है कि जो शक्ति विश्व के विराट रूपों में नाना भाँति से संचरित हो रही है, वही मनुष्य में आ कर उसकी चेतना का रूप धारण करती है। दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं वरन् अटूट समभाव है। ‘अहं ब्रह्माऽस्मि’, ‘तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ आदि घोषणाएँ इसकी साक्षी हैं। यह स्मरण रखना होगा कि विश्वात्मभाव की यह प्रतीति इंद्रिय-मन-बुद्धि से अतीत अनुमति की अनुभवगम्य प्रत्यक्ष की काव्यमयी अभिव्यक्ति है, क्योंकि इस परम बोध के लिए इंद्रिय-मन-बुद्धि का निषेध कर दिया गया है—‘नेषा तर्केण मतिरापनेया।’ इसलिए कवि ने पुकार-पुकार कर कहा है—‘शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः’, अमृतपुत्र, तुम जिस जगत् में रहते हो उसका यथार्थ रूप समझो—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।

अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

अमृत रूप ब्रह्म ही इस विश्व में प्रसरित है। वही आगे-पीछे, दायें-बायें,

बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे सर्वत्र व्याप्त है, इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष हो रहा है। वस्तुतः ज्ञाता-ज्ञेय, भोक्ता और भोग्य का विभेद व्यर्थ तथा भ्रामक है—हमारी अभावात्मक मनोवृत्ति का परिणाम है अन्यथा समात्मभाव की अनुभूति का उन्मेष होने पर मन, बुद्धि, हृदय सभी अभेदभाव एवं परस्पर प्रेम से भर जाते हैं और समस्त विश्व सच्चिदानन्दधाम के रूप में सौन्दर्य, माधुर्य का आधार बन कर आस्वाद्य हो जाता है—रसो वैसः ब्रह्म या आत्मास्वादन कर रहा है। वस्तुतः जीवन-जगत की प्रत्येक स्थिति में रस का प्रवाह है, आनन्द की क्रीड़ा है, क्योंकि आनन्द ब्रह्म, विज्ञान ब्रह्म, मनो ब्रह्म, प्राणो ब्रह्म और 'अन्नं ब्रह्म' का आशय यही है कि समस्त विश्व ही प्रेम और आनन्द के सहित आस्वाद्य तथा रसमय है। इसलिए सब के प्रति समभाव—आत्मभाव रखना और सब में अपने ही स्वरूप का समान अनुभव करना भारतीय आध्यात्मिकसंस्कृति की मूल चेतना है।

रहस्यभूत आत्मतत्त्व का बोध कराने वाली इसी विद्या के कारण उपनिषद् का प्रयोग रहस्य के अर्थ में भी किया जाता रहा है। यह आत्मतत्त्व अन्य सभी रहस्यों से अधिक रहस्यभूत है, क्योंकि यह हमारे भीतर ही अत्यन्त निकट है, परन्तु मनुष्य इसे पहचान नहीं पाता। इस आत्मतत्त्व रूपी रहस्य का अनुभव हो जाने पर संसार में दूसरी कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रह जाती—'एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', यही इसका परम रहस्य है। बहुत सम्भव है कि आधुनिक युग में अध्यात्मकाव्य का नाम इसीलिए रहस्यकाव्य पड़ गया हो। जो भी हो, इतना तो निश्चित है कि आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मविहार की यह क्षमता चिन्तन-मनन के पश्चात् निदिध्यासन द्वारा खण्डानुभव में ही सम्भव मानी गई है। अद्वैतवादी महान् दार्शनिक शंकराचार्य ने भी चिन्तन-मनन की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी अंत में अनुभव में ही सब का पर्यवसान माना है—'अनुभाववसानत्वात्सर्वसाधनानाम्' में इसी का उद्घोष है।

आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मानुभव में व्यक्तित्व के विलय की अपेक्षा व्यक्ति अपनी सत्ता को अधिक सम्पन्न एवं सार्थक अनुभव करता है, यही स्वाभाविक भी है। इस अनुभवात्मक अवस्था को जीवन्मुक्ति का नाम दिया गया है। गीता में इस स्थिति को प्राप्त करने वाले व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ कहा गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति संसार की सापेक्षताओं से ऊपर उठ कर अपने-आपमें पूर्णत्व का अनुभव करने लगता है। जीवन में ही उपलब्ध होने के कारण यह पूर्णत्व एक अनुभवात्मक, व्यावहारिक तथा वास्तविक अवस्था है, धारणा या सिद्धान्त मात्र नहीं। इस स्थिति में संसार की सापेक्षताओं से ऊपर उठ कर अपने-आपमें पूर्णत्व का

अनुभव करने लगता है। जीवन में ही उपलब्ध होने के कारण यह पूर्णत्व एक अनुभवात्मक, व्यावहारिक तथा वास्तविक अवस्था है, धारणा या सिद्धान्त मात्र नहीं। इस स्थिति में व्यक्तित्व का विलय नहीं, अपितु सब के प्रति सहज उदारता, समदृष्टि, सर्वकल्याण की भावना और समात्मानुभूति की महार्घता से संयुक्त हो कर व्यक्ति स्वयं अधिक विकसित, प्रशस्त और व्यापक बन जाता है। इस भावभूमि में पहुँच कर मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ, वर्ग-भावना, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिधि के परे सब के साथ समभावापन्न विश्व मानव की बृहत् भूमिका में प्रतिष्ठित हो कर समस्त मानवता और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से आत्मीय भाव स्थापित करते हुए—‘सर्वभूत हि ते रताः’ की उच्चतम दशा में सम्बद्ध हो जाता है। सारांशतः सत्ता की उच्चतम अवस्था में सम्बर्द्धन अपनी आत्मा के भीतर सम्पूर्ण सत्ताओं का अनुभव करना और सब के साथ एकात्मभूत हो जाना ही इस आध्यात्मिक स्वभाव की प्रतिष्ठा-भूमि है। यह अनुभव जीव को अहंभावजनित अहंकार और अज्ञान तथा कर्मफल से ऊपर उठा देता है और वह आत्मस्थित शान्ति का अधिकारी बन जाता है।

अध्यात्म के इस भावोत्कर्ष को पारलौकिक तथा इसकी अनुभूतियों को असामान्य कह कर अप्रमाणित नहीं किया जा सकता, अन्यथा आज की सारी महत्वपूर्ण वैज्ञानिक उपलब्धियाँ अप्रमाणित सिद्ध हो जाएँगी। वास्तव में अध्यात्म प्रवृत्ति और ज्ञान, भाव और क्रिया-विचार और संकल्प का वह मंगलमय समन्वय है, जो लोक-कल्याण का दृढ़ आधार है। मनुष्य का जीवन ज्ञान, भाव एवं क्रिया का सामंजस्य है और उसके सर्वांगीण विकास के लिए सत्य, सुन्दर और शिव तीनों का समान महत्व है, क्योंकि उसका ज्ञान सत्य को, भाव सुन्दर को और कर्म शिव को आधार मान कर ही सफल और सार्थक हो सकता है। इसी कारण अध्यात्म-वादियों के निष्काम कर्मयोग का अर्थ अकर्मण्यता कदापि नहीं, स्वार्थ की भावना त्याग कर निरन्तर कर्तव्य का पालन करना है। स्थितिप्रज्ञ व्यक्ति आध्यात्मिक अनुशासन के अनुसार संसार में रहते हुए, निष्काम कर्म करते हुए आत्मोत्थान और लोककल्याण में साथ ही संलग्न रहता है। उसका जीवन द्वन्द्वातीत होने के कारण आनन्दमय होता है और वह अन्य समस्त प्राणियों को आनन्द मार्ग पर अग्रसर करने की सतत् चेष्टा करता रहता है। वह अपने अस्तित्व को दूसरे सभी अस्तित्वों के साथ एक मानता है। इस स्थिति में भावावेगमय अथवा बौद्धिक स्तर की कोई कामना उसके कर्मों का उद्देश्य नहीं हो सकती, तब तो उसके कर्मों का एकमात्र हेतु लोक-संग्रह ही हो सकता है—‘चिकीपुल्लोकसंग्रहम्’। आशय यह कि मनुष्य निःसंगता तथा अनासक्ति के अनुशासन से आन्तरिक जीवन के गम्भीर, गूढ़ और

उच्च स्तरों में प्रवेश करने के पश्चात् भी सब के प्रति महामैत्री और महा करुणा के भाव से मुक्त नहीं हो सकता।

मनुष्य चेतना की जिस अभिवृद्धि के कारण अन्य प्राणियों के समान केवल प्राकृतिक जीवन से संतुष्ट नहीं हो पाता, वह प्राकृतिक नियमों की ज्ञाता होने के कारण उनका अतिक्रमण कर अपने आन्तरिक प्रकाश और मौलिक भाव-विस्तार तथा प्रज्ञात्मक चिंतन के माध्यम से प्रकृति के परिष्कार—संस्कृति की सर्जनात्मक सीढ़ियों पर आरोहण करती हुई सर्वात्मचेतन और समात्मभाव की आध्यात्मिक भूमिका पर ही अपनी पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि संवेदना चेतना की प्राकृतिक प्रारंभिक, विचार दर्शन माध्यमिक, एवं अध्यात्म उसकी परिणति अथवा अंतिम स्थिति है। प्रकृति से संस्कृति की ओर का गुणात्मक विकास ही मनुष्य को पशु प्राणी से एक नितान्त भिन्न स्थिति दे कर उसे जीवन की सार्थकता की अनन्त सम्भावनाओं एवं क्षमताओं के प्रति जागरूक और उन्मुख करते हुए स्थूल प्रयोजनातीत स्वलक्ष्य मूल्यों के आकलन और अनुभव का उत्साह और आकर्षण देता रहता है। मनुष्य का यह सांस्कृतिक अभियान उसकी चेतना की ऊर्ध्वगामी वृत्ति का प्रमाण होने के साथ ही विभिन्न चेतनाओं के परस्पर साम्य का आधार—आत्मतत्त्व को जीवन के सर्वाधिक मूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित करने में भी सफल होता है। भगवान् कृष्ण ने भूतानामस्मि चेतना कह कर सर्व सर्वत्र सर्वदा के अनुसार चैतन्य की सब कालों में अव्याहत सत्ता की स्थिति का संकेत करने के साथ स्थूल भेदों के भीतर सब में व्याप्त चेतना के एकत्व तथा साम्य का भी उद्घाटन किया है।

इस चेतना से अनुप्राणित होने के कारण ही मनुष्य का जीवन प्रयोजनातीत, असीमित आत्मिक परिधि की ओर निरन्तर विस्तारित होता रहता है और वह आत्मचेतन से सर्वात्मचेतन तथा सर्वात्मचेतन से परमात्मचेतन तक आरोहण कर जाता है और अपनी इस उपलब्धि को संस्कृति एवं साहित्य में प्रतिफलित करने के लिए भावात्मक रूप दे कर आत्मभाव, सर्वात्मभाव तथा समात्मभाव के उत्तरोत्तर उच्च सोपानों पर चढ़ता हुआ परमात्मभाव की उच्चतम भूमि में प्रतिष्ठित करता है।

प्राकृतिक प्रक्रियाओं के सर्वथा बहिर्भूत निर्माण और सृजन मनुष्य के जीवन की सब से बड़ी विशेषता है, जो उसकी चेतना की प्रकृति-निरपेक्ष उच्च स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सच तो यह है कि मनुष्य का संकल्पात्मक सृजन उस आध्यात्मिक विकास-प्रक्रिया का ही अंश है, जो जड़ जगत में सुप्तावस्था में है, वनस्पति जगत में अर्द्ध चेतन स्थिति में है, प्राणियों में चेतन और मनुष्य में आत्मचेतन हो कर अभिव्यक्त हो रही है। जगत्-जीवन की विकास-प्रक्रिया को देखने और समझने से भी यह अनुमान

लगाना सहज है कि जड़ से चेतन, चेतन से आत्मचेतन; आत्मचेतन से सर्वात्मचेतन एवं सर्वात्मचेतन से परमचेतन, परमात्मचेतन सत्ता तक पहुँचना ही इसका उद्देश्य है। तात्पर्य यह है कि जो कालातीत सृजनशील आध्यात्मिक सम्पूर्ण गति, ज्ञान-विज्ञान समय और देश के अन्तर्गत अनन्त विभिन्न स्तरों एवं स्थितियों से गुजरता हुआ क्रमशः विकसित और प्रत्यक्ष हो रहा है, मनुष्य की सृजनशक्ति उसी का अंश है। स्वभावतः वह आध्यात्मिक है। पूर्णता की उसकी यह घोषणा इसका अकाट्य प्रमाण है—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

विश्वव्यापी सत्ता पूर्ण है। यह व्याप्त आत्मा भी पूर्ण है, क्योंकि वह पूर्ण से उत्पन्न है। उस पूर्ण अंश व्यक्ति-आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने से उस विश्वव्यापी पूर्ण का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। 'आत्मानं विद' ज्ञान का महामंत्र इसीलिए माना गया है। यह स्मरण रखना होगा कि यहाँ ज्ञान का अर्थ अनुभूति या साक्षात्कार ही है। अन्यत्र इसे स्पष्ट भी किया गया है—'ब्रह्मविदं ब्रह्मैव भवति।' अध्यात्म के अनुसार इस निखिल ब्रह्माण्ड में ही व्याप्त है। संसार की सभी वस्तुएँ—जड़ चेतन अथवा आत्मचेतन सृष्टि ब्रह्म के संकल्प से ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई हैं, ब्रह्म ही के द्वारा विकसित होती हैं और पुनः ब्रह्म में ही अन्तर्लीन हो जाती हैं। प्राणियों में केवल मनुष्य ही स्वचेतन और स्वानुभूति का अधिकारी एवं संकल्प में स्वतंत्र होने के कारण इस शाश्वत सत् चित् आनन्द की सत्ता का अनुभव कर सकता है। स्वयं उसके भीतर यह पूर्णत्व आत्मरूप में परिव्याप्त है। इसीलिए कहा भी गया है—'नहि मानुषात् श्रेष्ठतरः हि किञ्चित्'।

आत्मचेतन जिज्ञासाओं के स्फुरण में मनुष्य अनुभव करता है कि वह केवल व्यक्तिगत प्राणी ही नहीं, विश्वगत समस्त प्राणियों का एकात्म भी है और इस तरह अपनी इकाई में भी वह विश्वगत सत्ता का प्रतिनिधि है। इस आध्यात्मिक उन्मेष में वह अपने व्यक्तित्व को प्रकृति तथा स्वभाव, प्राण और आत्मा, व्यष्टि और समष्टि के सामंजस्य का एक ऐसा आधार अनुभव करने लगता है, जो पृथ्वी का पुत्र और स्वर्ग का उत्तराधिकारी है। स्वभावतः आत्मप्रकाश करने की प्रत्याशा और प्रयास में वह किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करना चाहता। जीवन के समग्र और सम्पूर्ण रूप में देखने और ग्रहण करने की यह अदम्य आन्तरिक स्फूर्ति मानवीय व्यक्तित्व में आत्मप्रतिष्ठा का ही प्रमाण है। मनुष्य के भाव, ज्ञान, क्रिया, संकल्प और सृजन सभी उसके इस आध्यात्मिक बोध के द्वारा अनंत आनन्द, अनंत ज्ञान तथा अनंत शक्ति में परिवर्तित हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।

सब भूतों में व्याप्त एक अन्तर्यामी तत्व की अवगति और अनुभव से मनुष्य के भीतर समस्त विश्व के प्रति अनंत मैत्री एवं साम्य-भावना उज्जीवित हो उठती है और वह उसके साथ सद्भावपूर्ण संतुलित स्थिति प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो उठता है। सब के प्रति अद्रोह, आत्मीयता और सम्प्रीति का यही भाव उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा का चरम साफल्य है।

इस आत्मचेतना का कोई आरम्भ नहीं, यह अनादि अनन्त है, क्योंकि किसी ऐसे समय की ओर संकेत नहीं किया जा सकता जब कि इसका अस्तित्व नहीं था। मनुष्य के भस्तिष्क तथा स्नायुओं की सब प्रक्रियाएँ—जीवन की सब क्रियाएँ तथा संवेदनाएँ और उसके इतिहास में पाए जाने वाले तथ्यों की समस्त शृंखलाएँ आदि सभी विश्वव्यापी आत्मचेतना से उद्भूत हैं। विश्व का निखिल विकास शाश्वत एवं विश्वव्यापी आत्मचेतना की अभिव्यक्ति है। विकास-क्रम की सर्वोत्तम उपलब्धि होने के कारण निश्चय ही यह आत्मचेतना मनुष्य में सर्वाधिक प्रस्फुटित रूप में वर्तमान है। इसलिए उसकी सभी क्रियाएँ अन्य प्राणियों की क्रियाओं की अपेक्षा उत्कृष्ट और प्रामाणिक होती हैं। उसका ज्ञान भी केवल संवेदात्मक ज्ञान न होकर संवेदनाओं द्वारा प्राप्त एवं व्यवस्थित प्रक्रिया का रूप धारण कर लेता है, जो आत्मचेतना के बिना सम्भव नहीं। जिस प्रकार ज्ञान का अनुभव ज्ञाता के बिना नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीवन संबंधी आवश्यकताएँ तथा मूल प्रवृत्तियाँ मात्र, मानवीय कर्म नहीं हो सकतीं, आत्मचेतना के कारण उसके ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा भावात्मक व्यवहार को एक विशेष महिमा से मंडित कर देती है। उसकी मूल प्रवृत्तियाँ केवल मूल प्रवृत्तियाँ ही नहीं रह जातीं, वे ज्ञान, संयम, संकल्प से उद्देश्यात्मक एवं मूल्यगत आकांक्षाएँ बन कर उदात्त स्थिति में आरुढ़ हो जाती हैं। प्रबुद्ध आत्मिक प्राणी होने के कारण उसके स्वभाव में इन विशेषताओं का संचयन हुआ है।

मनुष्य अपने इस आत्मचेतन सात्विक स्वभाव को अपनी संस्कृति और अपने साहित्य में प्रतिष्ठित करता है। 'तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्' आत्मनिष्ठ बुद्धि अर्थात् सब भूतों में एक ही आत्मा की स्थिति के ज्ञान और अनुभव से जो सुख प्राप्त होता है, वही सात्विक है। इसी सात्विकता के आग्रह, अनुशासन और व्यवहार से उसकी आध्यात्मिकता का बोध होता है—'ऊर्ध्व गच्छन्ति सत्वस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' सत्व ऊर्ध्वगति देता है और तामस नीचे की ओर खींचता है। लघिमा गुरुत्व (Lavity-Gravity) का वैज्ञानिक सिद्धान्त भी बहुत अंशों में इसका समर्थन करता है। परमाणु (Atom) का स्वरूप लघिमा (Lavity) विद्युत और गुरुत्व (Gravity) चुम्बक से निर्मित है—दोनों

का अद्भुत सम्मिलन है। भौतिक जड़ जगत का छोटे से छोटा अंश भी सात्विक तामस गुणों से समन्वित है। उसकी यह ध्रुवीयता क्या उसके प्राकृतिक-आत्मिक स्वरूप का प्रमाण नहीं है? जो भी हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि मनुष्य का शरीर इन्द्रियों तथा प्राण-चेतना से अनुप्राणित है, किन्तु उसकी इन्द्रियाँ प्राण-चेतना से ही परिचालित होती हैं। इन्द्रियों में मन और बुद्धि को सब में श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु वे भी देह या प्रकृति के ही विकास मात्र हैं। मन और बुद्धि के पृथक कार्यों को व्यवस्थित एवं संग्रथित करने का कार्य आत्मा ही करती है। कठोपनिषद् में बताया गया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

विषय, इन्द्रियाँ, मन बुद्धि एक-दूसरे से परे तथा श्रेष्ठ हैं, किन्तु बुद्धि से भी परे इन सब का अधिपति आत्मा श्रेष्ठ है।

इतना ही नहीं, यह भी कहा गया है कि मनुष्य के अन्तःकरण के मध्य में जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही छाया और धूप की भाँति स्थित हैं और मनुष्य अपनी साधना से इनका अनुभव और साक्षात्कार कर सकता है। यद्यपि इस बोध-पथ की दुर्गमता का कवियों ने उल्लेख किया है—‘दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति’, फिर भी उनके अनुभवों के सहारे इसे पार किया जा सकता है। भारतीय साहित्य में कवि को द्रष्टा तथा आत्मसाक्षात् करने वाले का गौरव दिया गया है। ‘कविर्मनीषीः परिभूः स्वयम्भूः’ तथा ‘ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः’ आदि में कवि को ऋषि की समकक्षता दे कर उसे क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा एवं सर्वज्ञ के रूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है। सब से बड़ी बात यह है कि आत्मबोध की स्थिति में बाह्य प्रकृति और अन्तःकरण की संवेदनात्मक, प्राणात्मक एवं भावमय, मनोमय तथा बौद्धिक एवं आत्मिक वृत्तियों का ऐसा समाहार हो जाता है कि व्यक्ति अभेद और अद्वैत की भूमिका में संचरण करने लगता है, जहाँ उसके अन्तःकरण का साक्ष्य ही सब से बड़ा प्रमाण सिद्ध होता है—‘सतां हि सन्देहपदेपु वस्तुप प्रमाणमन्तःकरणः प्रवृत्तयः’।

कहने का आशय यह कि आत्मिक सांस्कृतिक अनुभवों, क्रियाओं और मूल्यों की व्याख्या और जीवन के परम मूल्य अध्यात्म का विश्लेषण-अन्वेषण करने वाले चिन्तनात्मक दर्शन तथा उसे भावात्मक दृष्टिकोण से प्रतिफलित करने वाले सर्जनात्मक काव्य में हमारे यहाँ कभी कोई विरोध नहीं रहा, क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक ही है। आत्मवत् सर्वभूतेषु के सर्वात्मवाद में प्रतिष्ठित होता है, और अनुभूति अथवा आत्मसाक्षात्कार को ही दोनों में प्रधानता दी गई है। वस्तुतः अध्यात्म-काव्य और अध्यात्म-दर्शन में व्यक्ति के प्राकृतिक व्यवित्तत्व की पृथकता

का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि व्यक्तिमत्ता आस्तिक चेतना का रूप न हो कर ऐन्द्रिक संवेदना का ही लक्षण और प्रतीक है। आस्तिक समभाव प्रकृति और संवेदना का अतिनमन करता हुआ प्रकृति, व्यक्ति और आत्मा, तीनों का अपने में समाहार कर लेता है—‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितानं च गन्ता सर्वप्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मेतेत्’, भोक्ता (जीवात्मा--भोग्य प्रकृति, पदार्थ) और प्रेरक आत्मा ये तीनों ब्रह्म के ही रूप हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय काव्य की सर्जनात्मक सरसता और चितनात्मक दर्शन की गम्भीरता, दोनों में ही वैदिक ऋषियों-कवियों ने आध्यात्मिक भावानुभूति और तत्त्वमीमांसा दोनों के अनुसार विश्व का अनेकत्व केवल भौतिक व्यक्त सत्ता तक ही सीमित है, लक्ष्य रूप में विश्व की आधारभूत सत्ता निश्चय ही एक एवं अद्वैत है। आधुनिक विज्ञान भी इस अद्वैतवादी सिद्धान्त का समर्थन करता है।

सब से महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय अध्यात्म-दर्शन ब्रह्म को भौतिक जगत् का अव्यक्त कारण मान कर तथा विश्व को उसकी भौतिक अभिव्यक्ति मान कर तत्वात्मक द्वैतवाद का अन्त कर देता है। जब ब्रह्म विश्व की आधारभूत सत्ता है और विश्व उसकी भौतिक अभिव्यक्ति है, तब वह ब्रह्म स्थूल एवं सीमित न हो कर अव्यक्त, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, शक्तिमान, सत्चित आनन्दस्वरूप ही हो सकता है, क्योंकि ऐसी ही सत्ता तथ्य और मूल्य विज्ञान और धर्म तथा भौतिक जगत् और आत्मा के समन्वय का स्रोत तथा आधार बन सकती है। इसीलिए भारत में व्यक्ति और समाज में, आत्मा और ब्रह्म में, भौतिकता और अध्यात्म में द्वैत को केवल अज्ञानजनित अस्थायी द्वैत माना गया है और इनके एकत्व एवं अद्वैत को ही वास्तविक माना गया है। जब तक तत्वात्मक दृष्टि से सत् मान को अद्वैत न मान लिया जाए तब तक व्यक्ति व्यावहारिक तर्क के ऊपर नहीं उठ सकता और तत्वात्मक यथार्थ-ज्ञान के अभाव में व्यावहारिक तर्क के द्वैत की भ्रांति यथार्थ ही प्रतीत होती रहेगी। इस भ्रांति को दूर करने के लिए समात्म-भाव का आकलन अनिवार्य है—‘सर्वयद्यमात्मा, अयमात्मा ब्रह्म’ आदि अनुभूत प्रौढ़ उक्तियाँ समात्वभाव की ही संकेत-लिपियाँ हैं।

सब के साथ आत्मा के समभाव और आत्म-विस्तार, आनन्दानुभव एवं रसोद्रेक की सम्प्रेषणीय अभिव्यक्ति का सर्वाधिक समर्थ और सक्षम माध्यम होने के कारण साहित्य, विशेषतः काव्य, संस्कृति का अनन्य सहयोगी और संरक्षक रहा है। धर्म, दर्शन, संस्कृति और साहित्य का प्राचीनतम रूप काव्य ही है। किसी मानव-समूह की संस्कृति को पूर्ण रूप से हृदयंगम करने के लिए निश्चित

और व्यापक आधार उसका काव्य-साहित्य ही होता है, क्योंकि उसमें जीवन-जगत् संबंधी अन्य अनेक विशेषताओं और मूल्यों के साथ मानवीय जीवन का उच्चतम आध्यात्मिक मूल्य भी भावात्मक रूप में अभिव्यक्त हो कर प्रतिष्ठित होता चलता है। काव्य, अध्यात्म को सौंदर्य के माध्यम से बोधगम्य बना कर उसे अनुभव के रूप में उपस्थित करते हुए उसके साक्षात्कार को सहज संभव और सर्वसुलभ बना देता है। इसीलिए आध्यात्मिक आनन्द को काव्य के माध्यम से व्यक्त करने की भारतीय परंपरा अबाध और अविच्छिन्न रही है।

महादेवी जी ने माना है—“काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे विंदु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका; क्योंकि सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है। एक अपनी एकता में असीम रहता है दूसरा अपनी अनेकता में अनंत, इसी से साधन के परिचय स्निग्ध खंड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखंड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।”

वास्तव में आध्यात्मिक भावानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का काव्य अन्यतम साधन है, क्योंकि वह स्वानुभूति, सहानुभूति तथा समानुभूति के उत्कर्ष से गतिशील होता हुआ समात्मानुभूति के धरातल पर आरुढ़ होकर सब की चेतना के रसोद्रेक और आन्तरिक आनन्द का केन्द्र बनने में सहज ही सक्षम है। आदिकाल से रस राग की इसी अन्विति के कारण काव्य मानवीय विकास के सांस्कृतिक क्षेत्र में आध्यात्मिक दिव्यालोक का वितरण और प्रकाशन करता रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

काव्य मनुष्य के आन्तरिक-आत्मिक रूप का विस्तार करने के साथ उसकी संवेदना और उसके भावबोध का परिष्कार भी करता है और इसी कारण वह संस्कृति का अभिन्न अंग भी माना जाता है। स्वभावतः भारतीय काव्य, दर्शन, धर्म और अध्यात्म सभी उसकी अद्वैतात्मक सांस्कृतिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की विभिन्न प्रणालियाँ मात्र हैं, मूल रूप से सभी एक हैं।

आधुनिक युग में महादेवी जी अपनी संस्कृति का पूर्ण निर्वाह और प्रतिनिधित्व करने वाली अध्यात्म-दर्शन की सांस्कृतिक कवयित्री हैं। जीवनव्यापी आध्यात्मिक एकता की अथक खोज ही उनके काव्य का मूल स्वर है। भारत में दार्शनिक कवियों की कमी नहीं रही, परन्तु उपनिषदों के पश्चात् कवि-दार्शनिक विरल ही रहे हैं। महादेवी जी का काव्य कवि-दार्शनिक की उच्च भूमिका में प्रतिष्ठित है। इस घोर वैज्ञानिक युग में भी आध्यात्मिक साधना के प्रति एक भावात्मक-सृजना-

त्मक दृष्टिकोण तथा अनुभूति की अभिव्यक्ति का श्रेय महादेवी जी को प्राप्त है। उन्होंने लिखा है—“उस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है वह किसी रूढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर उग सूक्ष्मता की परिभाषा है, जो व्यष्टि की सम्प्राणता में समाष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है। इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा पूरक है, जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है। भौतिकता के कठोर धरातल पर तर्क से निष्कर्षण और हिंसा से जर्जरित जीवन में व्यक्त युग को देख कर स्वयं कभी-कभी मेरा व्यथित मन अपनी करुण भावना में पृथ्वी चाहता है—‘अधुमय कोमल कहाँ तू आ गयी परदेजिनी री?’ पर मेरे हृदय के कोने-कोने में राजग विश्वास जानता है कि जिन विद्युत के भार ने कठोर धरती पट जाती है, उसी को बादल की सजलता अपने प्राणों का आलोक बनाए, घूमती है। अग्नि को बुझाने के लिए हमें उसके विरोधी उपादानों में ही यन्त्रिजाली जल की आवश्यकता होगी, अंगारों के पर्वत और लपटों के रेले की नहीं।

‘जीवन के इतिहास में पशुता से पशुता की, कठोरता से कठोरता की और बुद्धि से बुद्धि की कभी पराजय नहीं हुई, इस चिर-परिचित सिद्धान्त की जैसी नई कर्साटी हम चाहते थे वैसी ही लेकर हमारा ध्वंस-युग आया है। इसके ध्वंसावशेष में निर्माण का कार्य मनुष्यता, करुणा और भावनामूलक विश्वास ही से हो सकेगा, यह मैं नहीं भूलना चाहती।”

इस कथन में अध्यात्म के आग्रह के साथ महादेवी जी ने उसके मूलतत्त्व सब के प्रति समात्त्वभाव के अनुकूल करुणा और मैत्री तथा कर्म-विधि का भी सांकेतिक उल्लेख कर दिया है। दूसरों के विषम व्यवहार से तत्वात्मक एकत्व, समत्व और सहानुभूति एवं समत्व तथा करुणा में अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि सब में जो एक आत्मा है, सब में जो एक परमात्मा है, उसका अनुभव होने के पश्चात् ही ये गुण कवि में प्रस्फुटित होते हैं—

सब आँखों के आँसू उजले, सब के सपनों में सत्य पला !

जिसने उसको ज्वाला साँपी, उसने इसमें मकरन्द भरा,

आलोक लुटाता वह घुल घुल, देता झर यह सौरभ बिखरा,

दोनों संगी पथ एक किन्तु कव दीप खिला कव फूल जला ?

इस गीत में विधि और विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों को ले कर कवयित्री ने निरूपित किया है कि विभिन्न पदार्थों का रूप, कार्य-कलाप और उनकी साधना की पद्धतियाँ भले ही विभिन्न हों, परन्तु उनका उद्देश्य-पथ समान और एक ही है। उनकी बाह्य भिन्नता में अन्तर्हित चेतना समान है। दीपक और फूल दोनों ही

आत्मोत्सर्ग के द्वारा विश्व-मंगल का आयोजन करते हैं। दोनों की कार्य-प्रणालियाँ भिन्न हैं, पर दोनों का लक्ष्य समान और उदात्त है।

नीलम मरकत के सम्पुट दो, जिनमें बनता जीवन-मोती,

इसमें ढलते सब रंग-रूप, उसकी आभा स्पंदन होती।

जो नभ में विद्युत मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला।

यह संसार आकाश तथा पृथ्वी के सम्पुट से निर्मित सीपी की तरह है। जिस प्रकार सीपी के सम्पुट में मोती क्रमशः विकसित हो कर अपने रूप की रचना करता है, उसी प्रकार यह जगत भी आकाश और पृथ्वी के सम्पुट में अपना रंग-रूप प्राप्त करता है। संसार के रंग-रूप धरती में ढलते हैं और उसे चेतना का स्पंदन आकाश से मिलता है। एक ही व्यापक आत्मत्व आकाश में विद्युत तथा बादल बनता है और पृथ्वी पर अंकुर रूप में प्रस्फुटित होता है। दो विभिन्न अस्तित्वों के रूप में व्यक्त ये दोनों ही सत्ताएँ वास्तव में एक ही मूलतत्त्व के दो रूप हैं। जैसे बादल अपनी दृष्टि से धरती के भीतर आवद्ध बीज को अंकुरित-गतिशील करता है, वैसे ही परमात्मा प्राणियों में प्राण-स्पन्दन का संचार करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि एक ही अद्वैत मूलतत्त्व से अनुप्राणित एवं उद्भासित है—‘तस्य भास सर्वमिदं विभाति’।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली के सप्तम अनुवाक में बताया गया है ‘असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत्। तस्मात्तत्सुकृतं मुच्यत इति’। सूक्ष्म और स्थूल में प्रकट होने के पहले यह जड़ चेतनमय जगत् असत् अर्थात् अव्यक्त रूप में ही था, उस अव्यक्तावस्था से ही यह सत् अर्थात् नाम-रूपमय प्रत्यक्ष जड़-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ। परमात्मा ने स्वयं अपने को ही जगत् रूप में प्रकट किया, इसीलिए उनका नाम सुकृत (अपने-आप बने हुए) है। साथ ही यह भी कहा गया है कि—‘यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राणाद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति’। परमात्मा रस रूप (आनन्दमय) है। यह जीवात्मा रसमय परमात्मा को पा कर ही आनन्दयुक्त होता है। यदि आकाश की भाँति व्यापक आनन्द स्वरूप परमात्मा न होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणों की क्रिया कर सकता? निस्संदेह परमात्मा ही सब को आनन्द प्रदान करते हैं। महादेवी जी ने अपने गीत में इसी सत्य की भावात्मक अभिव्यक्ति की है।

आध्यात्मिक परम भाव के आधार परमात्मा को हमारे यहाँ ‘शान्तं शिवम् अद्वैतम्’ की संज्ञा दे कर सत्य, सुन्दर तथा शिव का समन्वित स्वरूप माना गया है, क्योंकि भारतीय मनीषा सत्य, सुन्दर एवं शिव की पृथक् निरपेक्ष स्थिति पर

आस्था न रख कर उनके समन्वित स्वरूप पर ही विश्वास करती है। चरम भावाभिव्यक्ति—काव्य के आनन्द को इसी कारण ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। काव्य की इस सार्थकता के लिए जीवन-जगतव्यापी नाना व्यापारों और व्यवहारों से सम्बद्ध होना कितना आवश्यक है, कहने की आवश्यकता नहीं। लोक-व्यवहार की विधिता और विभिन्न चेतनाओं की अनेकता में अन्तर्निहित एकता और सामंजस्य के स्फुरण से ही आध्यात्मिक समात्मभाव की साधना सिद्ध होती है। वस्तुतः काव्य का सत्य, समात्मभाव की अखंड अनुभूति का आनन्द तथा काव्य का सौंदर्य, समात्मभाव की अभिव्यक्ति का स्वरूप एवं काव्य का शिव समात्मभाव से प्रेरित लोकमंगल की प्रेरणा का उत्स है। भाव-प्राण होते हुए भी काव्य को सम्प्रेषणीयता के संदर्भ में वस्तुगत सत्ता से भी सुसंगत होना पड़ता है। इसीलिए काव्य न तो पूर्ण रूप से व्यक्तिगत ही हो सकता है और न केवल आन्तरिक; उसकी सफलता और सार्थकता का साधन प्रकृति व्यक्ति और आत्मा की साम्य-साधना में ही सन्निहित है। उदाहरण के लिए महादेवी जी का हिमालय के प्रति लिखित गीत 'हे चिर महान्' लिया जा सकता है—

हे चिर महान !

वह स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल,
बरसा जाती रंगीन हास,
सेली बनता है इन्द्रधनुष,
परिमल मल मल जाता बतास !

पर रागहीन तू हिमनिधान !

नभ में गर्वित झुकता न शीश,
पर अंक लिये है दीन क्षार,
सन गल जाता नत विश्व देख,
तन सह लेता है कुलिश भार।

कितने मृदु कितने कठिन प्राण !

ढूँढ़ी है कब तेरी समाधि,
झंझा लौटे शत हार हार,
वह चला दृगों से किन्तु नीर,
सुनकर जलते कण की पुकार !

सुख से विरक्त दुख में समान !

मेरे जीवन का आज मूक,
तेरी छाया से हो मिलाप,

तन तेरी साधकता छू ले,
मन ले करुणा की थाह नाप !

उर में पावस दृग में विहान !

इस गीत में महादेवी जी ने हिमालय के साथ केवल तादात्म्य ही नहीं, क्योंकि वह तो मात्र बौद्धिक भी हो सकता है, समात्मभाव की स्थापना की है। इस प्रकार हिमालय (प्रकृति) से एकसूत्रता तथा एकात्मता की भावानुभूति के द्वारा कवयित्री ने विश्वव्यापी भाव-चेतना के साथ अपनी भाव-चेतना का संबंध निश्चित करते हुए अपनी अध्यात्मवृत्ति का ही प्रकाशन किया है। प्रकृति कवयित्री के लिए कोई बाह्य सत्ता, प्रतीक या अलंकरणमात्र नहीं है, वरन् उसकी भावना के साथ गतिशील होने वाली अविच्छेद्य संगिनी एवं चेतन सहचरी है। कवि के रूप-वर्णन अथवा चित्रण से उसके सौंदर्य-बोध की व्यापकता का अभास सहज ही मिल जाता है। हिमालय के प्रति महादेवी जी के भावोद्गार दृश्य और द्रष्टा की जिस अभेद भावना और सहज संपृक्ति का व्याख्यान करते हैं, वह सौन्दर्य का चरम आदर्श ही नहीं, स्वयं कवयित्री के आत्मसाक्षत्कार का प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

कूटस्थ अचलशिखर हिमालय आत्मरूप में चिरस्थित है। उसको छूने वाली सुनहली सूर्य-रश्मियाँ ज्योति दिव्य ज्ञान का संकेत करती हैं तो उसका श्वेत भाल सत्त्वोद्रेक का प्रतीक है। शुभ रूप-रंग के साथ निरन्तर ऊपर उठने वाली हिमालय की प्रवृत्ति उसके सत्व गुण का ही लक्षण है—‘ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः’ किरणें हिमालय के लिए नाना रंगों तथा आकर्षण का आयोजन करती हैं और रंगों का अविश्लेषणीय स्वरूप इन्द्रधनुष योगियों की माला की तरह उसके गले का हार बनता है। हिमालय एक योगी की तरह समाधिस्थ है। उसने अपनी सारी बाह्य प्रवृत्तियों को समेट कर अन्तर्मुखी कर लिया है। सुगंधित वायु आदि उसकी परिचर्या करते रहते हैं। हिमालय राग-द्वेष से ऊपर उठ कर शान्त रस में निग्न है। प्रकृति का अतिक्रमण कर के उसका चित्त सत्व में समाहित हो गया है।

हिमालय अपने आत्म-सम्मान में अडिग है, किन्तु जीवन के लघुतम रूपों से भी उसे सहानुभूति और ममता है। इसीलिए धूल जैसी नगण्य वस्तु को भी वह अपनी गोद में लिए रहता है। संसारव्यापी दुखों को देख कर हिमालय का मन गल-पिघल कर जल-स्रोतों के रूप में प्रवाहित हो उठता है और उसका साधनाशील शरीर व्रज के आघात को भी सह लेता है। हिमालय अपनी साधना में दृढ़ एवं कठोर हो कर भी अपनी भावना में अत्यन्त कोमल और सदय है।

शिव की समाधिपीठ रहते-रहते स्वयं हिमालय भी समाधिस्थ हो गया है और वह अपनी समाधि में अविचल और स्थिर है। संसारी झंझट, उलझनें, विघ्न-

बाधाएँ उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं? वह अड़चनों से हतप्रभ नहीं होता। बाधाएँ स्वयं हार मान लेती हैं। ऐसा दृढ़व्रती हिमालय छोटे से उत्तप्त कण की पुकार मुन कर झरनों, नदियों के रूप में करुणा के आंसू बहाता है और उसकी जलन को शान्त करने के लिए प्रयत्न करता है।

हिमालय स्थिप्रज्ञ की तरह साम्य संतुलन और शान्ति में अडिग रहता है। बाहरी परिस्थितियाँ उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकतीं। वह न सुख की आकांक्षा करता है न दुःख से घबड़ाता है। कवयित्री का आग्रह है कि चुपचाप शान्तिपूर्वक उसके जीवन का हिमालय के व्यक्तित्व और प्रभाव से ओज पूर्ण तादात्म्य हो जाए, जिससे उसका शरीर उसकी साधना की दृढ़ता पा ले और मन उसकी असीम करुणा की ग्राह्यता पा कर उसी की तरह करुणापूर्ण बन जाए। जिस प्रकार हिमालय के हृदय में करुणा का आवास और दृष्टि में ज्योति का उल्लास है उसी प्रकार कवयित्री का हृदय करुणापूर्ण और उसकी दृष्टि दिव्य-ज्योति से समन्वित हो जाए।

इस गीत में महादेवी जी के मूलभाव अध्यात्म का बहुत ही सरस मोहन रूप व्यक्त हुआ है। कवयित्री और हिमालय का यह तादात्म्य इस बात की पुष्टि करता है कि हिमालय के सारे कथित गुण और उसकी सम्पूर्ण विशेषताएँ कवयित्री में सूक्ष्म रूप से अवस्थित हैं—दोनों में समात्मभाव है।

हिमालय सत्त्वस्थ है। उत्तम काव्य-रचना के लिए कवि का सत्त्वस्थ होना अनिवार्य है। अनासक्त होने के कारण सत्त्वस्थ चित्त ही सात्विक सौन्दर्य की सृष्टि और उसका उपभोग कर सकता है। हिमालय योगी की भाँति समाधिस्थ है। कवि भी अपनी बाहरी वृत्तियों को समेट कर अन्मुखी कर लेता है—समाधिस्थ हो जाता है, अन्यथा काव्य-रचना उदात्त नहीं हो सकती। कवि और योगी में यह भी साम्य है कि योगी का चरम अभीष्ट आत्मसाक्षात्कार काव्य की रससिद्धि का भी आलम्बन है।

स्थूल जगत का हिमालय कवयित्री की भावाकुलता से सहज ही सम्बद्ध होकर पदार्थ से भावार्थ बन कर चेतन रूप से स्पंदित हो उठता है। व्यक्त रूप सत्य तथा सौन्दर्य में अव्यक्त कारणभूत सत्य-सौन्दर्य की खोज ही तो अध्यात्म की रस स्फूर्ति है। कवयित्री की आन्तरिक आत्मचेतना और हिमालय के सौन्दर्य का व्यापक अंतरंग पक्ष, दोनों ही एक और अद्वैत हैं, अन्यथा तादात्म्य की सम्भावना ही न रहती।

हिमालय के ऊर्ध्व स्थल से जिस प्रकार सरस जल-स्रोत फूट निकलते हैं, उसी प्रकार कवि चेतना के ऊर्ध्व तल से सरस कविता का प्रवाह वह निकलता है। सूर्य-किरणों की ऊष्मा विगलित होकर हिमालय का हिम धरती की तृषा शान्त करते

हुए उसे उर्वर बनाते हुए समतल में प्रवाहित होने लगता है। कवि भी जीवन की अनुभूतियों की ऊष्मा से द्रवित होकर कविता के रूप में विश्वमंगल का विधान करता है। सूर्य का प्रकाशन ज्ञान जैसे हिम के विगलन का कारण है, वैसे ही जीवन का ज्ञान कविता का कारण है। सूर्य किरण और हिम के सम्पर्क से जिस अविश्लेषणीय इन्द्रधनुषी सौन्दर्य की सृष्टि होती है वही सौन्दर्य कवि का भी मूलाधार है। जल-स्रोतों के रूप में हिमालय का आत्मत्याग प्रत्यक्ष होता है तो कविता में कवि का आत्मत्याग ही संचरित रहता है। हिम का रूपान्तरित रूप जल (रस) धरती को हरी-भरी, पल्लवित-पुष्पित बनाता है तो कवि भी अपने काव्य-रस से विश्व-जीवन को समृद्ध सम्पन्न और सार्थक बनाता है।

हिमालय पर अचल और अविकार हिम का अनासक्त प्रसार एवं प्राचुर्य है, जो अचल अधिकार तथा अनासक्त आत्मतत्त्व का प्रतीक है, किन्तु वही हिम, लोक-मंगल की साधना और सार्थकता के लिए द्रवित होकर करुणा के प्रवाह के रूप में संसार के प्रति आसक्त होकर निरन्तर प्रवाहित-गतिशील तथा कार्यरत रहता है। आत्मस्थ कवि अध्यात्म के उच्च शिखर पर आरुढ़ होते हुए भी लोक-मंगल की साधना में संलग्न रहता है।

परमात्मा स्वयं आत्मकाम और आनन्दमय है, किन्तु लोकानुग्रह के लिए उसे भी कार्यरत रहना पड़ता है, क्योंकि प्राणियों के प्रति असीम अनुकम्पा और सबके प्रति महाकरुणा उसके संकल्प का स्वाभाविक लक्षण है।

इस प्रकार इस गीत में द्रष्टा की आध्यात्मिक दृष्टि और स्रष्टा की विधायक कल्पना के सामंजस्य से कवयित्री ने प्रकृति, मानव, आत्मा तथा परमात्मा में अभेद भावना का उन्मेष करते हुए अध्यात्म को नवीन हृदयग्राही प्रतीकों में ढाल कर उसे एक नई सार्थकता प्रदान करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है, इसमें सन्देह नहीं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वास्तविक भावयोगी कवि वस्तु के बाहरी रूप के साथ 'आत्मन्यात्मनमेव पश्यतः' आत्मा से आत्मा को भी देखने में सक्षम होता है। उसके सामने का दृश्य भाव बन जाता है और पदार्थ स्वतः भावार्थ ग्रहण कर लेता है। दृश्य का भाव में रूपान्तरण ही तो सौन्दर्य और रस का मूल प्राण है। जो भावयोगी नहीं हैं वे अपनी वस्तुनिष्ठ बौद्धिक दृष्टि से हिमालय का यह चेतन रूप ग्रहण करने में असमर्थ ही रहेंगे, क्योंकि भाव का साक्षात्कार ही तो अनुभूति है। साधारणतः भाव वासना रूप सब में सदा व्याप्त रहता है, पर उसकी अनुभूति उसका साक्षात्कार सब के लिए सब समय सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा सब में व्याप्त है, पर उसकी अनुभूति विरल है। जो भी हो, पर इतना तो निश्चित है कि वस्तु की सम्पूर्णता की उपलब्धि के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप एवं आध्या-

त्मिक प्रभाव की भावात्मक अवगति अनिवार्य है, क्योंकि वस्तुनिष्ठ संकुचित जीवन के घेरे से बाहर निकल कर भावालोक में संनरण करने के पश्चात् ही हम जीवन के विराट एवं विस्तृत अन्तराल में प्रवेग पा सकते हैं और वहां पहुँचते ही हमें नत्तामान की सम्पूर्णता और अपने साथ उसके समात्मभाव का अनुभव होने लगता है। तब किसी भी वस्तु का आन्तरिक भाव और उगका सौन्दर्य हमारे जीवन को भावना के रंग से हम प्रकार रँग देता है कि नन्हा से नन्हा प्राकृतिक पदार्थ भी हमारे अक्षय आनन्द का कारण और आधार बन जाता है और इसी आनन्द-भावना के अनुशीलन, चिंतन, मनन एवं अनुभव से हम आत्मा के स्वरूप को समझने और चीन्हने-पहचानने में सफल होते हैं, क्योंकि आनन्द ही हमारी आत्मा का गान्धर्व स्वरूप है।

हमारे यहाँ रस (आनन्द) को काव्य की आत्मा माना गया है, जो चेतना के समात्मभाव के आनन्द का ही पर्याय है तथा साधारणीकरण सिद्धान्त रस को सर्वव्यापक बनाने के माध्यम से आत्मानन्द के भाव-प्रकाशन का ही समर्थन करता है। इस प्रकार काव्य स्वभाव से ही आध्यात्मिक मिद्ध होता है। कहना न होगा कि महादेवी जी के गीत उनके अध्यात्मभाव की संगीत-मुखर ध्वनियाँ हैं।

वास्तव में विभिन्न चेतनाओं के सामंजस्य तथा परस्पर संभावना और सम्प्रेषण की क्षमता एवं भावना के बिना काव्य का कोई मूल्य महत्व नहीं है। वस्तुतः संस्कृति तथा साहित्य के लक्ष्य मानव को सबसे पृथक्, परिच्छिन्न और परमित मान कर उसकी सृष्टि—काव्य का मूल्यांकन करना मानवीय चेतना का सबसे बड़ा अपमान है। भारत ने कभी ऐसी भूल नहीं की, पर सम्प्रति जीवन के किमी क्षेत्र का हमारा कोई प्रतिमान पश्चिम की भौतिक बनिया-सम्भ्यता की तथाकथित वैज्ञानिक कसौटी पर खरा उतरे बिना सम्माननीय एवं विश्वस्त नहीं माना जाता। यह प्रवृत्ति हमारे सांस्कृति ह्रास का ही परिणाम है। आश्चर्य है कि इस लपेट में आचार्य शुक्ल जैसे विदग्ध आलोचक भी आ गए और परिणाम-स्वरूप उन्होंने कहा—‘मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है। अध्यात्म शब्द की मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र में कहीं कोई जरूरत नहीं।’ रसवादी आचार्य न जाने किस आवेश में यह भूल गए कि रससिद्धि के लिए मनोमय कोश को पार के आनन्दमय कोश तक पहुँचना होगा, जहाँ भाव, विभाव तथा अनुभाव, संचारी भाव आदि अखण्डता और अभेद की ऐसी लोकोत्तर स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे रस की संज्ञा दी जाती है। यह अखण्ड एवं अभेद की स्थिति मनोमय कोश की भूमि पर प्राप्त नहीं हो सकती। इसी तरह अध्यात्म या तत्त्वबोध भाव से भिन्न कोई हीवा नहीं है। यह ठीक है कि मन की विकल्पात्मक स्थितियों तथा तर्क-

बुद्धि की उपज वह नहीं है, पर भावात्मक अखण्ड प्रत्यय के अतिरिक्त वह और हो ही क्या सकता है? यह कौन नहीं जानता कि मन के विधिक संकल्प-विकल्प तथा बुद्धि के नाना भेद-विभेद के तिरोभाव होने पर ही वह अभेद तथा स्थिर चैतन्य दशा सम्भव है, जिसे शास्त्रीय शब्दों में रसदशा का नाम दिया जाता है। वस्तुतः जिस आनन्दमय कोश में भोक्ता, भोग्य और भोग एक होकर समन्वित हो जाते हैं, वही आनन्दमय कोश काव्य की प्रकृत भूमि है, यह निर्विवाद है।

भारतीय संस्कृति, साहित्य और दर्शन में अध्यात्म पुरुषार्थ (मूल्य) की चरम सार्थकता के रूप में सदैव स्वीकृत रहा है, क्योंकि उसमें लोक और लोकोत्तर, देश और काल, भाव और विचार तथा व्यष्टि और समष्टि का आत्मिक अन्तर्भाव है। मनुष्य की चेतना स्मृति, कल्पना और अनुभव के रूप में भूत, भविष्य और वर्तमान का निर्धारण करती हुई सनातनता का आकलन और अनुभव करने में समर्थ है। इसीलिए भारतवासी सान्त भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए बाह्य परिवेश को नियंत्रित एवं परिवर्तित करने की अपेक्षा आत्म-विस्तार और आत्मानुभव के आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व देते रहे हैं—‘भूमा वै सुखम् नाल्पे सुखमस्ति’। निश्चय जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य है।

भारतीय मनीषा के अनुसार मनुष्य का शरीर, प्राण, मन, बुद्धि तथा आत्मा का अधिष्ठान माना गया है और उसके अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष चार पुरुषार्थ मूल्य माने गए हैं, जो उसके व्यक्तित्व के विकास के भौतिक-आध्यात्मिक साधन और उपादान हैं। अर्थ, काम और धर्म का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है, किन्तु मूल्य न तो पारलौकिक ही है और न लौकिक ही, वरन्, पारमार्थिक है। परमार्थ वह उदात्त प्रवृत्ति है, जो मनुष्य को स्वार्थ से ऊपर उठा कर निःस्वार्थ बनाती है और आत्म-विकास के साथ उसे अन्य प्राणियों की सेवा और कल्याण करने की प्रेरणा देती है। निष्काम कर्मयोग इसी का दूसरा नाम है। स्पष्ट है कि मोक्ष-पुरुषार्थ होने के कारण सबके साथ समभाव रखते हुए प्राकृतिक सुख-दुखों से ऊपर उठकर आत्मसाक्षात्कार को ही जीवन का परम मूल्य मानता है, परन्तु इसका यह आशय कदापि नहीं कि अध्यात्म में सामाजिक जीवन या लोक-मंगल की अवहेलना होती है। अध्यात्म-जीवन के सभी मूल्यों का यथास्थान अपना महत्व है, किन्तु उस महत्व का बोध हमें तभी हो सकता है, जब हम किसी ऐसे परम स्वलक्ष्य मूल्य का ज्ञान रखते हों जो सभी मूल्यों के परस्पर संघर्षों और विरोधों का सामंजस्य और समन्वय कर सके और स्वयं इन सब से परे हो कर भी इनका निषेध न करे। अध्यात्म ऐसा ही श्रेष्ठतम मूल्य है।

आत्मा की मौलिक एकता का आधार ग्रहण करने के कारण अध्यात्म अखिल अस्तित्वों के आन्तरिक साम्य-समात्मभाव को ही सर्वाधिक महत्व देता है। जब बाहर का सारा प्रसार आत्मा का ही वैभव-विस्तार है तब अध्यात्मवादी जगत जीवन के प्रति कभी उदासीन नहीं हो सकता। इसी कारण वह मोक्ष को भी व्यक्तिगत रूप में मान्यता न देकर उसे सर्वमुक्ति के ही रूप में स्वीकार करता है, क्योंकि अखिल विश्व की सत्ता मात्र के प्रति उसकी रागात्मकता स्वभावतः लोक-संग्रही होती है। वस्तुतः सबके प्रति समान मैत्री और करुणा की स्थिति उसके स्वभाव का प्रमुख अंग है। महादेवी जी ने अपने इस गीत में इसी भावना को व्यक्त किया है—

लौट जा ओ मलय-माख्त के झकोरे।

अतिथि रे अब रंगमय मिश्री-घुल। मधुपर्क कैसा !

मोतियों का अर्घ कैसा?

प्यालियाँ रीती कली की शून्य पल्लव के कटोरे!

निठुर नयनों में दिवस के मेघ का रच एक सपना ,

तड़ित में भर पुलक अपना ,

माँग नभ से स्नेह रस, दे विश्व की पलकें भिगो रे!

लौटना जब धूलि, पथ में हो हरित अंचल बिछाये ,

फूल मंगल-घट सजाये ,

चरण छूने के लिये, हों मृदुल तृण करते निहोरे ।

ऐ वासंती पवन, तू यहाँ से लौट जा, क्योंकि तेरे स्वागत का कोई साधन यहाँ नहीं है। भ्रमरों की मधुर ध्वनि, पक्षियों का कलरव, कोयल की कूक, बेंत-वन का संगीत तथा कलियों का हास, सभी शान्त है। वस्तुतः इस समय तेरा यहाँ आना औचित्यपूर्ण नहीं है। यदि तू यहाँ आना चाहता है तो पहले आकाश में मेघ की रचना कर, ताकि अपनी वर्षा से वह संसार को संसिक्त करके उसे हरा-भरा बना दे और उसमें उड़ती धूलि हरीतिमा तथा पत्रों-पुष्पों का रूप धारण कर ले तथा सारा विश्व-जीवन प्रसन्नता से सुसज्जित हो जाए, तब आना। स्पष्ट है कि कवयित्री स्वयं सुख प्राप्त करने के पहले सारे विश्व को सुखी देखना चाहती है। उसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का यह ज्वलंत प्रमाण है।

बादल, दीपक, फूल तथा सरिता आदि को भी महादेवी जी ने लोक-मंगल की भावना से अभिभूत दिखाया है।

इन्द्रधनुष से सुसज्जित तथा विद्युत की आभा से आवेष्टित आकाश की नर्तकी घटा भी अपने आत्मत्याग से विश्वमंगल का विधान करती है—

विगलित हर रोम हुआ रज से सुन नीर नीर।
और वह करुणाद्रि होकर—

प्यासे का जान ग्राम, झुलसे का पूछ नाम,
धरती के चरणों पर नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि शरीर।
मिट चली घटा अधीर।

प्यासे प्राणियों और झुलसे वृक्षों को तृप्त करने के लिए घटा अपना सर्वस्व त्याग कर देती है। विशेषता यह है कि अपनी आकाशचारी उच्च स्थिति का गौरव भी उसे संतप्तों के लिए त्याग करने में कोई बाधा नहीं उपस्थित कर पाता। घटा अपने को मिटा कर संसार के नव-सृजन का कारण बनती है। उसका विनाश नई सृष्टि का उपादान बनता है—

सृष्टि का यह अमिट विधान, एक मिटने में सौ वरदान,
नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास, विफलता में है प्रीति-विकास,
अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास।

इस उच्चकोटि की करुणा के लिए किसी के दुःख-दर्शन की आवश्यकता नहीं होती। दुःख के जो कारण हैं, जगत की अनित्यता या क्षणिकता आदि जो जगत का धर्म है इस धर्म के दर्शन से ही करुणा का उदय हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनन्द महाकरुणा के रूप में प्रकट होता है। स्वयं आनन्द में प्रतिष्ठित हो कर भी जब तक सबको उसी प्रकार के आनन्द में प्रतिष्ठित नहीं किया जाता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि जीवन का यथार्थ महत्व-सम्पन्न हो गया। इसी कारण जिनकी करुणा का प्रसार-क्षेत्र जितना अधिक होता है, भगवान के साथ उनका तादात्म्य भी उतना ही गम्भीर होता है। अतएव मनुष्य का गौरव केवल (आत्मा) या ब्रह्म को प्रत्यक्ष जानने में नहीं है, केवल ब्रह्मानन्द को स्वयं भोगने में नहीं है, बल्कि निर्विशेष रूप ब्रह्मानन्द को सब में वितरण करने का अधिकार प्राप्त करने में है।” महादेवी की करुणा इसी कोटि की है।

महादेवी जी ने अध्यात्म को अपने जीवन का ऐसा सक्रिय पूरक माना है जो जीवन के सब रूपों के प्रति उनकी ममता समान रूप से जगा सकता है और सब रूपों की सत्ता मात्र के प्रति समान रूप से ममता जगाने वाले भाव को ही समात्म-भाव कहा जाता है, इसी की संज्ञा महाभाव भी है। आत्मा या ब्रह्म कोई व्यक्ति नहीं, विश्व रूप है। उसके प्रति लगाव या प्रेमभाव समष्टि प्रेम का ही प्रतीक है (सर्गारम्भ में आनन्दमय सृजनेच्छा से ही ब्रह्म ने अपने को द्विधा विभक्त कर लिया था। अपनी परा प्रकृति में वह परात्पर ब्रह्म रखते हुए भी अपरा प्रकृति में जीवरूप

से व्याप्त हो गया था। जीवात्मा विश्व-प्रेम के माध्यम से पुनः उसी प्रथम स्थिति की अद्वैतता में प्रतिष्ठित होना चाहती है। सर्वात्मप्रेम की अद्वैतभावना उसी संकल्पात्मक अनुभूति का एक रूप है। यह प्रेम (रस—आनन्द) चेतना का पूर्णरूप है, इसीलिए प्रत्येक सत्ता (अस्तित्व) का प्रमुख प्रयोजन प्रेम से ही पूर्ण होता है, क्योंकि प्रेम का रस आनन्द ही आत्मलीनता का आधार है, स्व-पर का अद्वैत है और यही प्रेमभाव सृष्टि का मूल स्रोत है, जो परम चेतन ब्रह्म से उद्भूत होता है। वस्तुतः अपनी चेतना को सर्वात्मप्रेम के धरातल पर ले जाकर ही हम असीम आत्मानन्द का लाभ प्राप्त कर सकते हैं, जो मानवीय जीवन की चरम सफलता और सार्थकता है—‘आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति’। आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द जीवन रस-प्रेमभाव की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि हम अपनी आत्मा का अखिल विश्व से और विश्वात्मा का विराट ब्रह्म की आत्मा से एकत्व का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करें, क्योंकि यह सारा ब्रह्माण्ड एक ही आनन्दमय चेतन की आनन्दाभिव्यक्ति है। वस्तुतः प्रेमभाव द्वारा सबके साथ सम्बद्ध और सम्पृक्त हो कर ही निःसीम आनन्दमय जीवन का आकलन एवं अनुभव किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

जब व्यक्ति अपने क्षुद्र तथा सीमित अहं के आवेग-आवेश में अपने व्यक्तित्व को विश्व-व्यक्तित्व से विच्छिन्न कर लेता है तभी व्यक्ति की समस्याएँ, यातनाएँ, अपूर्णताएँ एक विकराल रूप धारण कर लेती हैं, सबके साथ मिल जाने पर उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। ठीक उसी तरह जिस तरह सागर से समन्वित हो जाने पर बूंद की अपनी कोई अलग इकाई और समस्या नहीं रह जाती। संघर्ष, अलगाव, वैमनस्य एवं विभिन्नता की स्थिति विश्वात्मा के साथ हमारे स्वभाव की न्यूनता का ही प्रतीक है। व्यक्तिगत अहं जब विश्व के विराट अहं से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है तब उसमें आत्मा की अमरता और आभा उद्भासित हो उठती है। हमारा व्यक्तिगत अहं प्राकृतिक संवेदनाबद्ध अस्तित्व मात्र है, उसे व्यक्तित्व तो सबके साथ मिलने से ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार शब्द केवल ध्वनिरूप में सबसे विच्छिन्न रहकर कोई सार्थकता नहीं प्राप्त करता, किन्तु वही शब्द जब अन्य शब्दों से संयुक्त हो जाता है, तब भाव, विचार और अर्थ की सारवती सार्थकता में मुखरित हो उठता है, उसी प्रकार मानवीय व्यक्तित्व भी दूसरों से सम्बद्ध हो कर ही सफल होता है। महादेवी जी इसी भावोन्मेष की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक तथा वर्तमान शब्दावली में रहस्य-काव्य की कवयित्री हैं। अध्यात्म, दर्शन, काव्य एवं संगीत का इनके गीतों में ऐसा समाहार पाया जाता है, जो मानवीय चेतना की

परस्पर एकता और उसके व्यापक अंतरंग पक्ष के स्पष्टीकरण तथा प्रकाशन में सहज ही सफल है। ब्रह्म, जीव और जगत के सम्बन्ध को हृदयंगत करने के लिए महादेवी जी का यह गीत मननीय है—

ओ चिर नीरव !

मैं सरित विकल,

तेरी समाधि को सिद्धि सकल,

चिर निद्रा में सपने का पल,

ले चली लाल में लय गौरव।

मैं ऊर्मि विरल,

तू तुंग अचल, वह सिन्धु अतल,

बाँधे दोनों को मैं चल-चल,

धो रही द्वैत के सौ कैतव।

मैं गति विह्वल,

पाथेय रहे तेरा दृग-जल,

आवास मिले भू का अंचल,

मैं कहणा की वाहक अभिनव।

इस गीत में परमात्मा तथा आत्मा एवं जगत का सम्बन्ध पर्वत, नदी और सागर के माध्यम से व्यक्त किया गया है। प्रकृति के विभिन्न पदार्थ प्रकृति की वर्ण-माला हैं और स्वयं प्रकृति कवयित्री की आत्माभिव्यक्ति की पाण्डुलिपि है। गहन भाव को प्रकृति के प्रत्यक्ष और मनोरम माध्यम से व्यक्त करने की क्षमता में महादेवी जी अद्वितीय हैं।

ऐ मौन, चिर शान्त परमात्मा, मेरी उत्पत्ति तुमसे उसी प्रकार हुई है जैसे शान्त अचल पर्वत से नदी की होती है। नदी अपनी नृत्य-गति से विश्व को हरा-भरा बनाती हुई प्रवाहित रहती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी विश्व-कल्याण में गतिशील रहती है। नदी का जन्म पर्वत की समाधि-साधना की सफलता है, उसी प्रकार परमात्मा आत्मा को जन्म दे कर कृतकृत्य होता है। निद्रा जड़ता का और स्वप्न जैसे चेतना का प्रतीक है, वैसे ही नदी पर्वत की चेतनता का और जीवात्मा परमात्मा की चेतनता का प्रतीक है। नदी पर्वत के अन्तश्चेतन सपनों को ले कर गतिशील होती है और जीवात्मा परमात्मा के संकल्प को संसार में चरितार्थ करती है। नदी की गति में लास्य और स्वर में संगीत का समन्वय रहता है, तो जीवात्मा भी इनका सम्बल ग्रहण करती है।

जीवात्मा नदी की लघु लहर की तरह सीमित और चंचल है। परमात्मा

पर्वत की तरह महान और अचल अविचल है। नदी, पर्वत और सागर के बीच की दूरी को अपनी गति से नष्ट करती हुई दोनों को मिला देती है। जीवात्मा, परमात्मा तथा संसार के बीच पड़े आवरण को हटा कर दोनों को एक करती है, दोनों में अभेद भावना का उन्मेष करती है। नदी को पर्वत का जल ही गति देता है और वह अपने कर्म-क्षेत्र धरती को आर्द्र तथा शस्य-श्यामला बनाए रहती है। जीवात्मा भी परमात्मा के विछोह के आँसुओं का सम्बल ग्रहण कर विश्व के प्रति कल्याण-भावना और करुणा का भाव सँजोए रहती है—वियोग के अनुभव से वियोगी संसार के प्रति जीवात्मा की सहानुभूति विस्तृत हो जाती है। वस्तुतः रहस्य-काव्य में वियोग का अर्थ केवल इतना ही है कि जीवात्मा अभी तक अपनी पूर्ण स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकी, इससे कुछ अधिक नहीं, अन्यथा महादेवी जी यह न कह पातीं—

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !

किसको त्यागूँ, किसको माँगूँ,

है एक मुझे मधुमय विषमय,

मेरे पद छूते ही होते,

काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय !

पालूँ जग का अभिशाप कहाँ प्रतिरोमों में पुलकें लहरी।

जिसको पथ-शूलों का भय हो,

वह खोजे नित निर्जन गह्वर,

प्रिय के सन्देशों के वाहक,

मैं सुख-दुख भेटूँगी भुज भर;

मेरी लघु पलकों से छलकी इस कण-कण में ममता बिखरी।

और इसीलिए वे दुखी मात्र के प्रति सहृदयता और सक्रिय सहानुभूति में निरन्तर व्यस्त हैं—

किरणों को देख चुराते, चित्रित पंखों की माया,

पलकें आकुल होती थीं तितली पर करने छाया।

नव मेघों को रोता था, जब चातक का बालक मन,

इन आँखों में करुणा के घिर-घिर आते थे सावन।

अपने पन की छाया तब देखी न मुकुर मानस ने,

उसमें प्रतिबिम्बित सबके सुख दुख लगते थे अपने।

इस प्रकार नभ धरा के वेदना-पय से पली महादेवी जी के हृदय में विश्व के

कण-कण के प्रति जो करुणा उमड़ती है, उसकी तुलना में वे मुक्ति को भी नगण्य मानती हैं।

‘भाती तम की मुक्ति नहीं प्रिय रागों का बन्धन’। उनका निश्चित मत है कि अपने को मिटा कर भी विश्वमंगल का आयोजन ही जीवात्मा की शाश्वत मुक्ति है। उन्होंने जगज्जीवन के मूलकारण—ब्रह्म से भी अपने इसी संकल्प को स्पष्ट किया है—

‘मिटना ही तुमको छू पाना’। अस्तु वे गौरव के साथ यह घोषित करती हैं—

चिन्ता क्या है हे निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा,

हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज अंधेरा।

वस्तुतः कवयित्री महाकरुणा और उससे साधित लोकमंगल को ही आत्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्मविहार मानती हुई निष्काम कर्मयोग का सहारा ग्रहण करती जान पड़ती है—

जग पतझर का नीरव रसाल

पहने हिम जल का अश्रुमाल

मैं पिक बन गाती डाल-डाल

सुन फूट-फूट उठते पल में

दुख संजरियों के अंकुर।

ऐसी ‘सुहृदय सर्वभूतानां’ दिव्य आत्मा के अन्तर में सार्वभौम प्रेम और विश्व-व्यापी करुणा का सागर लहराता दिखाई पड़े तो आश्चर्य की बात नहीं। सीमा में बाँधने वाली पार्थिव प्रकृति की शृंखला कभी ऐसे व्यापक प्रेम-संकल्प, ज्ञान की स्पृहा तथा ज्योतिर्मय दिव्य चेतना को अपने बन्धन में नहीं जकड़ सकती। महादेवी जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना।

जाग तुझको दूर जाना!

बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले?

पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले?

विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुन-गुन

क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले?

तू न अपनी छाँह को अपने लिये कारा बनाना।

जाग तुझको दूर जाना!

स्पष्ट है कि ज्ञान और अनुभव की सतत पुनरावृत्ति के माध्यम से उच्चतम आत्मा मनुष्य की पार्थिव सत्ता पर अपना प्रभाव छोड़ कर उसकी सम्पूर्ण प्रकृति

पर स्थायी रूप से अपना अधिकार कर लेती है और उसे आन्तर आध्यात्मिक सत्य से संबद्ध कर देती है और मानव-आत्मा की सम्पूर्ण सत्ता की परम सत्ता के साथ एकता स्थापित हो जाती है। जब मनुष्य प्रेम और करुणा के उदात्त आवेग में अपनी चेतना के सम्पूर्ण अंतस्तल और आनन्द की समस्त उत्कंठा को लोकमंगल की ओर उन्मुख कर देता है तब विश्व की कारण सत्ता से उसका आत्मीय सम्बन्ध स्वाभाविक हो उठता है। इस स्थिति को पूर्ण मिलन या योगयुक्त भाव की संज्ञा दी जाती है और इसके भोक्ता के लिए “बुधा भावसमन्विताः” की प्रतिष्ठा मिलती है। महादेवी जी के अध्यात्म अथवा रहस्य-काव्य की यही उपलब्धि है। मानवीय आत्मा की पूर्णता परमात्मा के समान ही बन जाना, ‘मद्भावमागतः’ और अपनी सत्ता के विधान तथा अपने कर्म एवं प्रकृति के नियम में परमात्मा के साथ एक हो जाना, ‘साधर्म्यमागतः’ की दोनों स्थितियाँ उनके काव्य में प्रतिपठित और प्रतिफलित हैं—

तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या !

तारक में छवि प्राणों में स्मृति,

पलकों में नीरव पद की गति,

लघु उर में पुलकों की संसृति,

भर लायी हूँ तेरी चंचल,

और कलें जग में संचय क्या,

रोम रोम में नन्दन पुलकित,

साँस साँस में जीवन शत शत,

स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित,

मुझमें क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

चित्रित तू मैं हूँ रेखा-क्रम,

मधुर राग तू मैं स्वर संगम,

तू असीम मैं सीमा का भ्रम,

काया छाया में रहस्यमय !

प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या ?

इस गीत में कवयित्री ने सांकेतिक रूप से ‘काया छाया में रहस्यमय’ शब्दों में प्रकृति अथवा अपरा प्रकृति और आध्यात्मिक प्रकृति अथवा आत्मा की प्रकृति का भी उल्लेख कर दिया है। आत्मा की परा प्रकृति ही इस विश्व के अस्तित्व का मूल है और अपरा प्रकृति इसी से उत्पन्न होती है, इसी की छाया है। अपरा प्रकृति

की बाह्यान्तर प्राकृत क्रीड़ा का आधार यही परा प्रकृति है। यही वह मूलभूत भाव और शक्ति है, जिसे स्वभाव कहा जाता है और जो सब के स्वयं होने—प्राकृत रूप में आने का स्वगत तत्त्व है। अपरा प्रकृति का यह सारा नामरूपात्मक स्वरूप, इन्द्रियगत, मनोमय तथा बौद्धिक व्यापार केवल एक बाह्य प्राकृत दृश्य है, जो परा आध्यात्मिक शक्ति और स्वभाव से ही संभव होता है, उसी से यह उत्पन्न है, उसी में इसकी स्थिति है। वस्तुतः केवल बाह्य प्रकृति—अपरा प्रकृति से संसार के सत् स्वरूप का ज्ञान और अनुभव संभव नहीं है, क्योंकि वास्तविक तत्त्व तो परा प्रकृति की आध्यात्मिक शक्ति, स्वभाव—आत्मभाव है, जो सब अस्तित्वों में परिव्याप्त है। उस सत्त्व, शक्ति एवं भाव को ग्रहण करने पर ही हम अपने भूत भाव का वास्तविक स्वरूप एवं जीवन का आत्मतत्त्व अनुभव कर सकते हैं, यह निर्विवाद है। महादेवी जी के काव्य में प्रकृति-चित्रण या प्राकृतिक सौन्दर्य-निरूपण के समय यदि इन दो प्रकृतियों का ध्यान न रखा जाए तो आमक निष्कर्ष निकालने की सम्भावना सहज है। प्रायः समालोचकों को इस भूलभुलैया में भटकना पड़ा है और महादेवी जी के काव्य में विशुद्ध प्राकृति प्रकृति के अभाव की शिकायत भी करनी पड़ी है, जो हास्यास्पद मात्र है।

वास्तव में परा प्रकृति-आत्मा की चित् शक्ति ही, जो आत्मविद् सर्वविद् एवं सर्वज्ञ है, सभी गोचर प्रकृति और पदार्थों को परस्पर संबद्ध रखती, उनके भीतर व्याप्त उन्हें धारण करती और उन सब को अपनी आनन्दमय अभिव्यक्ति की व्यवस्था में बुन लेती है। वस्तुतः सब का मूल स्वभाव आत्मभाव ही है। उनकी बाह्य विविधता उनके अस्तित्व का गौण प्रकाश है, उनके मूल स्वभाव और सत्ता का मूल स्वरूप नहीं। महादेवी जी ने परा प्रकृति के संदर्भ से अपनी आत्मसत्ता का मूलभूत सत्य और शक्ति तथा उसकी विश्वलीला का आध्यात्मिक आधार ग्रहण करते हुए अपरा प्रकृति का निरीक्षण और प्रकृति तथा पदार्थ के पीछे छिपी हुई अध्यात्म-शक्ति का रहस्योद्घाटन किया है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए।

अध्यात्म अथवा आत्मतत्त्व के अविश्वास की घोषणा करने वाले भौतिकवादी कतिपय आलोचकों ने महादेवी जी के काव्य की आध्यात्मिकता पर अपना सन्देह प्रकट किया है, जो अनुचित और अधिकारहीन है। मैं समझता हूँ कि काव्यालोचन के लिए आलोचक को अपने संस्कारों, पूर्वाग्रहों से ऊपर उठ कर आलोच्य कृति में अपनी आत्मकथा या अपने विश्वासों की खोज करने की अपेक्षा कृतिकार के विश्वासों, सिद्धान्तों, आदर्शों और मान्यताओं तथा उसके जीवनदर्शन का विश्लेषण-विवेचन ही श्रेयस्कृत है। “प्रधान प्रश्न उसके सिद्धान्तों की सचाई जाँच करने का नहीं है (क्योंकि वह अन्य क्षेत्र का प्रश्न है) प्रधान प्रश्न यह है कि अपने विश्वासों

से आवद्ध रह कर उराने जो सृष्टि की है, उसका सौन्दर्य कहाँ है? उसके आदर्श क्या हैं? और वह उसकी सृष्टि करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है?"

महादेवी जी के काव्यालोचक की उनकी मूलभूत मान्यताएँ एवं उनकी सांस्कृतिक दृष्टि अवश्य ही समझ लेनी चाहिए अन्यथा उनके काव्य का व्यापक अखण्ड सौन्दर्य, जीवन का विराट भाव-रूप और अनन्य कलाविभूति का वैभव उसकी पहुँच के बाहर और अप्रत्यक्ष ही रह जाएगा। जीवन निष्ठा, आध्यात्मिक आस्था तथा व्यापक सौन्दर्य-बोध के माध्यम से महादेवी जी ने जिस दार्शनिक सर्वात्मबोध को काव्य के सर्जनात्मक समावेशभाव में परिणत कर के हमारे सामने उपस्थित किया है, वह भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति-साधना का सनातन मूल-स्वर है, जो किसी आलोचक-विशेष के विश्वास-अविश्वास का मुख्यापेक्षी न हो कर अपने-आप में महत्वपूर्ण तथा व्यष्टि जीव का विश्वात्मा के प्रति परम प्रभाव और लोकमंगल का आदर्श उदाहरण है। उनके काव्योद्देश्य में किसी प्रकार की कोई उलझन नहीं—

सब बुझे दीपक जला लूँ।

घिर रहा तम आज दीपक-रागिनी अपनी जगा लूँ।

दीप मेरे जल अकम्पित,

धुल अचंचल।

पय न भूले एक पग भी,

घर न खोये, लघु वहग भी,

स्निग्ध ली की तूलिका से

आँक सब की छाँह उज्ज्वल!

जब साधारण से साधारण भावात्मक काव्य सहृदय-संवेद्य होने के कारण सर्वसंवेद्य नहीं हो पाता तब सब की उज्ज्वल छाँह आँकने वाला सर्वोदयी रहस्य-काव्य यदि सहृदय-विशेष की अपेक्षा रखे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

महादेवी जी ने अपने गीतों की तुलना विहगों से की है, जिसका आशय यह जान पड़ता है कि पंछी को उड़ान सिखाई नहीं जाती, वह स्वयं उड़ना सीख लेता है। इसी प्रकार रहस्यानुभूति बौद्धिक चिंतन, योगाभ्यास या समाधि-साधना की चेरी न हो कर स्वतः स्फूर्ति भी होती है। जिस प्रकार आकाश में उड़ान भर कर भी पंछी धरती से बँधा रहता है, उसी प्रकार कवि भी परा चेतना के आकाश में उड़ते हुए भी लोकजीवन से संबद्ध रहता है। पंछी की उड़ान धरती की सीमा में बन्दी नहीं रहती, फिर भी धरती में स्थित अपने नीड़ को वह कभी नहीं भूलता। कवि सूक्ष्मतम चैतन्य को अपनाते हुए भी क्षिति प्रकृति और स्थूल

जीवन के प्रति सदैव सजग और चेतन रहता है—लोकजीवन के स्थूल धरातल से ऊपर उठ कर भी लोक को अपनी अनुभूति में समाहित किए रहता है—

मेरे ओ विहग से गान !

सो रहे उर-नीड़ में सृदु पंख सुख-दुख के समेटे,
 सघन विस्मृति में उनींदी अलस पलकों को लपेटे,
 तिमिर सागर से घुले दिशि-कूल से अनजान!
 खोजता तुमको कहाँ से आ गया आलोक-सपना,
 चौंक तोले पंख तुमको याद आया कौन अपना,
 कुहर में तुम उड़ चले किस छाँह को पहचान?
 नभ अपरिमित में भले हो पंथ का साथी सवेरा,
 खोज का पर अन्त है यह तृण-कणों का लघु बसेरा,
 तुम उड़ो ले धूलि का करुणा सजल वरदान।

कहने की आवश्यकता नहीं कि कवयित्री विश्व के लिए करुणा, स्नेह और सहानुभूति के उत्कर्ष में ही आध्यात्मिक आलोक की सार्थकता स्वीकार करती है।

वास्तव में महादेवी जी के आध्यात्मिक उत्कर्ष में काव्य, दर्शन और जीवन का ऐसा समन्वय पाया जाता है, जो भारतीय तत्व दर्शन की गहन से गहन और सूक्ष्म से सूक्ष्म उपलब्धियों को भावात्मक स्थिति दे कर अत्यन्त सरस और सहज रूप देने में सक्षम है। उन्होंने अखिल जीवनव्यापी सुख-दुख, मिलन-विरह, स्मृति-विस्मृति, आदर्श-यथार्थ, प्रकृति-संस्कृति को ही नहीं, विश्व-जीवन के उपसंहार मृत्यु को भी एक नया रूप और नई सार्थकता प्रदान की है—

तू धूल-भरा ही आया।

ओ चंचल जीवन-वाल ! मृत्यु-जननी ने अंक लगाया !
 पलकों पर घर-घर अगणित चुम्बन,
 अपनी साँसों से पोंछ वेदना के क्षण,
 हिम-स्निग्ध करों से वेसुध प्राण सुलाया !
 नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,
 तन सजल घटा-सा तड़ित छटा-सा उर दे
 हँस तुझे खेलने फिर जग में पहुँचाया !

इन पंक्तियों में जीवात्मा के अमरत्व और पुनर्जन्म की भारतीय मान्यता काव्य के सरस भावात्मक रूप में प्रस्फुटित हो कर सर्वजन सुलभ बन गई है। इसकी अप्रस्तुत-योजना इतनी अनुभूतिप्रवण और मार्मिक है कि वह प्रस्तुत को एक विशेष रमणीयता और अर्थ-गौरव दे कर सहज ही बोधगम्य बना देती है।

केवल ग्रहणात्मक होने के कारण ज्ञान में आदान की ही प्रधानता रहती है। भाव बन कर ही वह प्रदान की स्थिति प्राप्त कर सकता है। ज्ञान की अपेक्षा भाव में साम्य और सम्प्रेषणीयता का प्रस्फुटन अधिक सहज और स्वाभाविक होता है। महादेवी जी ने अध्यात्म दर्शन को भावात्मक बना कर अनुभव रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह सब के लिए बोधगम्य ही नहीं, अनायास ही अनुभवगम्य भी बन गया है। वस्तु की सम्पूर्णता की उपलब्धि के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप तथा आध्यात्मिक प्रभाव का आकलन अनिवार्य ही रहेगा। यदि काव्य जीवन की अभिव्यक्ति और सम्पत्ति है तो उसे जीवन के चरम पुरुषार्थ अध्यात्म से वंचित कदापि नहीं किया जा सकता। महादेवी जी की राय से बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने रहस्य-काव्य को प्रेममय रूप दे कर लोकजीवन के लिए अधिक उपयुक्त और उपयोगी बना दिया है। उनके काव्य में ज्ञानमार्गी रहस्यकाव्य की शान्त रस की निष्क्रिय प्रवृत्ति प्रेम की भावात्मक सक्रियता में प्रफुल्लित और पुलकित हो कर आनन्द, सौन्दर्य, सत्य तथा शिव की प्राप्ति के वितरण और विकास का साधन बन गई है।

अध्यात्म में जगत्-जीवन से पलायन का पाठ पढ़ाने वालों के लिए महादेवी जी की ये पंक्तियाँ महीपथि रूप में पर्याप्त होनी चाहिए—

घिरती रहे रात !

न पथ खँवतीं ये गहनतम शिलायें,
न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशायें,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात!

०

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला!
घेर ले छाया अमा वन,
आज कज्जल अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन,
अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लीटते, दे झूल को संकल्प सारे;
दुखव्रती निर्माण उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला !

यह सच है कि आध्यात्मिक मनोवृत्ति सीमित क्षणिक-नश्वर पदार्थों और स्थितियों के प्रति उदासीन रह कर जीवन की चरम परिणति—आत्मबोध एवं आत्मसाक्षात्कार की ओर अधिक उन्मुख और संलग्न रहेगी, क्योंकि उसकी आस्था



मानव-जीवन के निरन्तर विकास-परिष्कार और विस्तार की ओर गतिशील रहती है। इस आस्था और भावना के द्वारा अध्यात्मवादी व्यक्तिगत स्वार्थ, वर्ग-भावना, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परिधि के परे सब के साथ समभावापन्न विश्व-मानव की वृहत् भूमिका में प्रतिष्ठित हो कर समस्त मानवता और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से आत्मीय भाव स्थापित करता है और व्यक्तित्व की उच्चतम दशा में सम्बर्द्धित हो जाता है। संक्षेपतः सत्ता की उच्चतम अवस्था में विकसन—आत्मा के भीतर सम्पूर्ण सत्ताओं का अनुभव करना, सब के साथ एकात्मभूत हो जाना ही आध्यात्मिक स्वभाव की प्रतिष्ठाभूमि है। यह अनुभव जीव को अहंभावजनित अज्ञान से ऊपर उठा कर आत्मस्थित ज्ञान और शान्ति का अधिकारी बना देता है।

मूल्यों की दृष्टि से भी हमें सम्पूर्ण के लिए अंश का, नित्य के लिए अनित्य का, प्रेम के लिए अहंकार का, आनन्द के लिए भौतिक सुख का, सर्जनात्मक मूल्यों के लिए असृजनात्मक मूल्यों का वलिदान करना पड़ता है। हमारा जीवन सापेक्ष और अपूर्ण है। अव्यात्म का रहस्य यही है कि वह सापेक्ष को निरपेक्ष की ओर तथा अपूर्ण को पूर्ण की ओर ले जाने का सतत प्रयत्न करता है, जो पूर्ण जीवन की वास्तविक अनुभूति है, क्योंकि अपूर्ण ही सापेक्ष है, पूर्ण निरपेक्ष है। कवयित्री की विराट अनुभूति में सभी प्रकार की सापेक्षताओं का स्वाभाविक समाहार है—

तंद्रिल निशीथ में ले आये

गायक तुम अपनी अमर वीन।

दमकी दिगन्त के अधरों पर

स्मित की रेखा-सी क्षितिज कोर।

आगये एक क्षण में समीप

आलोक तिमिर के दूर छोर।

धुल गया अश्रु में अरुण हास

हो गई हार जय में विलीन।

इस प्रकार सापेक्षताओं से ऊपर उठने की क्षमता, आत्मविश्वास और आत्मबोध की तीव्रतम शक्ति उनमें पाई जाती है। कुण्ठा या प्रतिक्रिया में विद्रोह की अदम्य शक्ति और नवोन्मेष के बीजों का पनपना कभी सम्भव नहीं होता और कुण्ठाजनित भावाकुलता लोक-हृदय के साथ इस प्रकार एकाकार नहीं हो सकती है।

लोकगीतमुल्लभ माधुर्य तथा सांस्कृतिक प्रतीकात्मकता की भूमि पर अपनी उत्कृष्ट अनुभूति एवं शिल्प-साधना से महादेवी जी का काव्य आने वाली अनंत पीढ़ियों को विस्मय-विमुग्ध करता रहेगा, इसमें दो मत नहीं हो सकते। प्रजात्मक

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

अपनी करुणामयी साधना की निरन्तरता के लिए ही उन्होंने पीड़ा और तृप्ति को स्वीकार किया है—

तुम मानस में बस जाओ छिप दुख के अवगुंठन से,
मैं तुम्हें ढूँढ़ने के मिस परिचित हो लूँ कण-कण से।

यही कारण है कि उनके आत्मनिवेदन में किसी प्रकार की दीनता नहीं, आत्मसम्मान तथा परिषेध के साथ आत्मशीप्ति ही परिलक्षित होती है।

स्पष्ट है कि महादेवी जी के काव्य में जीवन, जगत् और आत्मा का भावना ऐक्य, तीव्र अनुभूति, संगीतात्मक प्रवाह, मनोज्ञता और मनोरमता आदि गुण समन्वित हो कर धनीभूत रूप में मुखरित हो उठे हैं। इन सब की व्यावहारिक भिन्नता समात्मभाव के करुण सरस स्फुरण में उसी प्रकार तिरोहित हो जाती, जिस प्रकार विभिन्न घड़ों में व्याप्त आकाश की भिन्नता आकाश के व्यापकत्व में विलीन हो जाती है। काव्य, दर्शन और अध्यात्म की इस गीत-त्रिवेणी का अवगाहन पाठकों के प्राण, मन एवं आत्मा को पुलक से भरने में सहज ही सफल है।

पर-दुःख-कातर संवेदनशील कवयित्री जिस प्रकार संसार की पीड़ा, ताप को देख कर विह्वल हो उठती है, उसी प्रकार बादल भी संसार को सिक्त तथा स्निग्ध करने के लिए वेचैन हो उठे—

कहाँ से आए बादल काले?

कजरारे मतवाले ?

शूल भरा जग, धूल भरा नभ,

झुलसी देख दिशायें निष्प्रभ,

सागर में क्या सो न सके यह,

करुणा के रखवाले ?

आँसू का तन, विद्युत का मन,

प्राणों में चरदानों का प्रण,

धीरे पदों से छोड़ चले घर,

दुःख पाथेय संभाले।

करुणा की रक्षा करने वाले इन बादलों से कवयित्री का पूर्ण तादात्म्य है। उनकी स्पष्ट घोषणा है—

मैं गति विह्वल,

पाथेय रहे तेरा दृग-जल,

आवास मिले भू का अंचल,

मेरे करुणा की बाहक अभिनय।

राव के प्रति सहज रागात्मक तीव्रता का प्रतिफल होने के कारण महादेवी जी की इस करुणा ने उनके प्रणय भाव को आध्यात्मिक उच्चता में पहुँचा कर, उसे महाराग का पर्याय बना दिया है—

विरह का जलजात जीवन, विरह का जलजात !

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास ?

अश्रु चनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात !

जीवन विरह का जलजात !

जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज,

खिल उठे निरूपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात !

जीवन विरह का जलजात !

अन्त में महादेवीजी की प्रभातो-पंखितियों के साथ मैं पाठकों से विदा लेता हूँ—

रात के पथहीन तन में मधुर जिसके श्वास,

फैल भरते लघु कणों में भी असीम सुवास,

कंठकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,

सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,

बीती रजनि प्यारे जाग !

जाग वेसुध जाग !

महादेवी-काव्य की भूमिका

भारत-भूमि की अनुकूल परिस्थितियों के फलस्वरूप भारतीय जीवन-जगत् की गहन और रहस्यमय समस्याओं के समझने और उनका अनुभव प्राप्त करने में आदि काल से अगुआ रहे हैं। वेद से ले कर आज तक यह परम्परा अक्षुण्ण है। बिना किसी संकोच और द्विविधा के यह कहा जा सकता है कि यह पुण्य भूमि जीवन-जगत् के बहिरंतर तत्त्व-चिन्तन के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। ऋग्वेद के 'नारदीय सूक्त' में सृष्टि-विस्तार के अगम्य मूलतत्त्व और उससे विविध दृश्य-सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में जो विचार व्यक्त किए गए हैं, वे विश्व-इतिहास में प्राचीनतम होने के साथ-साथ अत्यन्त महत्वपूर्ण और मानवीय जिज्ञासा तथा प्रज्ञा के चरम निदर्शन भी हैं।

वास्तव में मनुष्य का जीवन साँसों और प्रश्नों का जीवन है। उसकी जिज्ञासा अनंत और असीम है। जीवन-जगत् सम्बन्धी जिज्ञासा के समाधान के लिए वह सदा से सतत् प्रयत्नशील रहता आया है। आगे किस लक्ष्य तक पहुँच कर उसकी यह जिज्ञासा शान्त तथा संतुष्ट होगी, कहा नहीं जा सकता। बहिर्मुखी प्रकृति के कारण प्रथमतः प्रकृति के स्थूल रूप पर ही उसकी दृष्टि जाती है और मनुष्य उसके स्थूल सुख-सुविधा का उपभोग करते हुए क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म रूप की ओर गतिशील होता है। प्रकृति के स्थूल-रूप के बीच में स्वच्छन्द विचरण करते हुए ही भारतीय मनीषियों ने उसके आन्तरिक-सूक्ष्म रूप के प्रति अपनी जिज्ञासा का विस्तार किया था। वस्तुतः उनकी शाश्वत-चिरन्तन सत्य की खोज, जिज्ञासा, बोध और ज्ञान में प्रकृति का योगदान सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

उनके मन में अदम्य जिज्ञासापूर्ण प्रश्न उठते हैं—हमारे चतुर्दिक फैली हुई प्रकृति का वास्तविक स्वरूप क्या है? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई। वह चेतन है कि अचेतन? यदि ब्रह्म समस्त जीवन-जगत् का मूल तत्त्व है तो वह ब्रह्म कौन है? जगत् से उसका क्या सम्बन्ध है? जीव क्या और कौन है? प्रकृति और ब्रह्म के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? उक्त प्रश्नों के अनुरूप वे प्रकृति तथा जीवन के बाह्यान्तर व्याप्त सत्य का साक्षात्कार करने के लिए लालायित एवं व्यग्र हो उठते हैं—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।

अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १-१

ब्रह्म को जानने और प्राप्त करने के लिए उसकी चर्चा करने वाले कुछ जिज्ञासु आपस में कहने लगे—वेदों में इस सृष्टि का मूल कारण ब्रह्म को बताया गया है, सो वह ब्रह्म कौन है? हम लोग किससे उत्पन्न हुए हैं—हमारा मूल क्या है? किसके प्रभाव से हम जी रहे हैं—हमारे जीवन का आधार कौन है? हमारी पूर्णतया स्थिति किस में है? हमारा अधिष्ठाता—व्यवस्था करने वाला कौन है? जिसकी रची हुई व्यवस्था के अनुसार हम लोग सुख-दुःख का भोग कर रहे हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत् की व्यवस्था करने वाला इसका संचालक कौन है?

इसी जिज्ञासा-जनित सत्संग में उन्होंने आगे कहा—‘वेद-शास्त्रों में सृष्टि के अनेक कारणों का उल्लेख है। कहीं काल को कारण बताया गया है, क्योंकि किसी न किसी समय पर ही वस्तुओं की उत्पत्ति देखी जाती है। कहीं स्वभाव को ही कारण बताया जाता है, क्योंकि बीज के अनुरूप ही वृक्ष की उत्पत्ति होती है। कहीं कर्म को ही कारण बताया है, क्योंकि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योनियों में विभिन्न स्वभाव से युक्त हो कर उत्पन्न होते हैं। कहीं आकस्मिक घटना अर्थात् होनहार (भवितव्यता) को कारण बताया गया है। कहीं पाँचों महाभूतों को तो कहीं जीवात्मा को ही जगत् का कारण बताया गया है। अतः हम लोगों को निश्चय-पूर्वक विचार करना चाहिए कि वास्तव में कारण कौन है? उपर्युक्त निर्दिष्ट कारण अलग-अलग तो क्या, सब मिला कर भी जगत् के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब जड़ होने के कारण चेतन के अधीन हैं, इनमें स्वतंत्र कार्य करने की शक्ति और क्षमता नहीं है। जीवात्मा चेतन होने पर भी जगत् का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी सुख-दुःख के हेतु भूत प्रारब्ध के अधीन है। वह भी स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं कर सकती। अतः कारण-तत्त्व कुछ और ही है।

इस प्रकार आपस में विचार करने पर जब युक्तियों तथा अनुमान के द्वारा वे किसी निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सके तब वे सब ध्यान-योग में स्थित हो गए—अपने मन और इन्द्रियों को बाहर के विषयों से हटा कर ब्रह्म को जानने के लिए उसी के चिन्तन-मनन में व्यस्त एवं तत्पर हो गए। ध्यान करते-करते उन्हें उसकी महिमा का अनुभव हुआ। उन्होंने उस पर ब्रह्म की स्वरूप भूत दिव्य-शक्ति का साक्षात्कार किया, जो अपनी ही प्रकृति के गुणों—स्वत्व, रज, तम से ढकी हुई त्रिगुणमयी प्रतीत होती हुई भी वास्तव में गुणातीत है। तब वे इस निर्णय

पर पहुँचे कि काल से ले कर जीवात्मा तक जितने कारण पहले बताए गए हैं, उन समस्त कारणों के अधिष्ठाता—ब्रह्म, जिसकी प्रेरणा से, जिसकी शक्ति के किसी अंश को ले कर सब अपने-अपने कार्य करने में समर्थ होते हैं, वही इस जगत्-जीवन का मूल कारण है, कोई दूसरा नहीं।

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १-२-३

स्पष्ट है कि दुर्दमनीय जिज्ञासा जीवन और जगत् के रहस्य-ज्ञान और बोध का वह प्रामाणिक प्रवेशपत्र या प्रवेश-द्वार है, जहाँ से अनुभूति भूमि का आरम्भ होता है। अपनी इसी जिज्ञासा की निरन्तरता तथा निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा मनुष्य जीवन-जगत् के निकट सम्पर्क में आ कर उसकी वास्तविकता का भाव-बोध प्राप्त करता है, क्योंकि जिज्ञासा ऐसी वृत्ति है, जो दृश्य के अन्तराल में अपने इच्छित विश्वासों और अपनी इच्छित आशाओं से मुक्त हो कर प्रवेश करती है और सभी स्थितियों, परिस्थितियों को पार करती हुई सत्य की उपलब्धि पर ही विश्राम करती है। मनुष्य की जिज्ञासा का सम्बन्ध चर-अचर, जड़-चेतन, सत्य-असत्य, सुख-दुःख, प्रेय-श्रेय, पर-अपर, व्यक्त-अव्यक्त आदि सब से है, किन्तु उसका मूल विषय सृष्टि के मूल कारण की खोज ही है। इसीलिए कहा भी गया है—‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’। वस्तुतः निखिल सृष्टि के प्रति जिज्ञासा का भाव ब्रह्म-जिज्ञासा का ही पर्याय है, क्योंकि वही सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है। वास्तव में जिज्ञासा एक ऐसी अन्तर्वृत्ति है, जिसकी परिणति अनुभूति में होती है। महादेवी जी की जिज्ञासा के कतिपय रूप इस प्रकार हैं—

कनक से दिन मोती सी रात, सुनहली साँझ गुलाबी प्रात,
मिटता रँगता वारम्बार कौन जग का यह चित्राधार?

●

किन उपकरणों का यह दीपक, किसका जलता है तेल?
किसकी वत्ति, कौन करता इसका ज्वाला से मेल?

●

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में!

सुरभि वन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास सा, वह कौन है?

ऐसी जिज्ञासा भावबोध की जननी है। इस भावबोध के उन्मेष से जीवन और

जगत् के रहस्य के प्रति एक अतृप्त प्रतीति और अनुभूति का उदय होता है, जिससे हमारी आस्था रिपर और हमारा ज्ञान निर्विकल्प हो जाता है—

मृत्यु का प्रस्तर-सा उर चीर, प्रवाहित होता जीवन नीर,
चेतना से जड़ का बंधन यही संसृति की हृत्कम्पन।

जीवन का यह बोध अनेकता में एकता का आकलन करता हुआ विभिन्न प्रतिभाशित होने वाले जगत् की तात्त्विक एकता का परिचय भी सुलभ कर देता है। कवयित्री ने नीचे की पंक्तियों में आत्मबोध के साथ सृष्टि के आदि का स्वरूप भी प्रत्यक्ष कर दिया है—

छिपाये थी कुहरे सी नींद, काल की सीमा का विस्तार,
एकता में अपनी अनजान, समाया था सारा संसार।
मुझे उसकी है धुंधली याद, बैठ जिस सूनोपन के फूल,
मुझे तुमने दो जीवन दीन, प्रभ शतदल का मैंने फूल।
उसी का मधु से सिक्त पराग, और पहला वह सौरभ-भार,
तुम्हारे छूते ही चुपचाप, हो गया था जग में साकार।

०

हो गया मधु से सिन्धु अगाध, रेणु से वसुधा का अवतार,
हुआ सौरभ से नभ वपुमान, और कम्पन से वही वयार,
उसी में घड़ियाँ पल अदिराम, पुलक से पाने लगे विकास,
दिवस रजनी तम और प्रकाश बन गए उसके श्वासोच्छ्वास।

इस कविता से यह भी स्पष्ट है कि महादेवी जी की आस्था एक ऐसी परम चेतन सत्ता में है, जो निखिल सृष्टि के मूल में स्थित है। अपनी सहज सृजनेच्छा से, केवल लीला के लिए, वह अपने से नानात्व का संचार एवं विस्तार करता है। सारा संसार उसी के हाथ का लीला-कमल है। नानात्व में व्यक्त हो कर भी उसकी व्यापक अव्यक्त सत्ता की अखण्डता अक्षुण्ण बनी रहती है। विश्व की जड़-चेतन सभी सत्ताओं में विविध रूपों से वही प्रतिष्ठित है। उस चिन्मय का अक्षय महात्म्य ही इस सब दृश्य-प्रपञ्च का रहस्य है। सब प्राणी, सब पदार्थ, सारी प्राणशक्ति, सारी प्रकृति उसी के भूत भाव हैं। संक्षेपतः यह सारा विश्व उसी का प्राकृत आत्म-विस्तार है। वस्तुतः सभी कुछ उसी के नित्य अंश का अनित्य प्राकट्य है। उसी पूर्ण पुरुष की चिन्मात्र सत्ता का ही रूप आनंद है। स्वभावतः जीवात्मा से उसका सहज स्वाभाविक स्नेह-सम्बन्ध और सत्य है। महादेवी जी ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

मैं तुमसे हूँ एक, एक हूँ जैसे रश्मि-प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास।
मुझे बाँधने आते हो लघुसीमा में चुपचाप,
कर पाओगे भिन्न कभी क्या ज्वाला से उत्ताप ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिज्ञासा बुद्धि की सीमा में स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब को ज्ञेय रूप में प्रत्यक्ष कर सकती है और हृदय की परिधि में सब को संवेदनीय भी बना सकती है। विश्व के मूल सत्य से सम्बंधित जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे से गतिशील होती है तब उसके तर्कसिद्ध बौद्धिक सामान्यीकरण दर्शन को जन्म देते हैं और जब वह हृदय की संवेदनीयता तथा अनुभूति से भावात्मक रूप में संचरित होती है तब उसके सामान्यीकरण आध्यात्मिक काव्य-सृष्टि का उद्भव करते हैं। सत्य की खोज तथा उपलब्धि दोनों का चरम लक्ष्य एवं अभीष्ट है। विश्व-साहित्य की प्राचीनतम अभिव्यक्ति—वैदिक ऋचायें दर्शन और काव्य की ऐसी समन्वित सृष्टियाँ हैं, जिनके द्वारा जगत्-जीवन का शाश्वत सत्य अत्यंत सरसता के साथ व्यक्त हो कर बोधगम्य बनता है। यों भी सत्य की उपलब्धि के लिए जिस बुद्धि और भाव-ज्ञान तथा अनुभूति का सम्यक संयोजन आवश्यक तथा अनिवार्य रहता है, वह काव्य में सरसता के माध्यम से जिस सर्व सुलभ रूप में अभिव्यक्त होता है, अन्यथा किसी तरह सम्भव नहीं। इसी अद्वितीय क्षमता के कारण विश्व के कई मनीषियों ने काव्य को दर्शन की पूर्णता के रूप में स्वीकार किया है।

कवि तथा दार्शनिक के विषय में महादेवी जी की मान्यता उल्लेखनीय है—

“कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है, वे दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोगों की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ कर के उसे सूक्ष्म विन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वहीं बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूब कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत् का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध करा कर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देख अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सार्वत्रिक जिन रेखा पर बढ़ कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है, वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी

और वेदान्त जिस क्रम से चल कर गत्य तक पहुँचता है, उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न मूढम विन्दु तक पहुँचाने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना और अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन में चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य में अनुभूति के प्रति अविन्यासी कवि की स्थिति अगम्य ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को मूल्य प्रमाणित कर के भी दार्शनिक बुद्धि के मूढम विन्दु पर विश्राम कर सकता है, परन्तु वह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को छाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

मनष्य के अन्तर्जगत् का विकास उसके मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत होते चलता है, परन्तु इन परिष्कार का क्रम इतना जटिल होता है कि वह निश्चित रूप से बुद्धि या भावना का मूल पकड़ने में असमर्थ ही रहता है। अभिव्यक्ति के बाह्य रूप में बुद्धि या भाव-पक्ष की प्रधानता ही हमारी इस धारणा का आधार बन सकती है कि हमारे मस्तिष्क का विशेष परिष्कार चिन्तन में हो सका है और हृदय का जीवन में। एक में हम बाह्य जगत् के संस्कारों को अपने भीतर ला कर उनका निरीक्षण-परीक्षण करते हैं और दूसरे में अपने अन्तर्जगत् की अनुभूतियों को बाहर ला कर उनका मूल्य आँकते हैं।

चिन्तन में हम अपनी बहिर्मुखी वृत्तियों को समेट कर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अपना बौद्धिक समाधान करते हैं, अतः कभी-कभी वह इतना ऐकान्तिक होता है कि अपने से बाहर प्रत्यक्ष जगत् के प्रति हमारी चेतना पूर्ण रूप से जागरूक ही नहीं रहती और यदि रहती है तो हमारे चिन्तन में बाधक हो कर। दार्शनिक में हम बुद्धि-वृत्ति का ऐसा ही ऐकान्तिक विकास पाते हैं, जो उसे जैसे-जैसे संसार के अव्यक्त सत्य की गहराई तक बढ़ाता चलता है वैसे-वैसे उसके व्यक्त रूप के प्रति वीतराग करता जाता है। वैज्ञानिक के निरन्तर अन्वेषण के मूल में भी यही वृत्ति मिलेगी, अन्तर केवल इतना ही है कि उसके चिन्तनमय मनन का विषय सृष्टि के व्यक्त विविध रूपों की उल्लंघन है, उन रूपों में छिपा हुआ अव्यक्त सूक्ष्म नहीं। अपनी-अपनी खोज में दोनों ही वीतराग हैं, क्योंकि न दार्शनिक अव्यक्त सत्य से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रेरणा पाता है और न वैज्ञानिक व्यक्त जड़ द्रव्य के विविध रूपों में रागात्मक स्पर्श का अनुभव करता है। एक व्यक्त रहस्य की गहराई तक पहुँचना चाहता है, दूसरा उसी के विस्तार की सीमा तक; परन्तु दोनों ही दिशाओं में बुद्धि से अनुशासित हृदय को मौन रहना पड़ता है,

इसी से दार्शनिक और वैज्ञानिक जीवन का वह सम्पूर्ण चित्र, जो मनुष्य और शेष सृष्टि के रागात्मक सम्बन्ध से अनुप्राणित है, नहीं दे सकते।

साहित्य (काव्य) में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती हैं जैसे धूपछाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत् त्याज्य है और न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं। जीवन का वह असीम और चिरन्तन सत्य, जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता ले कर साहित्य में व्यक्त होता है।

काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सब से अधिक अपेक्षित है। काव्य की उत्कृष्टता किसी विशेष विषय पर निर्भर नहीं, उसके लिए हमारे हृदय को ऐसा पारस होना चाहिए जो सब को अपने स्पर्श-मात्र से सोना कर दे। कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिए ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है। जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या, धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुप-युक्त नहीं ठहरता। यह समस्या तो तब उत्पन्न होती है जब वह अपनी कला को ज्ञान-विशेष का एकांगी, शुष्क और बौद्धिक अनुवाद मात्र बनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव जगत् से सौन्दर्य पा कर साकार होता है, तब उसके सत्य में जीवन का स्पंदन रहेगा, बुद्धि की तर्क-शृंखला नहीं। ऐसी स्थिति में उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे बढ़ती है, अतः सम्पूर्ण जीवन को गला-पिघला कर तर्क-सूत्र में परिणत कर लेना, उसका लक्ष्य नहीं हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि की संख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने के लिए कला-सृजन होता है। अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवन-व्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं। जो सम-विषम परिस्थितियों की भीड़ में नहीं मिल जाता,

सरल-कठिन संपर्कों के भेले में नहीं खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखों की छाया में नहीं छिप जाता, वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्य-जगत् के दर्शन में उतना ही अन्तर रहेगा, जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनंत रंग-रूपों से बसे हुए आकाश में मिलता है।

वास्तव में कलाकार जीवन का ऐसा संगी है, जो अपनी आत्म-कहानी में, हृदय की कथा कहता है और स्वयं चल कर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नहीं, किन्तु अपनी अनुभूति दूसरों तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। अपने अनुभवों की गहराई में वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है, उसे दूसरे के लिए संवेदनीय बना कर कहता चलता है। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमें अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते हैं, परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य कर के प्राप्ति का सुख देती है। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी रावल है उतनी बुद्धि नहीं। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राग हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।'

इस विस्तृत उद्धरण से काव्य और दर्शन की विशेषताओं से अवगत होने के साथ ही हम महादेवी जी के जीवन-दर्शन से भी अनायास ही परिचित हो कर उनके काव्य-लोचन के प्रति अधिक प्रबुद्ध हो जाते हैं, क्योंकि हमें इसका पूर्ण बोध हो जाता है कि उनके काव्य का मूल स्वर जीवन की स्वीकृति और उसमें निहित आव्यात्मिक तत्त्व की आस्था का ही स्वर है। अन्तर्मन से जीवन को अस्वीकार करके कोई भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता, क्योंकि काव्य-सृष्टि के लिए जीवन की स्वीकृति नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है।

आदिकवि वाल्मीकि और बौद्ध कवि अश्वघोष की काव्य-विवेचना में भी इन्होंने अपने जीवन-दर्शन को स्पष्ट किया है—'आदिकवि के हृदय में कथा की प्रेरणा किसी समाधि-स्थिति से नहीं उद्भूत हुई, वरन् वह एक लघुकाय, अल्पप्राण पक्षी की वेदना से निःसृत हुई है। क्रीच के शोक से तादात्म्य कर के ऋषि को आदिकवि की पदवी और श्लोक की छन्दमयता ही नहीं प्राप्त हुई, उससे उन्हें मानव-जीवन के महागीत के लिए स्वर, लय और ताल खोजने की प्रेरणा भी मिली। प्रकृति के कठोर और कोमल, सुन्दर और विरूप, लघु और विशाल सब रूपों से कवि की सहज हार्दिकता और आत्मीयता है।'

कवियित्री ने येरगाथाओं की चर्चा करते हुए कहा है—'प्रकृति का ऐसा सूक्ष्म निरीक्षण, उसके विविध रूपों के साथ मन का ऐसा लगाव और उसकी ऐसी सहज रागमयी अभिव्यक्ति, इन गाथाओं को हमारे हृदय के निकट ले आती है। जिस

धरती के जीवन से मुक्त होने की साधना है, वही अपने विविध रूपात्मक सौन्दर्य से ऐसी साधना की शक्ति देती है। धरती की ऐसी आसक्ति अन्यत्र दुर्लभ हो तो आश्चर्य नहीं। विरक्ति सहज है, परन्तु आसक्ति द्वारा विरक्ति की साधना, प्रकृति और जीवन की किसी तात्त्विक एकता का संकेत देती है।'

‘अश्वघोष के समक्ष आन्तरिक और बाह्य जो सीमायें हैं, उन पर विचार करके जब हम उनके काव्य की परीक्षा करते हैं तो विस्मित हुए बिना नहीं रहते। वे विश्वास से बौद्ध हैं, उनकी बुद्धि लोक और जीवन को दुःखात्मक तथा अज्ञान-सम्भव मानती है, अतः उसके किसी सौन्दर्य को दृष्टि का विषय बनाना, असंगत ही नहीं, बोध तथा निर्वाण के मार्ग में बाधक भी है। बुद्ध की जीवन-कथा बोध-प्राप्ति की साधना, उपलब्धि और संसार को आलोक-दान की अमर गाथा है, अतः उनके परिवेश में जो अनेक मोहान्व व्यक्तित्व दृष्टिगत होते हैं, उनका स्नेह और स्नेह-जनित व्यथा, भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं। पर धार्मिक रुढ़ियों और दार्शनिक मान्यताओं के साथ भी बौद्ध अश्वघोष कवि अश्वघोष से परास्त हो जाता है, अन्यथा संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में एक मूल्यवान कड़ी खो जाती।’

महाकाव्य का अभिप्रेत, समग्र परिवेश के साथ जीवन की कथा होने के कारण विविध आकर्षण-विकर्षण, करतव्य-प्रमाद, जय-पराजय आदि कवि की सूक्ष्म दृष्टि और हृदय की निर्विकल्प संवेदनशीलता की अपेक्षा रखते हैं। कवि का सौन्दर्यबोध भी उसकी जीवन और जगत् के प्रति आस्था से सम्बद्ध रहता है। यदि वह जीवन और जगत् को दुःखात्मक भ्रम-मात्र मानता है तो उसके निकट, उसमें न सौन्दर्य या सामंजस्य की अनुभूति सुलभ रहती है न सौन्दर्य या सामंजस्य की स्थिति उत्पन्न करने के प्रयास की आवश्यकता। इन स्थापनाओं में उनका अपना जीवन-दर्शन स्पष्टतया प्रतिबिम्बित है।

कवि का विषय जीवन की समग्रता है, वस्तुतः उसका सत्य दर्शन का बौद्धिक सत्य न हो कर जीवन का हार्दिक सत्य होता है। राजा जनक अपने दार्शनिक उन्मेष में विदेह माने जाते हैं। दार्शनिक के मत से नश्वर जीवन की नश्वरता पर शोक करना भ्रम है। गत-अनागत की चिन्ता व्यर्थ है। परन्तु हमारा जीवन इसे सहज रूप से स्वीकार नहीं करता। दार्शनिक विदेह मिथिला को जलती हुई देग कर तटस्थ भाव से कह सकता है—‘प्रदीप्तायां मिथिलायाम् न मे दहति किञ्चन’। इस जलती हुई मिथिला में गेरा कुछ नहीं जल रहा, किन्तु जीवन के रागात्मक सम्बन्धों से मर्यादित वही विदेह अपनी पुत्री सीता को आपसी वेश में देग कर वात्सल्य के प्रवाह में स्वभावतः बह जाता है—

‘लीन्टि रॉय उर लाय जानकी, मिटी महा मरजाद ज्ञान की।’ यही भावयोग कवि का प्रमुख आशय-संग्रह है।

यह तो निश्चित है कि मानव-जीवन के नाना ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, शास्त्र, नीति, कला एवं साहित्य, सभी का मुख्य उद्देश्य सत्य की खोज एवं उपलब्धि है, किन्तु साहित्य को तोड़ कर ज्ञान की सभी मांगायें जीवन की सम्पूर्णता से नहीं, वरन् उसके अंग-विभाग में ही सम्पन्न करनी हैं। कारण यह कि साहित्य की दृष्टि—विशेष कर काव्य-रचना प्रातिभ महजानुभूति में प्राप्त प्रातिभ ज्ञान से संचरित होती है। इसलिये प्रातिभ विभाग बौद्धिक विवेचना से सिद्ध नहीं किये जा सकते, ऐसे आत्मा की अन्तर्गत अनुभूति के द्वारा ही हृदयंगम किया जा सकता है। इन ज्ञान को किसी अन्य में प्रकाश या दृष्टि उधार लेने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके पास स्वयंप्रकाश निज ही दृष्टि रहती है। अलग-अलग स्थिति रखते हुए भी जिन प्रकार हमारी दोनों आँखें साथ ही देखती हैं उसी प्रकार प्रतिभा के उन्मेष में हमारी प्रज्ञा भी सहयोग करती है। आगम यह कि प्रातिभ ज्ञान में प्रज्ञात्मक ज्ञान का अन्तर्भाव निरन्तर बना रहता है। किसी वस्तु या विषय के प्रातिभ ज्ञान के साथ-साथ उगता बौद्धिक ज्ञान महज ही उपलब्ध हो जाता है। जैसे अन्य प्रकार-वर्णों को अपने में अन्तर्भूत कर सूर्य वस्तुओं को अपने ही प्रकाश से प्रकाशित करना है वैसे ही प्रतिभा प्रज्ञा को अपने भीतर समाहित कर वस्तु का बुद्धि-निरपेक्ष ज्ञान प्रदान करती है। समस्त प्रज्ञात्मक ज्ञान प्रतिभा के आलोक में उद्भासित हो उठते हैं—प्रातिभ अनुभूति के अभिन्न अंग बन जाते हैं। इसीलिए जहाँ विज्ञान मान हो जाता है, दर्शन ‘नेति-नेति’ का सहारा लेता है, धर्म ईश्वर की ओट खोजता है वहाँ भी काव्य अपनी यात्रा में आगे बढ़ता रहता है, क्योंकि वह संगार को इन्द्रियों द्वारा नहीं, वरन् आत्मा के द्वारा देखता है और इन स्थिति में उसके शिथिल होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अपनी इसी आन्तर क्षमता के कारण मानव-ज्ञान की अन्य अनेक प्रणालियों का काव्य पथ-प्रदर्शक तथा अगुआ रहा है। ‘यह क्रम अकारण और आकस्मिक न होकर सकारण और निश्चित है, क्योंकि जीवन में चिन्तन के शैशव में ही भावना तरुण हो जाती है। मनुष्य ब्राह्म संसार के साथ कोई बौद्धिक समझौता करने के पहले ही, उसके साथ एक रागात्मक सम्वन्ध स्थापित कर लेता है, यह उसके शिशु-जीवन से ही स्पष्ट हो जायगा। यदि हम मनुष्य के मस्तिष्क के विकास की तुलना फल के विकास से करें, जो अपनी सरसता में सदा ही परमिit है, तो उसके हृदय के विकास को फूल का विकास कहना उचित होगा, जो अपने सौरभ में अपरिमित

होकर ही खिला हुआ माना जाता है। एक अपनी परिपक्वता में पूर्ण है और दूसरा अपने विस्तार में।

‘हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर, उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है, जो इन्द्रियजन्य ज्ञान-सा अनायास, पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है, जो ग्रहण-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्द गुण नहीं व्यक्त करता। इसी कारण से ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस संस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देने वाला सौन्दर्यबोध भी सहज कर देता है। जैसे रूप, रस, गंध आदि की स्थिति होने पर भी, करण (इन्द्रिय) के अभाव या अपूर्णता में, कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अघूरे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्क क्रम से स्वतंत्र ज्ञान रहा।’ कहना न होगा कि आत्मानुभूत ज्ञान की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य अध्यात्म का ही अभिन्न अंग है।

जो भी हो, यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सत्य की खोज का प्रश्न ही क्यों उठता है? जगत की स्थिति और उसकी गतिविधि का ज्ञान हमको अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होता रहता है, जो कुछ कमी रह जाती है उसे हम अन्तःकरण—बुद्धि से पूरा कर लेते हैं। इस प्रकार जगत् का जो स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है, उसकी वास्तविकता में सन्देह करने का कारण क्या है? हम सहज रूप से इसे क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि जो कुछ जैसा है वैसा ही हमें दिखायी पड़ता है—हमको सत्य का ही साक्षात् हो रहा है?

तनिक गम्भीरता से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभव पर सन्देह करने का पर्याप्त अवकाश है। अनुभव का आधार हमारा चित्त है। आँखें खुली हों, कान खुले हों, पर यदि चित्त कहीं और व्यस्त तथा लीन है तो सामने की वस्तु नहीं दीख पड़ती, समीप का शब्द नहीं गुनायी पड़ता, क्योंकि बाहर की वस्तु का प्रभाव जब तक हमारे चित्त को अभिभूत नहीं करता तब तक हमें अनुभव नहीं होता। वस्तुतः जो अनुभव हमें होते हैं उगमों चित्त की ओर से भी कुछ न कुछ मिलावट अवश्य ही की जाती होगी। अस्तु, जो अनुभूति हमको किसी वस्तु की होती है, उसमें से चित्त का धर्म या गुण घटाने के पश्चात् ही हम उसका वास्तविक गुण या स्वरूप समझ सकते हैं। स्वभावतः

वस्तुओं के सामान्य धर्म आकृति, रंग, स्पर्श तथा गंध आदि में से किसी का भी यथार्थ अव्यवहित ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से सम्भव नहीं, इसे धर्म-दर्शन ही ने नहीं। विज्ञान ने भी प्रमाणित कर दिया है।

नित्यप्रति हम न जाने कितनी रंगीन वस्तुओं को देखते हैं—लाल, पीली, नीली, काली तथा हरी एवं सफेद रंगों की वस्तुएँ दिखायी पड़ती हैं। विज्ञान जानता है कि प्रकाश की किरणें लहरों के रूप में चलती हैं और हमारी आँखों में वेग करती हैं। प्रकाश की लहरों के धक्के से आँख का पर्दा प्रताड़ित होता है, उसके संघात से नाड़ी-नन्तु प्रकम्पित होता है, उनके कम्पन से मस्तिष्क का चाक्षुषन्द्र धुँव हो उठता है और उस क्षोभ के साथ हमको अपने अन्तःकरण में रंगों की अनुभूति होती है। यह ध्यान देने की बात है कि जिन वस्तु से प्रकाश की लहरें चलीं वह कहीं बाहर है और रंग का अनुभव हमारे अन्तःकरण में होता है। अस्तु, रंग का यह अनुभव केवल इतना ही प्रकट करता है कि बाहर केवल प्रकाश-तरंग और तरंग फेंकने वाली वस्तु है, किन्तु रंग हमारे अन्तःकरण में है, जिसे हम भ्रमवश उस वस्तु का गुण मान लेते हैं। स्पष्ट है कि हमको केवल अपनी अनुभूति का ज्ञान होता है और वस्तु का ज्ञान अनुमित मात्र है। इसी तरह शब्द भी या तो वायु की लहर है या गति और रंग भी प्रकाश की लहर है या गति। दोनों का आधार लहर या गति है पर वान उसे शब्द कहता है और आँख उसे रंग कहती है। यही स्थिति स्पर्श, रस तथा गंध की भी है। इस प्रकार रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द आदि सभी हमारे भीतर हैं—हमारी मानस अनुभूतियाँ हैं। हमारे बाहर केवल भाँति-भाँति की लहरें हैं। जब तक इन लहरों का हमारी इन्द्रियों से संयोग नहीं होता तब तक कुछ नहीं है। यह हमारा अनुमान मात्र है कि बाहर की वस्तु के ही ये गुण हैं। यह भी निश्चय नहीं कि वस्तु एक ही है या कई हैं। तब इसे इस प्रकार क्यों न माना जाय कि किसी एक ही अविकार्य वस्तु पर मनुष्य की भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ अपनी ओर से शब्द, रूप, रस, गंध आदि अनेक नाम रूपात्मक गुणों का अव्यारोप करके नाना प्रकार के दृश्य बनाती-बिगाड़ती रहती हैं।

यह जगत् अपने नाम के अनुसार ही जंगम है पर हम इसको स्थावर रूप में ही देखते हैं। रसायनशास्त्री का कहना है कि आल्पीन के सिर के बराबर वर्ष के टुकड़े में १०, ००, ००, ००, ००, ००, ००, ००, ००० अणु हैं और ये आपस में प्रति सेकण्ड हजारों बार टकराते हैं। यही दशा दूसरे द्रव्यों की है। भौतिक विज्ञान इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि अणुओं के अंगभूत परमाणुओं के भीतर विद्युत्कण हैं। हाइड्रोजन परमाणु के चारों ओर एक ऋण विद्युत कण प्रति सेकण्ड एक लाख कोस से भी अधिक वेग से घूमता रहता है। परन्तु हमको जगत की यह

जंगमता, यह गति, यह चलनशीलता दिखायी नहीं पड़ती। यद्यपि इस जगत् का छोटे से छोटा टुकड़ा तीव्र गति से फड़क रहा है पर हमारे सामने यह नितान्त निश्चेष्ट-सा पड़ा रहता है। अतः हमारे अन्तःकरण में इसकी जो अनुभूति है, वह सदोप है। स्पष्ट है कि हमारी बाह्यान्तर इन्द्रियों का ज्ञान अपूर्ण एवं अविश्वनीय है।

महादेवी जी ने ठीक ही लिखा है—‘हमारे चारों ओर एक प्रत्यक्ष जगत् है। उसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्रों तक एक विस्तृत करण-जगत बन चुका है और बनता जा रहा है। बाह्य जगत के सम्बन्ध में विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है, उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान में सबसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी अविश्वनीय प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नहीं, पूर्णता में भी दृष्टि, रंगों के अभाव में रंग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपों की उपस्थिति में भी उनकी यथार्थता बदल सकती है’। इस प्रसंग में कवयित्री की एक उक्ति का स्मरण आ रहा है—‘दृष्टि का निक्षेप है वस रूप-रंगों का वरसना’।

और तो और, दिक् तथा काल की भी स्वतंत्र सत्ता संदिग्ध है। यद्यपि दिक् और काल हमारी किसी इन्द्रिय का विषय नहीं हैं, फिर भी दिक्-काल की सत्ता का हमें अनुभव होता है। इसे मनुष्य का इन्द्रियातीत चेतनात्मक बोध या अनुभव माना जाता है हम दिक् में आगे-पीछे, दायें-बायें तथा काल में भूत, वर्तमान, भविष्यत् आदि का विभेद कर लेते हैं, किन्तु ये सभी भेद आपेक्षिक हैं। इनकी स्वतः स्वतंत्र सत्ता नहीं है, ये अनुभव करने वाले पर—दर्शन की भाषा में द्रष्टा या ज्ञाता पर ही निर्भर हैं। इस वाक्य को लीजिए—‘चोटी पर वर्ष जमी है’, चोटी और वर्ष की अलग-अलग अनुभूति तो होती है, परन्तु ‘पर’ की नहीं होती। वस्तुतः पर, ऊपर, नीचे, दायें-बायें, पहले, बाद आदि सम्बन्ध हमारे गढ़े हुए हैं। अस्तु दिक् और काल के अवयवों की स्वतंत्र सत्ता में सन्देह किया जा सकता है। सम्भवतः दिक् और काल की प्रतीति भी अनुभूतियों पर ही निर्भर है। तब यह क्यों न माना जाय कि दिक् तथा काल भी हमारे अन्तःकरण के बाहर नहीं हैं—अन्तःकरण से पृथक् नहीं हैं, अन्तःकरण के ही धर्म हैं?

जिस तरह अन्तःकरण अपनी अनुभूतियों में दिक्काल का सम्बन्ध स्थापित करता है उसी प्रकार वह निमित्त या कार्य-कारण का भी सम्बन्ध जोड़ता है। जहाँ वह एक अनुभूति को पहले-पीछे का क्रम देता है वही वह एक को दूसरे का कारण भी ठहराता चलता है। देय-काल और कारण का निश्चय कर लेना अन्तःकरण का स्वरूप है। यदि किसी प्रकार की अनुभूति न हो तो दिक्काल की प्रतीति होगी और

न कार्यकारण भाव की। तो फिर दिक्काल की तरह निमित्त भी अन्तःकरण का ही धर्म क्यों न माना जाय ?

यदि दिक्काल तथा कार्यकारण भाव हमारे अन्तःकरण के ही धर्म हैं तो वस्तु या वस्तुयें भी हमको अन्तःकरण में—अपने भीतर ही दीख पड़नी चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं। हम प्रत्यक्षतः वस्तुओं को मन के बाहर, शरीर के बाहर देखते हैं। जिस प्रकार हमको अपने संवेदन, विचार तथा अनुभूतियाँ, स्मृतियाँ अपने भीतर प्रतीत होती हैं उस तरह वस्तुयें नहीं होतीं, किन्तु यह भी सच है कि किसी वस्तु की स्थिति का पता हमें केवल अनुभूतियों के गुणों या लक्षणों के रूप में ही मिलता है और ये अनुभूतियाँ तो निश्चय ही हमारे चित्त में हैं। वस्तुतः इन अनुभूतियों—लक्षणों के अतिरिक्त हमें किसी वस्तु का और कोई परिचय या परिज्ञान नहीं मिलता। तो क्या यह सारा जगत् हमारा मनोराज्य है, चिद्विलास है ?

दर्शनशास्त्र की मान्यता है कि अस्मत्-युष्मत् के योग से ज्ञान उत्पन्न होता है, परन्तु यहाँ हम ऐसी स्थिति में पहुँच गये हैं जहाँ यह सारा प्रतीयमान संसार अस्मत् के संवितों के बाहर कोई अस्तित्व रखता नहीं जान पड़ता—सारा युष्मत् पक्ष अस्मत् चित्त में समाहित सा हो गया है। वस्तु की भाँति दूसरे जीवों की सत्ता भी अस्मत् के संवितों के अतिरिक्त और क्या है ? अस्तु अस्मत् के सिवा दूसरे जीव, चेतन हैं या नहीं, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है !

(२)

गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इस जगत् के दो विभाग स्पष्ट होते हैं—अस्मत्—मैं—ज्ञाता या द्रष्टा और युष्मत्—तुम—ज्ञेय या दृश्य। वस्तुतः मेरे लिये मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी है वह सब युष्मत्, ज्ञेय, दृश्य, मेरे बाहर है। दूसरा मनुष्य जो अपने लिये अस्मत् है मेरे सहित सब कुछ को युष्मत् रूप में ही देखेगा। परन्तु यह अस्मत्-युष्मदात्मक जगत् दोनों स्थितियों—दृष्टियों में अविभक्त तथा अखण्डित बना रहेगा। क्योंकि द्रष्टा के बिना दृश्य नहीं हो सकता और दृश्य के बिना द्रष्टा नहीं हो सकता।

हमने देखा कि कोई वस्तु है, जो आकाश में लहर उत्पन्न करती है और वह लहर हमारे नाड़ी-जाल से टकराकर एक विशेष कम्पन का कारण बनती है। यह कम्पन हमारे मस्तिष्क के उस केन्द्र तक पहुँचता है जो हमारी चक्षुरिन्द्रि का मुख्य अधिष्ठान है। स्पष्ट है कि ये सारी क्रियायें भौतिक जगत में ही हुई, किन्तु इसके परिणामस्वरूप हमें अपने अन्तःकरण में रंग शब्द की प्रतीत हुई। कम्पन भौतिक जगत में होता है रंग, गंध—शब्द की प्रतीत अन्तःकरण में होती है। इसके

विपरीत जब हमारे अन्तःकरण में संकल्प का निश्चय होता है तब भी मस्तिष्क में क्षोभ, नाड़ियों में कम्पन होता है और हमारा शरीर तदनुकूल क्रिया करने लगता है। प्रश्न यह है कि भौतिक जगत् आन्तरिक जगत् को और आन्तरिक जगत् भौतिक जगत् को कैसे प्रभावित करते हैं? सजातीय, सजातीय को प्रभावित कर सकता है, किन्तु चित्त एवं भौतिक जगत् प्रत्यक्षतः नितान्त विजातीय जान पड़ने पर भी परस्पर प्रभावित अवश्य होते हैं।

दृग्बिषय बाहर जगत् में होते हैं और विचारों की जिस प्रक्रिया से हम जिन नियमों तक पहुँचते हैं, वह मानसिक प्रक्रिया है। अपने अन्तःकरण में उद्भूत विचारों को हम बाह्य प्रकृति की कसौटी पर कसते हैं। चित्त का निर्णय है कि अमुक स्थान पर अमुक समय अमुक घटना घटनी चाहिए और वह घटती है। यह घटना-प्रवाह और विचार-प्रवाह का सामंजस्य कैसे होता है? तो क्या विश्व के नियम—प्राकृतिक नियम हमारे अन्तःकरण के विचारों के अनुवर्ती हैं और भौतिक जगत् हमारे चित्तवृत्तिमय जगत् की प्रतिच्छाया है?

यह भी हो सकता है कि चित्त वस्तु को अपने साँचे के अनुसार ही ग्रहण करता हो और उस अंश को, जो साँचे में नहीं समा पाता, छोड़ देता हो। पात्र पानी को उसके प्रवाह के रूप में नहीं, अपने ही आकार के अनुकूल ग्रहण करता है। अस्तु, यह मानने के लिये भी पर्याप्त प्रमाण नहीं है कि जगत् में चित्त के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। कुछ तो अवश्य ही है जो चित्त में अपने संवेदन प्रकट करता है। प्रमाण के प्रथम साधन प्रत्यक्ष के लिए विषय, इन्द्रिय और अन्तःकरण का सन्निकर्ष आवश्यक है। परस्पर प्रभावित होने के भी कारण स्पष्ट हैं। चित्त और भौतिक जगत् हमारे विकल्प के कारण ही विजातीय जान पड़ते हैं, वास्तव में विजातीय हैं नहीं। प्रकृति के तीन गुणों से ही दोनों की उत्पत्ति हुई है। यह तीनों गुण मिले रहते हैं, पर इनके अनुपात में अन्तर होने के कारण ही वस्तुओं में विभेद दीख पड़ता है। चित्त में सत्त्व, रज या तम हैं और भौतिक जगत् की प्रत्येक वस्तु में भी हैं। इस प्रकार वस्तु और चित्त के बीच में मूलतः कोई बहुत बड़ा व्यवधान नहीं, दोनों सजातीय हैं। एक-दूसरे पर इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया स्वाभाविक और सहज है। इस दृष्टि से विश्व एक और अखण्ड है। चित्त और भौतिक जगत् को हम एक ही सिक्के के दो पहलू मान सकते हैं। दोनों पहलू बराबर हैं, नित्य सम्पन्नि हैं और दोनों निरन्तर तथा युगपत् परिवर्तनशील हैं। हम अपनी सुविधा और सुगमता के लिये कभी एक पहलू पर ध्यान देते हैं तो कभी दूसरे पर और दोनों की परिवर्तनशीलता का कारण उन्हीं पहलूओं को मान बैठते हैं। चित्त को परिणत होता देखकर लगता है कि भौतिक जगत् ही इन परिणामों का कारण है और भौतिक जगत्

के परिवर्तनों का कारण चित्त में खोजने लगते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि दोनों के परिवर्तन के दो पहलू हैं जो सम्पूर्ण विश्व में घटित हो रहा है।

जो भी हो, हमारे बाहर कुछ ऐसा है जिसकी सत्ता है, जो हमें कभी फूल-रूप से प्रतीत होता है, कभी पर्वत-रूप से प्रतीत होता है, कभी सागर-रूप से प्रतीत होता है। यह ठीक है कि ये प्रत्यक्ष उस 'कुछ' के व्यावहारिक रूप हैं, उसके वास्तविक स्वरूप का हमको प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष का विषय केवल व्यावहारिक सत्ता होती है। उसकी वास्तविक, पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता का ज्ञान हमें नहीं होता। चित्त विक्षेप और अध्यास की अवस्था में व्यावहारिक रूप की जगह वह रूप दिखाई पड़ता है जिसे प्रातिभासिक सत्ता कहते हैं। रस्सी में साँप का प्रतिभास अध्यास के ही कारण होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिक जगत् की अबाध प्रतिपल की परिवर्तनशीलता और हमारे चित्त की सतत् चंचलशीलता सत्य की उपलब्धि में बहुत बड़ी बाधा है। हमारा चित्त वस्तु के सान्निध्य से उसके गुणों की प्रतीत तो करता है, परन्तु अपनी पुरानी वासनाओं, स्मृतियों के संस्कार से उसे इस प्रकार रंजित कर देता है कि उसका यथार्थ ज्ञान आच्छादित हो जाता है। इस स्थिति से प्राप्त ज्ञान को चित्त विलास के अतिरिक्त पूर्ण ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती। चित्त की शक्ति इन्द्रियाँ स्थूल शरीर-यंत्र के माध्यम से ही क्रियाशील होती हैं, इसलिये बहुत सूक्ष्म विषयों का ग्रहण कर सकना उनकी सीमा के बाहर है। इन्द्रियों की यह विवशता पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में स्वरूपतः बाधक है। कृत्रिम करण-यंत्रों के द्वारा इन्द्रियों की शक्ति को चाहे जितना बढ़ा लिया जाय, उनके द्वारा कभी वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

वस्तुतः ऊपर परिगणित तथा विश्लेषित इन तथा इन-जैसी अन्य अनेक उलझनों के कारण जीवन और जगत् के मूलसत्य का अन्वेषण और उपलब्धि कोई हँसी-खेल नहीं है। यों भी किसी वस्तु के बाहर रहकर उसका अनुशीलन सुकर तथा सुगम होता है, किन्तु अंश से अंशी को खण्ड से अखण्ड को समझना कठिन है। जिस जीवन और जगत् के सत्य की हम खोज करते हैं, उसी में हम भी हैं—उसीके अंश हैं। इसलिये जीवन एवं जगत् सम्बन्धी निर्णय हमारी अपनी सत्ता के लिये भी प्रामाणिक होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

यहाँ पर सत्य के स्वरूप को भी समझ लेना उचित है। साधारण रूप से यह कहा जा सकता है कि जिसकी सत्ता है, जो है, वह सत्य है। परन्तु सत्ता भी कई प्रकार की हो सकती है। एक सत्ता वह है जो केवल द्रष्टा पर निर्भर करती है। इसका अस्तित्व केवल अनुभूति-काल-मात्र में होता है और केवल उसी के लिये

होता है, जो अनुभव कर रहा है। ऐसी सत्ता को द्रष्ट सापेक्ष या जातृगत सत्ता कहते हैं। प्रातिभासिक सत्ता इसी का नाम है। स्पष्ट है कि ऐसी सत्ता हमारे काम की नहीं है। दूसरी प्रकार की सत्ता वह है जो चाहे कोई अनुभव करनेवाला हो या न हो उसकी सत्ता रहेगी। ऐसी सत्ता को दृश्य-सापेक्ष या क्षेत्रगत सत्ता कहते हैं। यह सत्ता अपने से भिन्न किसी दूसरे देखने वाले पर निर्भर नहीं है। इसे व्यावहारिक सत्ता कहा जाता है। व्यावहारिक सत्ता में भी विभिन्न दृष्टि-कोणों के कारण विकार की सम्भावना बनी रहती है। यदि सोना एक सत्य पदार्थ है, तब सोने की बनी सभी छोटी-बड़ी वस्तुयें सत्य हो जायेंगी। ये सब सोने के विकार हैं। जो वस्तु व्यावहारिक दृष्टि में मिश्री की डली है वही रासायनिक दृष्टि में कार्बन, आर्द्रजन और आक्सिजन के चंचल परमाणुओं का ढेर है और वही भौतिक-विज्ञान की दृष्टि में पिण्डीभूत वायु है। एक ही वस्तु दृग्विन्दु-भेद से तीन रूप पा लेती है, जो सत्य हैं। ऐसी सत्ता भी हमें पूर्णतया आश्वस्त नहीं कर पाती।

हमें उस निर्विकार सत्य की खोज है, जिसकी सत्ता चार प्रकार के अभावों से रहित सदा और सर्वत्र एवं नित्य हो अर्थात् त्रिकाल-अवाधित हो। यदि यह सिद्ध हो सके कि व्यावहारिक सत्ता का कोई शुद्ध, इन्द्रियों से अगोचर तथा नित्य एवं सूक्ष्म रूप है तब उस रूप की सत्ता को निर्विकार, अन्तिम, मूल अथवा पारमार्थिक—आध्यात्मिक सत्ता स्वीकार किया जायगा अन्यथा व्यावहारिक सत्ता से ही संतोष करना होगा।

आचार्य शंकर ने सत्ता के तीन स्तर स्वीकार किये हैं—प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। इन तीन प्रकार की सत्ताओं के अनुभव के अलग-अलग स्तर होते हैं। प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्य का अनुभव जनसाधारण के लिये सुलभ है, किन्तु पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति निश्चय ही विरल तथा साधना एवं संस्कारगत होती है।

आदिकाल से प्रायः सभी प्रबुद्ध भारतीय मनीषियों ने इस जगत्-जीवन का गहन अध्ययन, निरीक्षण-परीक्षण करने के पश्चात् इसके दो रूपों का अनुसंधान करके यह निर्णय किया है कि इसका एक रूप तो शाश्वत तथा सनातन है; सदा सर्वत्र रहने वाला, एकरस एवं देशकालातीत, अक्षर और चेतन है तथा दूसरा रूप नाशमान, परिवर्तनशील, केवल नाम-रूपात्मक एवं जड़ है। कुछ लोग इन दोनों तत्वों को स्वतंत्र तथा सनातन मानते हैं, परन्तु कुछ चिन्तक इनकी स्वतंत्र सत्ता न स्वीकार करके दूसरे को पहले का ही अपर-निष्ठ रूप मानते हैं। पहले तत्व को आत्मा कहा जाता है और दूसरे को प्रकृति या माया। गीता में भगवान् कृष्ण ने प्रकृति को अपनी ही शक्ति माना है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ गीता ९-१०

जो भी हो, यह दोनों को मान्य है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् प्रकृति की ही विकास व्यवस्था है, किन्तु इसके भीतर आत्मा नामक एक ऐसा तत्व है, जो जगत् के नाना परिवर्तनों के बीच में सदैव एकरस और अपरिवर्तनीय रूप से स्थायी बना रहता है। यह आत्मतत्त्व जैसे सारे संसार में व्याप्त है, उसी तरह मनुष्य के शरीर में भी उसकी स्थिति है। जितने अनुभव होते हैं, मुझको होते हैं। मैं ही इन अनुभूतियों का और इनके माध्यम से जगत् का साक्षी हूँ। मैं अपने पुत्र का पिता, पत्नी का पति तथा म. का वेटा हूँ। मेरा शरीर स्वस्थ-अस्वस्थ होता है, मेरी बुद्धि मन्द तथा तीव्र होती है, ज्ञान-अज्ञान मुझको होता है, मैं बालक था, मैं वृद्ध हो गया, मैं सर्वाङ्ग था, मैं अंग-भंग हो गया फिर भी मेरे मैं में कोई परिवर्तन नहीं आया। मेरे सभी सम्बन्धों, स्थितियों और अवस्थाओं में मेरा मैं ज्यों का त्यों बना रहता है। वस्तुतः यह मैं—मेरा आत्म रूप सत्य है। एक वाक्य लीजिए—कल रात मैं ज्यों ही सोया कि मैंने एक सुन्दर स्वप्न देखा। इसमें सोने वाला, स्वप्न देखने वाला और इन दोनों स्थितियों का बोध प्राप्त करने वाला मैं एक ही है।

हम देख चुके हैं कि बाहर की वस्तु या वस्तुयें हमारे अन्तःकरण में प्रभाव डालकर संवितों—अनुभूतियों की सृष्टि करती हैं और यदि हमारी ये चित्तवृत्तियाँ—अनुभूतियाँ यों ही आती-जाती रहें और इनका कोई स्थिर आधार न हो, कोई ऐसी वस्तु न हो जिस पर वृत्ति नष्ट होने के पहले अपना कुछ संस्कार अथवा कोई चिह्न छोड़ जाय तो एक बार की नष्ट हुई वृत्ति दूसरी बार जग ही नहीं सकती, पुराने अनुभवों की कोई स्मृति ही नहीं रह सकती, परन्तु ऐसा होता नहीं। अस्तु स्वप्न, स्मृति आदि की अनुभूतियों को धारण करने वाला ऐसा कोई स्थायी आधार अवश्य है, जो उन अनुभूतियों का द्रष्टा, ज्ञाता तथा साक्षी है और वही हमारी नित्य चेतन आत्मा है। वही हमारी सब वृत्तियों का संयोजन करता है और उन्हें धारण करता है। इसकी स्थिति इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ गीता ३-४२

स्थूल बाह्य पदार्थों के मान से उनको जानने वाली इन्द्रियाँ परे हैं। इन्द्रियों के परे मन है। मन से भी परे बुद्धि है और जो बुद्धि से भी परे है, वह आत्मा है।

कहना न होगा कि मनुष्य के जितने भी व्यापार होते हैं—मानसिक या शारीरिक, वे सब उसकी आन्तरिन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ही सम्पन्न करती हैं और 'चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा' के अनुसार यह भी स्पष्ट है

कि मनुष्य के इन्द्रिय समूह में मन तथा बुद्धि सर्वश्रेष्ठ हैं, किन्तु अन्त में वे भी अन्य इन्द्रियों की भाँति जड़ देह अथवा प्रकृति के ही विकार हैं। मन चिंतन करता है और बुद्धि निश्चित करती है, किन्तु इससे यह नहीं स्पष्ट होता कि आखिर मन और बुद्धि यह कार्य किसके लिये करते हैं? प्रायः मन और बुद्धि के कार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। इनमें सामंजस्य या एकीकरण किये बिना कोई ज्ञान नहीं हो सकता तब यह प्रश्न उठता है कि यह सामंजस्य या एकीकरण करने वाला कौन है? इन सब इन्द्रियों को अपना-अपना व्यापार करने की दिशा का निर्देश करने वाला कौन है? मनुष्य के जड़ शरीर से यह सब सम्भव नहीं, वस्तुतः इसके लिये कोई न कोई चेतन तत्व अनिवार्य है। यदि जड़ शरीर को छोड़कर मनुष्य की चेतना को ही इन्द्रियों का निर्देशक मान लें तो भी काम नहीं चलता, क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में प्राण का श्वासोच्छ्वास तथा दधिराभिसरण आदि चेतना के व्यापार क्रियाशील रहते हुये भी मनुष्य को मैं का ज्ञान नहीं रहता। अस्तु कहा जा सकता है कि प्राण अथवा चेतना-व्यापार भी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होने वाला एक प्रकार का विशिष्ट गुण ही है, वह इन्द्रियों के व्यापारों की एकता करने वाली मूल शक्ति नहीं है। वस्तुतः शरीर के सब व्यापार व्यवस्थापूर्वक चलते रहने के लिये मन, बुद्धि तथा प्राण, चेतना आदि के अतिरिक्त इनसे भिन्न किसी शक्ति का अस्तित्व अनिवार्य है। वही स्वसंवेद्य शक्ति हमारी आत्मा है। सांख्यशास्त्र में इसका नाम पुरुष है और वेदान्त में इसे आत्मा कहा जाता है। जर्मन तत्त्वज्ञ काण्ट ने भी इस तत्व को स्वीकार किया है।

मनुष्य शरीर और शरीर के अध्यक्ष—क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ—आत्मतत्त्व का निर्णय करने के पश्चात् मनीषियों ने बाह्य सृष्टि (ब्रह्माण्ड) पर गहन चिंतन-मनन एवं अनुभव से यह निष्कर्ष निकाला कि जिस प्रकार देहेन्द्रिय आदि के नाशवान् रूपों के भीतर उनके मूल में नित्य आत्मतत्त्व स्थिति है, उसी प्रकार नश्वर नाम-रूपात्मक बाह्य सृष्टि के मूल में भी कोई न कोई अविनश्वर तत्व अवश्य है, क्योंकि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अथवा प्रकृति में यदि कोई शाश्वत अमृत तत्व न होता तो इन समस्त परिवर्तनों की अबाधगति को कौन संभालता? यदि चराचर प्रकृति के भीतर कोई अपरिवर्तनीय तत्व न होता तो परिवर्तनों की यह चिरन्तन प्रक्रिया एक दिन अपने-आप ही समाप्त हो जाती। वस्तुतः देहेन्द्रियों और बाह्य सृष्टि के निरन्तर परिवर्तित होने वाले दृश्यों के मूल में—दोनों ही ओर, कोई नित्य तथा अपरिवर्तनीय शाश्वत तत्व-सत्य निहित है। भारत में वैदिककाल से ही यह मान्यता चली आ रही है कि जगत् की चरतुओं का वह रूप या दृश्य, जो दृष्टिगत अथवा व्यक्त है, नश्वर एवं अनात्म है तथा इसका आधारभूत जो अविनश्वर और अनात्म

है, वही सत् या सत्य है। ऋग्वेद में ही यह घोषणा की गयी है कि ब्रह्माण्ड के मूल में जो एक और नित्य सत् है, उसी को ज्ञाता लोग भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं—एक ही सत् वस्तु नाम-रूप के विभेद से भिन्न-भिन्न नाम पा लेती है—‘एकं सद्धिप्रावहृधा वदन्ति’।

आत्मा को इस नाना नामरूपात्मक बाह्य सृष्टि के पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये इसमें कोई एक ऐसा नित्य मूल सत् तत्त्व होना चाहिए, जो आत्मा का आधारभूत होते हुए उसी के मेल का हो और बाह्य सृष्टि के नाना पदार्थों में अन्तर्निहित हो अन्यथा आत्मा के द्वारा प्राप्त ज्ञान ही असम्भव एवं निराधार हो जायगा। बाह्य सृष्टि के मूल में परिव्याप्त इसी नित्य तथा सत् तत्त्व को ब्रह्म कहा गया है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारे मन या चित्त पर इन्द्रियों के द्वारा बाह्य नामरूपों के जो संस्कार पड़ते हैं उन सबके एकीकरण की प्रक्रिया से ही आत्मा को सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है, यदि बाह्य सृष्टि के विभिन्न नामरूपों के मूल में भी इस एकीकरण को प्रतिफलित करने वाली कोई एक सत्ता न हो तो आत्मा का ज्ञान अपूर्ण एवं कल्पना मात्र ही सिद्ध होगा। वस्तुतः आत्मज्ञान की चरितार्थता के लिये इन दोनों एकीकरण की शक्तियों में साम्य होना अनिवार्य है। अस्तु, आत्मा और ब्रह्म का स्वरूप अभिन्न ही होना चाहिए—‘एक मेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन’—सृष्टि में प्रतिभासित अनेकता सत्य नहीं है, सबके मूल में स्थित एक ब्रह्म ही सत्य है। बाह्य सृष्टि के नाम रूप से आच्छादित अविनश्वर तत्त्व ब्रह्म और मनुष्य-शरीर का आत्मतत्त्व ये दोनों एक ही अमर-अव्यय तत्त्व है। इसे इस प्रकार भी कहा जाता है कि जो अविनाशी तत्त्व अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है वही पिण्ड में भी वास करता है—‘जीवो ब्रह्मैवनापरः’। आशय यह कि ब्रह्म भी आत्म स्वरूपी है। बृहदारण्यक में निश्चयात्मक ढंग से कहा गया है—‘अयमात्मा ब्रह्म’—यह आत्मा ब्रह्म है। छान्दोग्य में भी इसका समर्थन है—‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि’—यह सब कुछ ब्रह्म रूप ही है। वह ब्रह्म ही सत्य है, वही आत्मा है। वही तू है। सबमें सदाव्याप्त इसी अक्षर ब्रह्म तत्त्व के लिये गीता में भगवान ने कहा है—‘अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते’—यह अक्षर अर्थात् कभी भी नष्ट न होने वाला तत्त्व ब्रह्म है और इसीलिये प्रत्येक वस्तु का मूलभाव (स्वभाव) अध्यात्म कहा जाता है, क्योंकि ‘यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति’—यह सनातन अव्यक्त तत्त्व सब भूतों में व्याप्त होते हुए भी सब भूतों के नाश होने पर भी कभी नष्ट नहीं होता।

यदि केवल तर्क के आधार पर विचार किया जाय तो आत्मा अथवा ब्रह्म का

अज्ञेयत्व स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्म के वर्णन के लिये 'नेति-नेति' का सहारा लिया गया है। वास्तव में नाम-रूप के मूल में जो अनादि, भीतर-बाहर सर्वत्र एक-सा व्याप्त, एक ही नित्य और अमृत तत्त्व है, उसके वास्तविक स्वरूप का निर्णय मानवीय मन-बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है। कहा भी गया है—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' तथा 'नैषातर्कण मतिरापनेया', किन्तु इस अगम्य स्थिति में भी जर्मन तत्त्वज्ञ काण्ट की तरह इस प्रश्न पर विचार करना ही छोड़ देने की अपेक्षा भारतीय 'बुधा भावसमन्विताः'—भाव समन्वित तत्त्वज्ञान तत्त्व-साक्षात्कार के तीन सोपान निश्चित किये हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इनके अभ्यास की निरन्तर साधना से स्वानुभव गम्य आत्मसाक्षात्कार और ब्रह्म प्रतीति तथा उसका अपरोक्षानुभव सम्भव हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। निष्कर्षतः दिक्काल से अवधि, अमृत तथा स्वतंत्र चिद्रूपी आत्मा अथवा ब्रह्म ही सारी सृष्टि का मूल है और उसी की सत्ता को पारमाधिक या आध्यात्मिक सत्ता कहा जा सकता है।

सम्पूर्ण सृष्टि-रचना का आध्यात्मिक क्रम तैत्तिरीयोपनिषद् में इस प्रकार बताया गया है—आत्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशद्वायुः। वायोरग्निः। अग्ने-रापः। अद्भ्यः पृथिवी आदि-आदि।

आशय यह कि सबके अन्तर्यामी आत्मा-ब्रह्म से (जड़मूल प्रकृति से नहीं) पहले आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और फिर पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी से नाना प्रकार की ओषधियाँ, ओषधियाँ से अन्न और उस अन्न से यह स्थूल मनुष्य-शरीर रूप जीव उत्पन्न हुआ। यद्यपि वेदान्त अथवा अध्यात्म सांख्यवादियों की जड़मूल प्रकृति को सृष्टि का मूल कारण नहीं मानता, क्योंकि जड़ से चेतन की उत्पत्ति किसी तरह सम्भव नहीं है, परन्तु सांख्यों के गुण परिणाम को वह स्वीकार करता है। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' के अनुसार पहले एक ही गुण का पदार्थ उत्पन्न हुआ। उससे दो गुणों के और फिर तीन गुणों के पदार्थ उत्पन्न हुये और आगे इसी प्रकार की वृद्धि होती गयी। पंच महाभूतों में से आकाश का एक गुण केवल शब्द है। इसलिये पहले आकाश उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् दो गुणों—शब्द तथा स्पर्श से युक्त वायु की उत्पत्ति हुई। वायु के पश्चात् अग्नि की उत्पत्ति हुई, क्योंकि उसमें शब्द, स्पर्श तथा रूप तीन गुण हैं। तब पानी की उत्पत्ति हुई, जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस चार गुण पाये जाते हैं और तब पाँच गुण—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध वाली पृथ्वी उत्पन्न हुई। आगे इन्हीं पंच महाभूतों के मिश्रण—पञ्चीकरण की प्रक्रिया से सृष्टि के नाना पदार्थ उत्पन्न हुए। यह ध्यान में रखने की बात है कि अध्यात्म भाषा में

वादियों की तरह चेतन सृष्टि को जड़ प्रकृति या पंचीकरण से सम्भव नहीं मानता, उसके लिये जड़ देह का आत्मा से संयोग अनिवार्य है, क्योंकि केवल तभी सचेतन प्राणी उत्पन्न हो सकते हैं। जो असत् अर्थात् नहीं है उससे सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? दूध से ही दही बनता है, पानी से नहीं।

छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु से उसके पिता ने स्पष्ट कर दिया है कि इस सृष्टि के आरम्भ में 'एकमेवाद्वितीयं सत्'—नित्य ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। वही सृष्टि का मूल कारण है। उसी ब्रह्म से सृष्टि के सब सजीव एवं निर्जीव व्यक्त पदार्थ क्रमशः उत्पन्न हुये और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं।

पश्चिम में दर्शन का विषय सत्य का वर्णन या ज्ञान मात्र माना जाता है, इसलिये उसका प्रमुख साधन तर्क है, जो एक बौद्धिक प्रक्रिया है। भारत के दार्शनिक सत्य के साक्षात्कार को प्रमुखता देते हैं। उनकी धारणा है कि जब तक सत्य का अनुभव-साक्षात्कार न हो तब तक दार्शनिक ज्ञान पूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसी कारण उन्होंने सत्य के योगिक अनुभव को परमविज्ञान की संज्ञा देकर उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। वास्तव में मनुष्य का वही ज्ञान उसके लिये सार्थक सिद्ध हो सकता है, जो उसकी बोधात्मक अनुभूति के सामंजस्य से गतिशील होता है। बुद्धि का महत्त्व मनुष्य के जीवन में सर्वस्वीकृत है, परन्तु जब बुद्धि केवल तर्क-पद्धति तथा अहंकार से परिचालित होने लगती है तब श्रद्धा-विश्वास से हीन अपने अनियंत्रित रूप में वह प्रमाद में परिवर्तित होकर मनुष्य के विनाश का ही कारण बन जाती है। अहंकारमय तर्क-बुद्धि में शान्ति नहीं, क्लान्ति है, आज का बौद्धिक युग इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बौद्धिक ज्ञान की प्रधानता के ही कारण प्लेटो ने कवियों की भर्त्सना करते हुए लिखा है, 'कविता और दर्शन का झगड़ा पुराना है। जो भी हो, यह निश्चित है कि बौद्धिक चिंतन और अनुभव के सामंजस्य के बिना सत्य की उपलब्धि सम्भव नहीं है। यदि मनुष्य का चिंतन अनुभूत निरीक्षण-परीक्षण के बाहर चला गया तो वह विक्षिप्तता की सीमा में प्रवेश कर सकता है। वस्तुतः मस्तिष्क और हृदय ज्ञान और भाव की सामंजस्यपूर्ण गति का स्पंदन जब एक लय में होता है, बोधात्मक प्रज्ञा का उदय तभी सम्भव है, अन्यथा नहीं।

जब से अणु विस्फोट हुआ और यह पता चला कि रेडियम-तत्व का परमाणु कभी-कभी आप से आप टूटता है तथा उससे सीसा निकलता है, जो स्वयं तत्व है, तब से भौतिक-विज्ञान में एक नयी क्रांति की लहर दौड़ चली है। इससे एक अत्यंत महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलता है। वह यह कि अवस्था विशेष में एक तत्व दूसरा तत्व बनता है। अस्तु, यह सम्भावना है कि जहाँ आज वैज्ञानिकों ने कई तत्व स्वीकार कर रखे हैं, वहाँ कभी एक ही तत्व रहा हो और वही जगत-जीवन का

मूलतत्त्व होगा। विज्ञान भी यह मानने के लिए विवश हुआ है कि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति किसी एक तत्त्व से ही हुई होगी। उसके धर्म और स्थिति के विषय में अभी कोई निर्णय नहीं हुआ। इसी प्रकार अणु विस्फोट से यह स्पष्ट हो गया है कि परमाणु के अंशभूत जिन विद्युन्मय भूततत्त्वों की प्रतीति होती है वे विद्युत से अभिन्न हैं। वस्तुतः हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि विशेष अवस्थाओं में जो विद्युत-शक्ति विखरी हुई है वही केन्द्रीभूत हो जाती है और उसी केन्द्रित विद्युत से हमको भूततत्त्व की प्रतीति होती है। भूततत्त्व वस्तुतः विद्युतकण है। इसका तात्पर्य यह निकला कि जगत्-जीवन का मूल पदार्थ शक्ति है। इस शक्ति को क्या कहा जाय? कण, लहर या उभयात्मक? विद्युत और पारमाणु का बोध कैसे हो? क्योंकि इनका कोई मानस-चित्र नहीं बन सकता, जो वस्तु दिक् तथा काल में रहती है और अन्तर्धान भी हो जाती है—दिवकाल से परे हो जाती है जिसमें अटूट प्रवाह भी है और जिसके निश्चित परिमाण के टुकड़े भी हैं, जो तोली जा सकती है, और छिद्र मात्र प्रतीत होती है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? एक ही समय में कण और लहर, दोनों स्वभाव कैसे सम्भव हैं? इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान के पास नहीं। विज्ञान इसी तरह की अनेक विलक्षणताओं के अनुसंधान के साथ जगत्-जीवन को अविज्ञेय मान बैठता है। परमाणुओं के अंगभूत विद्युत्कणों की गतिविधि का पूरा ज्ञान हुए बिना जगत् का रहस्य खुलना कठिन है। अनुशीलन करने के लिये यंत्रों का प्रयोग अनिवार्य है, प्रकाश या ऊष्णता का भी प्रयोग करना ही पड़ेगा, किन्तु प्रकाश या गर्मी की समीपता से विद्युत्कण की गति में अन्तर पड़ने लगता है, अतः उसकी स्वाभाविक शुद्धावस्था या स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता, उसको समझने के प्रयत्न में हम उसको बदल देते हैं। यंत्रों की सहायता से इस समस्या का समाधान होना असम्भव है। इसी असमर्थता के कारण विज्ञान अनिश्चितता की स्थिति में बंदी है।

इस स्थिति के परिणामस्वरूप कई तथ्य सामने आये हैं। गैलीलियो तथा न्यूटन ने अपनी वैज्ञानिक खोजों में जगत् की रूपरेखा यांत्रिक मानी थी, किन्तु आज उसे गणतीय घोषित किया जाता है। वस्तुतः आज विज्ञान उस स्थिति में पहुँच गया है कि उसे केवल जड़तात्मक बाहरी संसार के देखने-भरने की अपेक्षा चेतनात्मक भीतरी संसार को देखने-पहचानने की अनिवार्यता का भी बोध होने लगा है, क्योंकि पदार्थ के भीतर जो व्यवस्थित गति और आन्तरिक प्रवाह की क्षमता निहित है, वह नितान्त जड़ता का प्रतीक न होकर चेतनायुक्त जीवन का आभास देती जान पड़ती है। यदि यह न माना जाय कि मानवीय दृष्टि की समतुल्य, किन्तु अस्वगन्धेय चेतना जड़ पदार्थों में भी निहित है तो गुरुत्वाकर्षण या रासायनिक

क्रिया का तथा लोह चुंबक का आकर्षण एवं अपसारण आदि जड़ सृष्टि में दिखायी पड़ने वाले गुणों का कारण बताना कठिन है। जड़द्वैतवादी हेकेल को भी कहना पड़ा था—Without the assumption of an atomic soul the commonest and the most general phenomena of chemistry are inexplicable. I explicitly stated that I conceived the elementary psychic qualities of sensation and will which may be attributed to atoms.

एकवार यह पूछे जाने पर कि वह ईश्वर पर विश्वास करता है, कि नहीं, आइन्स्टाइन ने कहा था—‘मैं उस ईश्वर पर विश्वास करता हूँ, जो सभी अस्तित्वों के साथ सामंजस्य के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है। पहले से निश्चित इसी सामंजस्य और संगति के विश्वास पर ही उसने अपने सापेक्षवाद की स्थापना की है। परन्तु अणु-विस्फोट के बाद जब यह सत्य सामने आया कि पदार्थ के भीतर-प्रकृति के किसी अंग या अंश के भीतर निहित शक्ति में केवल निश्चित यांत्रिक प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया की ही सम्भावना नहीं पायी जाती, उसमें बहुधा व्यतिक्रम भी होता है तब वैज्ञानिकों को कणों—विद्युत्कणों के विषय में यह घोषणा करनी पड़ी—‘Something unknown is doing we don’t know what— कोई अज्ञात शक्ति कुछ कर रही है, जो हम नहीं जानते और स्वयं आइन्स्टाइन को भी स्वीकार करना पड़ा—I can not believe that God plays dice with the world—मैं विश्वास नहीं कर सकता कि परमात्मा दुनिया के साथ पाँसा खेलता है। साफ है कि वैज्ञानिक के बौद्धिक ज्ञान और उसकी नैतिक तथा बोधात्मक अनुभूतियों में सामंजस्य की स्थिति नहीं है। उसका संतुलन खोया हुआ है।

भौतिक विज्ञान की उच्चतम भूमिकाएँ गणित की भूमिकाओं से अभिन्न हैं। गणित तर्कशास्त्र का ही एक भेद है, उसे तर्कशास्त्र का व्यावहारिक रूप कहा जा सकता है। गणित की, स्वभावतः विज्ञान की यह मान्यता है कि न केवल पृथ्वी वरन् दिक् स्वयं गेंद जैसा है। यदि दिक् गेंद जैसा है तो उसके बाहर चारों ओर कुछ होना चाहिए, यह अनुमान स्वाभाविक है। यदि कुछ और न हो तो शून्य दिक् तो होना ही चाहिए। परन्तु यह बाहरी दिक् हमारे दिक् में कोई स्थान नहीं घेरता, वस्तुतः वह भौतिक भी नहीं कहा जा सकता है। तब हमारे इस विश्व के बाहर क्या है, इस प्रश्न का विस्तृत रूप यह हुआ कि दिक् और काल के बाहर क्या है। परन्तु दिक्-काल को छोड़ कर बाहर शब्द का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। तब यह जिज्ञासा स्वाभाविक हो उठती है कि क्या कुछ ऐसा भी है जो काल से पृथक् एवं अनवच्छिन्न है? इस प्रश्न का उत्तर गणित

वस्तुतः गणितज्ञ भी इस असमंजस में पड़ गये हैं कि दिक् और काल वास्तव में हैं या केवल अन्तःकरण के धर्म मात्र हैं ?

जीव-विज्ञान की धारणायें भी सन्देह से परे नहीं हैं। प्रोटोप्लाज्म जैसे अवयव-हीन, इन्द्रियहीन, एककोष्ठवाले जीवन-विन्दु से उत्पन्न—उसमें अन्तर्हित शक्तियों के क्रमशः प्रस्फुटन से निर्मित मनुष्य यांत्रिक विकास का आकस्मिक परिणाम मात्र है या किसी शक्ति के पूर्व निश्चय का सार्यक परिणाम ? यदि इस विकास को जीवन-शक्ति का स्वभाव कहा जाय तो वह विज्ञान की सीमा से बाहर अध्यात्म की सीमा का स्पर्श करने लगेगा, क्योंकि स्वभाव ही तो अध्यात्म है। तब इस शक्ति का स्वरूप ही आत्मतत्त्व बन जायगा, जो सम्प्रति विज्ञान को मान्य नहीं।

भौतिक-विज्ञान की तरह मनोविज्ञान भी अभी प्रयोगावस्था में है। यदि मानवीय चेतना कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो वह भूतसंघात में क्यों और कब तथा कैसे उत्पन्न होती है ? सभी चेतनाओं में साम्य क्यों नहीं होता ? एक मनुष्य की बुद्धि विज्ञान की शोध में संलग्न होती है, किन्तु दूसरे की चेतना उसे काव्यलोक में विचरण कराती है। ऐसा क्यों होता है ? यह चेतना भौतिक है या अभौतिक ? चेतना को जो अनुभव होता है, वह उसका अपना धर्म है या उन वस्तुओं का, जिनके माध्यम से उसे अनुभव होता है ? स्पष्ट है कि मनोविज्ञान अभी तक निश्चित निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा, केवल अनुमानात्मक पद्धति पर ही चल रहा है। उसके निर्णय सर्वथा अवाध नहीं हैं।

इसका आशय यह नहीं कि भौतिक-विज्ञान, गणित, जीव-विज्ञान तथा मनो-विज्ञान आदि नितान्त व्यर्थ और सारहीन हैं। ये सभी अपने-अपने सिद्धान्त और सीमा के भीतर जगत्-जीवन के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं, किन्तु इनके द्वारा प्राप्त ज्ञान केवल बौद्धिक एवं तार्किक होने के कारण आवश्यक और विस्तृत होते हुये भी अपूर्ण और आंशिक ही होता है, क्योंकि विज्ञान वस्तु की चरमस्थिति पर कोई प्रकाश न डालकर उसकी प्रकृति और लक्षण के विश्लेषण में ही उलझ जाता है। वह यह भूल जाता है कि ऐन्द्रिक जीवन में जड़ यांत्रिक शक्तियों की तरह कार्य-कारण की परम्परा का निश्चय नहीं हो सकता। गनेतन प्राणियों में श्रेष्ठतम मनुष्य की तो बात ही और है, जड़ पदार्थ भी अपनी सूक्ष्म तरलता में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होकर वायु रूप में ऊपर उठने लगता है। शरीर धारण के पहले मनुष्य की चेतना केवल लविमा (Lavity) के रूप में ही ग्रहणीय होती है, क्योंकि भ्रूण की स्थिति में वह गुरुत्वाकर्षण से मुक्त होती है। वैज्ञानिक की नोज लविमा की उद्देश्य करते हुए केवल गुरुत्वाकर्षण से यागिन विचारगान की ही उपज होती है। धरती और नर्पा के जल में प्राप्त संगति के साथ अपने

चतुर्दिक व्याप्त रसाकर्षण की क्षमता वृक्षों की स्थिति को भी रहस्यात्मक बनाने में सक्षम है, जो उसके आत्म-संगठन का ही परिणाम है, परन्तु वैज्ञानिक तर्क से इसका कोई समाधान न पाकर इस सत्य को ही उपेक्षित कर देता है। ऐसा जान पड़ता है कि पूर्ण, निर्विकल्प सत्य तर्क की सीमा के बाहर है।

अस्तु, यदि जगत्-जीवन सम्बन्धी इन समस्त आंशिक ज्ञानों का समन्वय किया जाय तो हमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। भारतीय अध्यात्म-दर्शन इसी समन्वय का दावा करता है। उसका कहना है कि भौतिक-विज्ञान का मूल पदार्थ या मूल शक्ति, जीव विज्ञान का जीव तथा मनोविज्ञान की चेतना एक ही चिन्मय पदार्थ के विभिन्न नाम-रूप हैं, इसलिये उसी का साक्षात्कार करना चाहिए। वस्तुतः जगत्-जीवन का वही परम विज्ञान—पारमार्थिक सत्य है। इस परमसत्य की उपलब्धि के लिये मनीषियों ने दो मार्ग निश्चित किये हैं—एक दार्शनिक, बौद्धिक और वैश्लेषणिक है और दूसरा अंतःस्फुरित, भावमय तथा समन्वयात्मक है, जो अनुभूति के माध्यम से इसका साक्षात्कार कराता है। महादेवी जी ने लिखा है—‘सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना में जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरों तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, न वह इसका कतृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि का संचालन करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यों के सृजन का तो प्रश्न ही क्या, जब जगत् के भौतिक तत्वों की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नहीं करता कि वह भौतिक तत्वों का स्रष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति-पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अंश में उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है, अन्तरिक्ष का विस्तार ही जैसे एक ओर की ध्वनि को दूसरी ओर तक संक्रमित कर देता है, वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति, अपने ऋत् रूप सत्य को भिन्न चेतना-खण्डों के लिये सहज सम्भव कर देती है। मनुष्य ने प्राकृतिक दाय को स्वीकार करके भी उसे अपना नियामक नहीं बनने दिया, परिणामतः प्रकृतिदत्त उत्तराधिकार में अपनी सृजनात्मक चेतना मिलाकर उसने उसमें जीवन के रहस्य का समाधान खोज लिया।’

कहना न होगा कि चेतना की अखण्ड व्याप्ति की यही आध्यात्मिक आस्था तथा अनुभूति सौन्दर्य से समन्वित होकर महादेवी जी के काव्य में अत्यंत व्यापकता

वस्तुतः गणितज्ञ भी इस असमंजस हैं या केवल अन्तःकरण के धर्म

जीव-विज्ञान की धारणायें भी हीन, इन्द्रियहीन, एककोष्ठवाले के क्रमशः प्रस्फुटन से निर्मित मनु है या किसी शक्ति के पूर्व निश्चय शक्ति का स्वभाव कहा जाय तो शक्ति का स्पर्श करने लगेगा, क्योंकि स्वरूप ही आत्मतत्त्व बन जायगा, ज

भौतिक-विज्ञान की तरह मानवीय चेतना कोई स्वतंत्र पदार्थ कैसे उत्पन्न होती है? सभी चेत की बुद्धि विज्ञान की शोध में संलग्न में विचरण कराती है। ऐसा क्यों चेतना को जो अनुभव होता है, वह माध्यम से उसे अनुभव होता है? निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा, केवल अनिर्णय सर्वथा अबाध नहीं हैं।

इसका आशय यह नहीं कि विज्ञान आदि नितान्त व्यर्थ और सीमा के भीतर जगत्-जीवन के प्राप्त ज्ञान केवल बौद्धिक एवं तार्किक हुये भी अपूर्ण और आंशिक ही होते कोई प्रकाश न डालकर उसकी प्रवृत्ति है। वह यह भूल जाता है कि ऐन्द्रिय कारण की परम्परा का निश्चय न मनुष्य की तो बात ही और है, जगत् गुह्यवाकर्षण से मुक्त होकर बाष्प के पहले मनुष्य की चेतना केवल लाल है, क्योंकि भ्रूण की स्थिति में वह खोज लघिमा की उपेक्षा करते हुए की ही उपज होती है। धरती और

गंध, रंग, स्पर्श तथा रस आदि का अभाव रहता है, वे मनुष्य के मानस-विश्वों—भावों के प्रतीक मात्र होते हैं। इसीलिये वे इन्द्रियबोध न कराके मानस भावना का ही बोध कराते हैं। इसी क्षमता के कारण भारतीयों ने शब्द को ब्रह्म और काव्यानंद को ब्रह्मानंद सहोदर माना है। वास्तव में मनुष्य की चेतना में स्फुरित होने वाले भाव उसकी आत्मा के ही अनुभाव हैं। गोस्वामी जी ने चित्रकूट में राम-भरत के इस भावात्मक आत्म-मिलन को इस प्रकार व्यक्त किया है—

‘परम प्रेम पूरन दोउ भाई, मन, बुद्धि, चित्त, अहमिति विसराई।’ दोनों भाइयों का प्रेम बाह्य तो क्या अन्तरेन्द्रिय—मन, बुद्धि, चित्त तथा अहम के परे भावों के परम अधिष्ठान आत्मा के स्तर पर पहुँच गया है।

शब्द और अर्थ की अभिन्नता की उपमा कालिदास ने पार्वती तथा परमेश्वर के अभिन्न भाव से दी है। अर्थ का मूल स्वरूप चिन्मय है, जो भाव के रूप में निहित रहता है। प्रत्यक्ष और कल्पना के अर्थ भी चेतना के भाव बनकर ही साकार होते हैं। भावात्मक अनुभूतियों के पश्चात् ही चिंतन का प्रारम्भ होता है। इसी कारण अनुभूतियों के सामंजस्य और संगति से आकलित ज्ञान को ही वास्तविक ज्ञान या तत्त्वज्ञान माना जाता है। तत्त्वज्ञान का भी मूल, भाव ही है, क्योंकि तात्त्विक ज्ञान स्वयं तार्किक निष्कर्ष न होकर एक अखण्ड प्रत्यय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शान्त रस का ‘शम’ भावात्मक समरसता की स्थिति का ही सुफल है। मानव-स्वभाव की इस मौलिक एकता के कारण मनुष्य एक-दूसरे की संवेदनाओं एवं प्रतीतियों को ग्रहण करके उनका उपभोग कर पाता है और इस प्रकार ‘समोऽहं सर्वं भूतेषु’ के रूप में स्थित आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त करता है। इसी व्यापकता के कारण महादेवी जी आध्यात्मिक अनुभूति को मनुष्य की उच्चतम अनुभूति के रूप में स्वीकार करती हैं। उनका काव्य और उनकी समस्त जीवन-साधना मनुष्य की आध्यात्मिक स्थिति के प्रति एक भावात्मक दृष्टिकोण विकसित करने में निरन्तर संलग्न है, इसमें मन्देह नहीं। वस्तुतः मानव-अस्तित्व को सामान्य जीव-प्रकृति—अपरा से ऊपर उठा कर उसे उसकी आत्म-प्रकृति—परा में प्रतिष्ठित करना ही उनका मन्तव्य और प्रमुख उद्देश्य है। वे मानती हैं कि भावात्मक उत्थान का ही सहज परिणाम काव्य का रस है, जहाँ भोग्य-भोक्ता तथा भोग में एकत्व स्थापित होकर सभी सीमाओं की समाप्ति हो जाती है और परिवेग की बाह्य विविधता, मन के विविध संकल्प-विकल्प तथा बुद्धि के नाना भेद-विभेद तिरोहित होकर अभेद की स्थिति चैतन्य दशा में परिणत हो जाती है—अर्थात् की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जो निर्विकार आनंद का गुह्य आवार है। रस दृष्टि से काव्य और अध्यात्म समानार्थी ही निह होते हैं।

उन्होंने इसे स्पष्ट भी किया है—‘इस बुद्धिवाद के युग में भी मुझे जिस अध्यात्म की आवश्यकता है, वह किसी रूढ़ि, धर्म या सम्प्रदायगत न होकर उस सूक्ष्मता की परिभाषा है, जो व्यष्टि की सप्राणता में समष्टिगत एकप्राणता का आभास देती है, इस प्रकार वह मेरे सम्पूर्ण जीवन का ऐसा पूरक है जो जीवन के सब रूपों के प्रति मेरी ममता समान रूप से जगा सकता है।’ जीवन के सब रूपों के प्रति समान ममता के कारण ही प्रकृति के पदार्थ जैसे फूल और तृण तथा प्राणी जैसे पिक एवं चातक उन्हें जीवन की क्षणभंगुरता, आत्म-संयम, सहिष्णुता, अनन्य प्रेम और साधना का वह सन्देश सुनाते जान पड़ते हैं, जो स्वयं स्वर्ग भी कभी नहीं सुना पाया—

वह बताया झर सुमन ने, वह सुनाया मूक तृण ने,
वह कहा वेसुध पिकी ने, चिर पिपासित चातकी ने,
सत्य जो दिव कह न पाया था अमिट सन्देश में।

सम्पूर्ण प्रकृति और प्राणियों के प्रति भाव-विस्तार की यह स्थिति उनके लिये असीम आनंद का प्रतीक बन गयी है। बाह्य प्राकृतिक परिवर्तन क्षण-भंगुर होकर भी उनके लिये नव-नव सृजन के सन्देशवाहक बन गये हैं। प्रकृति के विविध उपकरणों से अपनी साधना की पुष्टि पाकर वे और अधिक आवेश के साथ प्रत्येक पदार्थ से आत्मीय भाव की स्थापना में गतिशील होकर अपने भाव-जगत के विस्तार में तन्मय हो जाती हैं—

जग अपना भाता है !
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।
नयनों ने उर को कब देखा,
हृदय न जाना दृग का लेखा,

आग एक में और दूसरा सागर ढुल जाता है !

इसलिये,

धुला यह वह निखरा आता है !

और कहेंगे मुक्ति कहानी

मैंने धूलि व्यथा भर जानी,

हर कण को छू प्राण पुलक-बन्धन में बँध जाता है।

मिलन उत्सव बन क्षण आता है

मुझे प्रिय जग अपना भाता है।



नभ परिमित में भले हो पंथ का साथी सबेरा,

खोज का पर अन्त है यह तृणकणों का लघु बसेरा,

तुम उड़ो ले धूलि का करुणा-सजल वरदान ।

मेरे ओ विहग से गान ।

वास्तव में आध्यात्मिक भाव की सार्थकता इसी में है कि वह विश्व के लिये सहानु-भूति, स्नेह और करुणा का सन्देश दे सके, क्योंकि उच्च से उच्च आदर्श जीवन की व्यापक स्थिति से सम्बन्धित होकर ही सफल और सार्थक होते हैं। लोक-कल्याण की भावना मोक्ष से भी अधिक वांछनीय है।

बुद्धि-व्यवसायी ज्ञान, विज्ञान आदि सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित न होकर जीवन-जगत के कतिपय तत्वों से सम्बन्ध रखते हैं और उनका चरम लक्ष्य मानवीय बौद्धिक ज्ञान की अभिवृद्धि करना होता है। इसके विपरीत काव्य, कला आदि सम्पूर्ण जीवन के माध्यम से जीवन के मूल तत्वों की अनुभूति देते हैं और उनका उद्देश्य विविधता में एकता की भावना जगाकर मनुष्य मात्र को आनंद देना है। मनुष्य के उदात्त भाव और उन्हें सक्रिय स्थिति देने का संकल्प उसके स्वतंत्र अधिकार की सीमा में समाहित हैं। वस्तुतः वह अपने भाव-सौन्दर्य और संकल्प को दूसरे के पास मुक्त रीति से इस प्रकार संप्रेषित कर सकता है कि दूसरा भी अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें साकारता देने के लिये लालायित हो उठे। बौद्धिक ज्ञान में सम्प्रेषण की यह सहज क्षमता सम्भव नहीं। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह स्थूल एकता रखता है, जो ब्राह्म्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सूक्ष्मता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतंत्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखायें मिटाते-मिटाने स्वयं मिट जाना चाहेगा, पर उन्हें बना-बना कर स्वयं बनना उसे स्वीकार न होगा। कला और साहित्य में जीवन के रहस्य, सजीवता, सौन्दर्य, उपभोग और सृजनशक्ति का एकीकरण रहता है, अतः उसका लक्ष्य साम्य का अन्वेषक है, भेद-विरोध का आविष्कारक नहीं। वया बुद्धि-व्यवसायी के लिये भी यही बात कही जा सकती है ?

यह सच है कि आधुनिक विज्ञान ने भी अपनी महत्वपूर्ण भौतिक उपलब्धियों के द्वारा मनुष्य को शक्ति से सम्पन्न बना कर जीवन के कई क्षेत्रों में एक नयीन सफूर्ति का संचार किया है, किन्तु फिर भी जो परिस्थिति सामने है उसे जान लेने ने यों व्यक्त किया है—'विश्व-बुद्ध ने, निम्नित रूप ने, उस आशावाद को आपात पहुँचाया, जो वह मानने लगा था कि संसार अब पारम्परिक मोहार्थ, संतति और शान्ति की दिशा में अग्रसर हो रहा है। और आज वह आपात विमोक्षणार्थ रूप में अतिक्रम हो उठा है। अनुरक्षा और संघर्ष अपने अनाशास्त्र रूप में व्याप्त है कि आज की प्रभु प्रवृत्ति निताणुत्त मनु निराशावादी अतिनिम्नता से हो गयी

है। भविष्य की अनिश्चितता वर्तमान के सभी पक्षों पर अपनी घनी और श्यामल छाया डाल रही है।' इस संकट का कारण केवल यह नहीं कि लोग आत्मा की सत्ता और चिर परीक्षित प्राचीन जीवन-मूल्यों की नितान्त उपेक्षा करने लगे हैं, वरन् मुख्य कारण यह है कि विज्ञान के आधार पर आधुनिक युग जिस सत्य की उपलब्धि करने में तन्मय था, वह स्वयं आज अपने लिये अजनबी बन बैठा है। वैज्ञानिक स्वयं अपनी प्राप्ति को आत्मसात करने में असमर्थ हो रहे हैं। वे मूलतत्त्व, जिनके कारण वैज्ञानिक खोजें बुद्धिगम्य हो पाती थीं, अब प्रवहमान सिद्ध हो चुके हैं। इन्द्रियानुभव और तार्किक युक्तियों द्वारा पूर्ण सत्य को स्वायत्त कर लेने का दावा झूठा पड़ने लगा है। सृष्टि के विकास को ऊर्ध्वगामी सिद्ध करते हुए भी विज्ञान ने मानवीय चेतना को ऊर्ध्वगमन के लिये मुक्त नहीं किया, प्रकृति और परिवेश के भीतर ही उसे बंदी रखा और उसका बौद्धिक विश्लेषण करता रहा। कविवर शेली ने बहुत पहले ही यह घोषणा कर दी थी कि 'गणनामूलक विज्ञान हमारी ग्रहणशक्ति से बहुत आगे बढ़ गये हैं'। हम जितना पचा सकते हैं, उससे अधिक खा गये हैं। वास्तव में आज इन गणनामूलक सिद्धान्तों—विज्ञान के कारण बाह्य प्रकृति की वस्तुगत अवगति इतनी अधिक हो गई है कि मनुष्य का आन्तरिक भावबोध उसे ग्रहण करने में असमर्थ है—उसका बाह्यान्तर संतुलन ही खो गया है। स्वयं महान वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की खोज भी गणतीय प्रक्रिया के भीतर ही विज्ञेय है। इसलिये भावात्मक काव्य की आज जितनी आवश्यकता है, सम्भवतः उतनी कभी नहीं थी। 'महान काव्य ज्ञान और आनंद का शाश्वत स्रोत होता है, क्योंकि वह ज्ञान का केन्द्र और परिधि, दोनों एक साथ ही है। इसमें सम्पूर्ण ज्ञान निहित हैं। यह सभी विचारों या ज्ञानों का मूल और अन्तिम उपलब्धि है। इसी से सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं और यही उन्हें शोभा प्रदान करता है।' इस प्रकार यह निश्चय हो जाता है कि विज्ञान के एकांगी बौद्धिक औद्धत्य की चुनौती का सामना एकमात्र काव्य की भावात्मकता से ही किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

महादेवी जी ने अपने निबंध 'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में मानवीय जीवन की विज्ञानसाध्य बाहरी सम्पर्क-सुलभ समीपता एवं निकटता तथा भीतरी-भावात्मक दूरी का बहुत ही तात्त्विक और मार्मिक विवेचन किया है—'पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं और युद्ध-भूमि पर परस्पर-विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिये प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक दूसरे के बचाने के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उड़ता हुआ बादल और उड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनों ही हमारे

समीप कहे जायेंगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही होंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वाले से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिये मनों की निकटता पहली आवश्यकता है।'

इस जड़ यंत्रसाधित वैज्ञानिक निकटता की बाह्यस्थिति से सावधान रहने की चेतावनी देते हुये उन्होंने भीतरी भावात्मक एकता और निकटता का आग्रह किया है, जो हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में साममंजस्यपूर्ण आत्मीयता की स्थापना से मानवमात्र की आन्तरिक एकता तथा साम्य का युग-युगों से अथक भावन करती चली आ रही है। इस यंत्र-युग की कठोर निर्जीव काली छाया में यदि हम उस सहज मानवीय संवेदना के स्वानुभूत प्रकाश की अखण्ड ज्योति को विकीर्ण कर सकें तो हमारी सांस्कृतिक परम्परा का गौरव भी बढ़ेगा और हम भी अपने को उसके योग्य तथा सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने में समर्थ हो सकेंगे, यह निर्विवाद है। इस वैज्ञानिक युग की निकटता की दूरी से बचने के लिये उनका यह मन्तव्य स्मरणीय है—'जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिये दुर्लभ पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वही वैतालिक रहे हैं। आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें? अतः आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।' वस्तुतः महादेवीजी विज्ञान की इस भौतिक स्कूल प्रगति के साथ मनुष्य की सूक्ष्म अन्तःशक्ति, उसकी प्रकृति और स्वभाव के उदात्त अंशों की प्रगति, उनका संस्कार—परिधिस्थि एवं उसकी भावात्मक संवेदनीयता की समृद्धि को उसके साम्यक विकास के लिये अनिवार्य मानती हैं। उनका कहना है—'जीवन की समष्टि में सूक्ष्म से दृढ़ते भवभीत होने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो स्कूल से बाहर कहीं अस्तित्व ही नहीं रहता। अपने व्यक्त सत्य के साथ मनुष्य जो है और अपने अत्यात सत्य के साथ वह जो कुछ होने की भावना कर सकती है, वही उन्माद स्कूल और सूक्ष्म है और यदि इनका ठीक संतुलन हो सके तो हमें एक परिपूर्ण मानव ही मिलेगा। आध्यात्म के सूक्ष्म और विज्ञान के स्कूल का समन्वय जीवन को स्वस्थ और सुन्दर बनाने में भी प्रयत्न होना चाहिए।'

'प्रत्येक कलाकृति के लिये निर्माण सम्बन्धी विज्ञान (शक्ति) की भी आवश्यकता

होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओं में व्यक्त होनेवाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति की भी। जब हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तब दोनों को जोड़नेवाली कड़ियाँ अस्पष्ट होने लगती हैं। जीवन की विविधता में सामंजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है, जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेकरूपता या रेखाओं की विपमता के सामंजस्य पर स्थित हैं।

‘बुद्धि और हृदय के नियम भिन्न हैं। बुद्धि का आकर्षण अज्ञात के प्रति अधिक होता है, क्योंकि उसके लिये अति परिचित में जानने योग्य कुछ नहीं रह जाता। पर हृदय की गति ज्ञात की ओर अनायास होती है। जो सुख-दुःख, जय-पराजय, जीवन-मृत्यु में हमारे समान है, उसी से हमारा तादात्म्य सहज है और इस तादात्म्य में हृदय की संवेदनशीलता का विस्तार है। इसी से विज्ञान बुद्धि की खोज है और साहित्य हृदय की प्राप्ति। जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के वैभव में देखने का बुद्धिवादी की अवकाश है न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रखकर देखने का अभ्यास करते-करते स्वयं इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर (वही खाता) मात्र कहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पंदन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूलतत्त्वों से अपरिचित बनता जाता है। आज की आवश्यकताओं के अनुसार वह संसार भर के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है, परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते रहने के लिये ही उनके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते हैं।

‘मनुष्य एक ओर अपने मानसिक जगत की दुरुहता को स्पष्ट करता चलता है दूसरी ओर बाह्य संसार की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। उसके समाजशास्त्र, राजनीति आदि उसकी बाह्य स्थिति की व्याख्या हैं, उसका विज्ञान प्रकृति के मूलतत्त्वों से उसके संघर्ष का इतिहास है, उसका दर्शन उसके तथा सृष्टि के रहस्यमय जीवन का बौद्धिक निरूपण है और उसका साहित्य उसके उस उग्र जीवन का सजीव चित्र है, जो राजनीति से शासित, समाजशास्त्र से नियमित, विज्ञान से विकसित तथा दर्शन से व्यापक हो चुका है। जीवन का वह असीम सत्य और चिरन्तन सत्य, जो परिवर्तन की लहरों में अपनी क्षणिक अभिव्यक्ति करता रहता है, अपने व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही रूपों की एकता लेकर साहित्य में व्यक्त होता है। (वस्तुतः) कविता हमारे व्यष्टि-सीमित जीवन को समष्टि-व्यापक जीवन तक फैलाने के लिये ही व्यापक सत्य को अपनी परिधि में बाँधती है, (क्योंकि व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित है, जो फूल को समीर से

मिलता है—सजीव, निश्चय पर व्यापक। चाहे कविता किसी भाषा में हो चाहे किसी 'वाद' के अन्तर्गत, चाहे इसमें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनों के अविच्छिन्न सन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही हैं, यही कारण है कि दो मनुष्यों के देश, काल, समाज आदि में समुद्र के तटों जैसा अन्तर होने पर भी वे एक-दूसरे के हृदय-गत भावों को समझने में समर्थ हो सकते हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमें अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते हैं, परन्तु अनुभूति हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

सारांशतः 'जीवन को सब ओर से (समग्रतः) स्पर्श करनेवाली दृष्टि मूलतः और लक्ष्यतः सामंजस्यवादिनी ही होती है, क्योंकि इन सब खण्डशः अनुभूतियों के पीछे हमारे अन्तर्जगत् में एक ऐसा व्यापक, अखण्ड और संवेदनात्मक धरातल भी है, जिस पर सारी विविधताएँ ठहर सकती हैं। काव्य इसी को स्पर्श कर संवेदनीयता प्राप्त करता है। इसी कारण जिन गुल-दुखों की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमें तीव्र अनुभूति नहीं देती, उन्हीं की काव्य-स्थिति से साक्षात् कर हम अस्थिर हो उठते हैं।'

(३)

ऊपर के पृष्ठों को हमने जगत्-जीवन सम्बन्धी नाना ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र तथा दर्शन का विश्लेषण-विवेचन करते हुये उनके द्वारा उपलब्ध सत्य के स्वरूप एवं उसकी स्थिति का निरूपण करने की चेष्टा के साथ भौतिक और अभौतिक-आध्यात्मिक तत्वों का अन्तर स्पष्ट किया है एवं इन सबके सन्दर्भ में कविसिद्धी महादेवी जी के दृष्टिकोण को सामने रखा है। हमारा विश्वास है कि कवि की आस्था, धारणा तथा विश्वास एवं जीवन-दर्शन और उनकी संस्कृति की पूर्णतया जाने बिना उसके काव्य का सम्यक् मूल्यांकन किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता। गोस्वामी जी की मान्यता का हम पूर्ण समर्थन करते हैं—

भवानी शंकरा वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणी।

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्वमीश्वरम्॥

महादेवी जी ने भी माना है—“गार्हपत्यार वा गृह्येण आम्नायी वसती मे उन्मा रम ग्रहण कन्वा है कि उसे अर्थात्कार करते गार्हपत्य आने निष्पन्न अन्वय बन जाता है। आस्था किसी अन्य कर्म-व्यापार के अस्थिर को प्रभावित कर सकती

है, परन्तु साहित्य को तो वह स्पंदित दीप्त जीवन देती है। साहित्य जीवन का अलंकरण नहीं है। वह स्वयं जीवन है। साहित्यकार सृजन के क्षणों में उस जीवन में जीता है और पाठक पढ़ने के क्षणों में। हमारे चिन्तकों ने जीवन और जगत् की गतिमय परिवर्तनशीलता को संभालनेवाले जिस महान नियम को ऋत् की संज्ञा दी है आस्था उसी की रागात्मक स्वीकृति है। माता जिस प्रकार के आस्था के बिना अपने रक्त से सन्तान का सृजन नहीं कर सकती, धरती जिस प्रकार ऋत् के बिना अंकुर को विकास नहीं दे सकती, साहित्यकार भी उसी प्रकार गम्भीर विश्वास के बिना जीवन को सृजन में अवतार नहीं दे पाता। निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव में व्यक्तिगत प्रयास, अराजकता के आकस्मिक उदाहरणों से अधिक महत्व नहीं पाते। नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है, जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामंजस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उसका सम्बल है, वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसी से सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।

और तो और तत्त्वदर्शक लोग यह तक स्वीकार करते हैं कि आत्मा और परमात्मा की एकता भी आस्था, विश्वास और इच्छा—संकल्प के ही द्वारा सम्भव है—

नाथमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुंस्वाम् ॥

—मुण्डकोपनिषद् २-३

यह आत्मा (परमात्मा) प्रवचन, बुद्धि अथवा बहुश्रुत होने से नहीं प्राप्त होती वरन् जो जीवात्मा उसे आस्था, विश्वास तथा इच्छा-संकल्प से वरण करता है उसे वह उसी वरण के द्वारा प्राप्त हो सकती है। उत्कट विश्वास और अदम्य अभिलाषा से ही परमतत्त्व की प्राप्ति हो सकती है। वस्तुतः अविश्वासी-संशयशील व्यक्ति क्रिया की उत्कट इच्छा और विश्वास की अपर्याप्तता के कारण शेक्सपियर के नायक हैमलेट की तरह द्वन्द्व में फँसा रहकर स्वयं अपने अस्तित्व के प्रति घातक सिद्ध होता है।

इस विश्वास, दृष्टिकोण तथा स्वभाव को कतिपय आचार्यों ने समानार्थी मानकर गोचर रूप के परे व्यापक एवं स्वतंत्र भावना, प्राकृतिक नियम और

पूर्णता की ओर ले जाने वाले आदर्श सिद्धान्त की संज्ञा दी है। इस स्वभाव का विश्लेषण विद्या-बुद्धि से सम्भव नहीं, वह केवल आत्मभाव - सहजानुभूति—प्रतिभा-ज्ञान से ही बोधगम्य हो सकता है, क्योंकि उसकी स्थिति आत्मा की अपरोक्ष अनुभूति से ही संगठित तथा संचारित होती है। संवेदन या प्रत्यधानुभूति की भाँति स्वभाव बाह्य वस्तु के प्रभाव का परिणाम न होकर आत्मभाव की आन्तरिक क्रिया, सम्पर्क से मुक्त अपरोक्ष दर्शन का सुफल है। स्वभाव की दृष्टि का सहजात महत्व मानकर ही गोस्वामी जी ने लिखा है—

‘जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ।’ प्रभु की मूर्ति तो एक ही थी, किन्तु भावना-भेद, दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण ही वह विविध रूपों में आभासित हो रही थी। आशय यह कि हमारे समस्त जीवन-व्यापार में, वस्तुतः काव्य-रचना में भी हमारा स्वभाव—दृष्टिकोण ही प्रधान रहता है, हमारा व्यवहार, हमारी क्रिया, हमारा सृजन सभी उसी के अनुसार व्यक्त होता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि यह स्वभाव—दृष्टिकोण असंज्ञा अथवा अवचेतना का निर्माण न होकर आत्मा की सजग, सचेतन क्रिया की उद्भूति है, अचेतन अंध यांत्रिकता न होकर स्वचेतन प्रातिभ शक्ति का सहज स्फुरण है, मन की बहक न होकर आत्मिक प्रभाव है।

दृष्टिकोण को ही स्वभाव कहते हैं और स्वभाव का स्पष्ट अर्थ है निज का भाव या अस्तित्व। हमारे अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण स्वभाव या दृष्टिकोण में ही होता है, क्योंकि अस्तित्व मात्र अपने संकल्प की साकारता का ही स्वरूप है। हमारे जीवन की सभी क्रियाओं के मूल में हमारा स्वभाव—दृष्टिकोण ही तो नयित्व रहता है। मनुष्य की सारी बौद्धिक-तार्किक शक्तियाँ उसके दृष्टिकोण की चेरियाँ होती हैं।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उपयुक्त होगा कि मनुष्य का स्वभाव प्राकृत या जन्मजात होता है। वातावरण, उपदेन, शिक्षा-दीक्षा ने उसे परिवर्तित नहीं किया जा सकता। शिक्षा अथवा ज्ञान उसके मन्त्रिण को प्रवृत्त कर सकता है, किन्तु उसका हृदय ज्यों का त्यों बना रहता है। गीता में भगवान् कृष्ण ने भी कहा है—

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।

तुष्टं दुःखं भयोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं मनोव्ययः ।

भर्तृन्ति भावा भूतानां मत्त एव प्यग्नियथा ॥ गीता १८-४, ५

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, तुष्ट, दुःख, भय, अभय, भय, अभय, भय, अभय,

अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश आदि अनेक प्रकार के प्राणि-मात्र के भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। केवल स्वभाव की ही बात नहीं, यह भी कहा गया है—

‘सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानिचात्मनि’—सब प्राणी मुझ में हैं और मैं सब में हूँ। यहाँ यह शंका होती है कि जब वही अव्यक्त परमात्मा इस व्यक्त सृष्टि का निर्माण करता है और सबके भीतर रहकर उनसे सारे व्यापार कराता है, वही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु है, उसी से सब प्राणियों के भाव उत्पन्न होते हैं, सब के हृदय में श्रद्धा का उत्स भी वही है, प्राणियों की विभिन्न वासनाओं का फल देनेवाला भी वही है। तब संसार में तथा मनुष्य में यह वैषम्य क्यों दिखायी पड़ता है? भेद-विभेद क्यों हैं? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है कि मनुष्य की जीवात्मा यद्यपि है ब्रह्म का ही स्वरूप, तथापि इस सृष्टि की अन्य वस्तुओं की तरह यह भी नाम-रूपात्मक देहेन्द्रियों से आच्छादित है। अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त करने के लिये इसे साधना करनी पड़ती है। अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानने के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। इस नामरूप के आवरण के ही कारण सब भेद दिखायी पड़ते हैं। यह आवरण कहीं घना, कहीं झीना, कहीं विरल है, वस्तुतः दृश्य सृष्टि के पदार्थों और प्राणियों में चेतन-अचेतन-स्वचेतन आदि के विविध भेद दिखायी पड़ते हैं। यह नहीं है कि आत्मा अथवा ब्रह्म का कहीं अभाव हो, परन्तु जिस प्रकार एक ही दीपक लोहे की सन्दूक और स्वच्छ पारदर्शी काँच में स्थित होने पर अपने प्रकाश में न्यूनाधिक्य के विभेद से अभिभूत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी नाम-रूपात्मक आवरण के स्थूल और सूक्ष्म भेद से विभिन्नता का परिचायक बन जाता है। नामरूपात्मक आवरण के स्थूल और सूक्ष्म भेद के आधार पर ही हमारे यहाँ पाँच कोशों की कल्पना की गयी है। स्थूल अन्नमय कोश से आगे बढ़ते-बढ़ते आनन्दमय कोश में ही आत्मसाक्षात् होता है। इस आरोहण-क्रम में संकल्प, श्रद्धा तथा कर्मफल का विधान किया गया है और जन्मान्तरण को भी स्वीकार किया गया है।

दृश्य सृष्टि का निर्माण करते समय सृष्टि के मूलतत्त्व ब्रह्म में जो संकल्प तथा व्यापार उद्भूत होता है वही कर्म का मूल उत्स है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस नामरूपात्मक कर्मपरम्परा को ही जन्म-मरण का चक्र अथवा संसार कहते हैं। इन नामरूपों की आधारभूत अनादि शक्ति समष्टि रूप से ब्रह्म और व्यष्टि रूप से जीवात्मा है। वस्तुतः जीवात्मा को अपने स्वरूप की पहचान और प्राप्ति के लिये कर्म करना अनिवार्य है, क्योंकि इसी के माध्यम से वह अपने ऊपर पड़े हुये आवरण को छिन्न करके आत्मस्थिति को ग्रहण कर सकती है। जीवन में जबतक अनन्य

भाव—ब्रह्मात्मैक्य की समबुद्धि—आत्मनिष्ठ बुद्धि की उद्भावना नहीं होती तब तक मृत्यु के समय कुछ न कुछ ऐहिक वासना अवश्य ही शेष रह जाती है, जिससे पुनः जन्म लेकर उसके तृप्ति की चेष्टा चलती है। इसीलिये कहा गया है कि स्वभाव अपरिवर्तनीय है। चूँकि वासना का सम्बन्ध इन्द्रियों से होता है और इन्द्रियाँ जड़ प्रकृति का विकार होने के कारण स्वयं अपनी प्रेरणा और प्रयास से कर्म के नियम-बन्धनों से कभी मुक्त नहीं हो सकतीं, इसलिये जीवात्मा को तदनुकूल क्रिया करने के लिये विवश होना पड़ता है। यही कारण है कि उसके कृत्यों का विचार देह और आत्मा दोनों की दृष्टि से करना पड़ता है। देह-दृष्टि, वासनात्मक बुद्धि की प्रबलता के लिये ही यह कहा गया है—‘अन्निच्छन्नपि वाष्ण्य बलादिव नियोजितः’, इच्छा न होने पर भी मनुष्य पाप-कर्म करने को विवश है—वह इससे किसी प्रकार मुक्त नहीं हो सकता। महाकवि गेटे ने भी कहा है—

You are just what you are—nay—never doubt it,

You are just what you are—that's all about it,

तुम वही हो, जो हो, इसमें सन्देह मत करो। तुम वही हो जो हो, इस विषय में यही पर्याप्त है। भारतीय शास्त्रों में तो इसका अनेकशः समर्थन किया गया है—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणम्
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मा ।
स्वभाव एवात्र तयातिरिच्यते
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

परन्तु स्वभाव सहजति और अच्छे होना है।

हमने विश्व-सत्ता के तीन स्तर माने हैं—(१) प्रातिभासिक (२) व्यावहारिक, और (३) पारमार्थिक या आध्यात्मिक। इन तीनों की स्थिति, अवस्था और अनुभूति के अनुसार ही मनुष्य की सारी क्रियाओं का नक चळता है, क्योंकि मनुष्य अपने ही निर्मित और निश्चित किये हुए मत में उसी प्रकार जीवता रहता है जिन प्रकार मकड़ी अपने ही बुने जाले पर चक्कर लगाती रहती है। प्रातिभासिक सत्ता को ही चरम सत्ता माननेवाले का स्वभाव अहंनिष्ठ, व्यावहारिक सत्ता को मान्यता देने वाले का स्वभाव बुद्धिनिष्ठ तथा आध्यात्मिक सत्ता के विस्तारशील का स्वभाव आत्मनिष्ठ होता है। इसी सत्तात्मक विभेद के कारण मनुष्य के स्वभाव और प्रयोजन के अनुसार केवल तीन प्रभुत प्रकार की मौलिक मान्यीय क्रियाओं का अस्तित्व माना जाता है—अहंनिष्ठ क्रिया, वासनात्मक बुद्धिनिष्ठ क्रिया और आत्मनिष्ठ क्रिया।

अहंनिष्ठ क्रिया—पृथक्ता अहं का प्रधान लक्षण है। स्वभावतः अहंनिष्ठ मनुष्य प्रातिभासिक सत्ता के परे देख ही नहीं सकता। इसी विभिन्नता में रमता हुआ वह सबको सब से अलग मान कर केवल अपने हित के कार्य में संलग्न होता है। स्वयं जीने और सुख भोगने की लालसा ही उसके जीवन का प्रमुख उद्देश्य होता है। 'सब कुछ मेरे लिये, दूसरों के लिये कुछ भी नहीं,' अहंनिष्ठ मनुष्य का यही मूल मंत्र है। वह 'अहं' और 'नाहं' के दो भागों में सारे विश्व को विभाजित कर मनुष्य मनुष्य के बीच में एक दुर्लध्य दीवाल खड़ी कर लेता है और अपने स्वार्थ-पूर्ति के प्रयत्नों में दूसरे की किंचित् चिन्ता नहीं करता। अपने को विश्व का केन्द्र मानकर सारे विश्व को अपने उपभोग का साधन मात्र मानता है। नैतिकता और सामाजिकता का उसके लिये न तो कोई मूल्य है न महत्व। सद्भाव की अपेक्षा वह सबसे सब का संघर्ष ही अनिवार्य मानता है। इसी कारण वह अपने छोटे से छोटे लाभ के लिये भी दूसरों को भारी से भारी क्षति पहुँचाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता। उसका दृष्टिकोण ही यह होता है कि वह बचा रहे, चाहे सारा संसार नष्ट हो जाय, क्योंकि विश्व-जीवन का आधार वह अपने अहं को ही मानता है—'अनपेक्ष्य गुणागुणौजनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावित', अहं के दुराग्रही व्यक्ति दोषों, गुणों का विचार न करके अपनी ही रुचि के अनुसार कार्य करते हैं। गीता में इनकी विशेषता का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥

—गीता १६-८

सारा जगत् असत्य है, अप्रतिष्ठित-निराधार है, अनीश्वर और एक-दूसरे के बिना ही उत्पन्न हुआ है। अतएव काम-विषयवासना की तृप्ति के अतिरिक्त इसका और क्या हेतु हो सकता है? स्वभावतः ये लोग आत्मप्रशंसा करनेवाले धन, मान के मद में चूर रहने वाले अपनी भलाई और अपने सुख के अतिरिक्त और न तो कुछ सोच ही सकते हैं और न समझ ही सकते हैं। अहंकारपूर्ण इनकी यही घोषणा रहती है—'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी',—मैं ईश्वर, मैं ही भोग करनेवाला, मैं ही सिद्ध बलवान और सुखी हूँ। ऐसा अहंकारी व्यक्ति कृतज्ञ नहीं होता, क्योंकि अपनी अनुदारता के कारण पहले तो वह किसी से किसी प्रकार की सहायता की आशा ही नहीं करता और यदि कहीं से उसे सहायता मिल भी जाय तो वह उसे सहायता करने वाले की नितान्त मूर्खता मानता है। इस प्रकार अहंनिष्ठ स्वभाव वाले व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रियायें उसे मानवीय गुणों से वंचित करती हुई अधोगति की ओर खींच ले जाती हैं। इन्हीं के लिये कहा गया है—

‘अवो गच्छन्ति तामसाः’—तामस लोग अवोगति को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः अहंकार केवल प्रमाद और मोह की ही मृष्टि नहीं करता, प्रत्युत इससे अज्ञान की भी उत्पत्ति होती है। शास्त्रों का यह भी मत है कि तमोगुणी व्यक्ति मृत्यु के पश्चात् मनुष्य योनि में नहीं, वरन् पशु, पक्षी आदि मूढ़ योनि में जन्म पाता है।

वासनात्मक बुद्धिनिष्ठ क्रिया—यद्यपि इन्द्रिय-समूह में बुद्धि को श्रेष्ठ माना जाता है तथापि वह भी प्रकृति का ही विकार है, उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। व्यावहारिक जगत् के स्थूल कार्यों से लेकर उसे जन्म देनेवाले सूक्ष्म विचार का विश्लेषण करना ही इसका मुख्य धर्म है। अपने विश्लेषण में तकों और प्रद्वनों की स्थितियाँ उभारने के अतिरिक्त वह किसी सम्यक् बोध की उपलब्धि नहीं कर सकती। अपने से बाहर स्थित पदार्थों का ज्ञान तो वह प्राप्त कर लेती है, किन्तु स्वयं उसकी स्थिति उसी से उपेक्षित रह जाती है। इसीलिये उसके समाधान समता का नहीं, वरन् विपमता का ही उद्घाटन करते हैं। यही कारण है कि कोई एक तथ्य किसी एक बुद्धि में ग्राह्य प्रतीत होता है, वही दूसरी बुद्धि के लिये अग्राह्य जान पड़ता है। पूर्व संस्कारों के कारण यह बौद्धिक विपमता पारस्परिक ईर्ष्या का कारण भी बनती है और अपनी तृप्ति के लिये दूसरे का अपकार करने लगती है। दूसरों पर अपना बौद्धिक आतंक जमाने की यह प्रक्रिया डाह से सदैव दग्ध होती रहती है। गीता में इसे तामसी बुद्धि कहा गया है। डाह का मुख्य कारण दूसरे का सुख, उसकी सम्पत्ति और सम्मान होता है। परन्तु बौद्धिक डाह निम्नतम कोटि की होती है, क्योंकि वह दूसरों के उन गुणों की भी, जिन्हें प्यार तथा आदर मिलना चाहिए, उपेक्षा करती है। संवेदनहीन बुद्धि, तर्क से उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ रहती है अतएव ईर्ष्या ही उसका प्राप्तव्य होता है। तामसी बुद्धि के आवेग में मनुष्य का मानव-विद्वेषी बन जाना कुछ कठिन नहीं है। तामायनी में मनु ने स्वीकार किया है—

सद्यः बाह्य होता जाता है स्वगत उसे मैं कर न सका,

बुद्धि तर्क के छिद्र हुये थे हृदय हमारा भर न सका।

लहरों के गिनने में कभी थारा का ज्ञान नहीं होता, छाया को देगार छायाचान का ज्ञान नहीं होता। किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उसे गमग्रना में देगना चाहिए, गण्डों में नहीं, किन्तु, बुद्धि धैर्य नहीं कर पाती। वस्तुतः बुद्धि केवल उत्तेजित करने वाली शक्ति है, उसने ज्ञान नहीं मिल सकता। अज्ञान, अन्तर्बुद्धि बुद्धिवादी संसार को ही नष्ट बना देने में मिल पड़ता है। अज्ञानी यदि अपने ज्ञान के लिये दूसरों को नष्ट पहुँचाता है तो संशोभित बुद्धिवादी केवल धर्मात्मा में ही आपत्त करना है। अज्ञान, निर्देयता उसके प्रधान अंग है। साथ और

भ्रान्ति की निरर्थक नाप-जोख, स्वनिर्भरता का दंभ, पर-चेतना की सहज उपेक्षा, तार्किक उलझन, संशयात्मक कार्य-विधि से उत्पन्न क्लान्ति ही इस बुद्धि की चरम उपलब्धि है। अनीश्वरवादी होने के कारण बुद्धिवादी बहिर्मुख प्रकृति के गुणों की लीला में विखरे हुये इन्द्रिय-विषयों के अधीन होकर कामना के जीवन में बहता हुआ आसक्ति और आवेश का निरन्तर दास बना रहता है। उसकी अपनी अवोध-अतृप्ति उसे पर-पीड़ा-प्रिय बना देती है और उसे उसी में रस मिलने लगता है।

इसका प्रधान कारण यह है कि बुद्धि दिक्काल की विभिन्नता के कारण उत्पन्न संसार के पदार्थों की भिन्नता के दृश्यमात्र को ही उनका मूलस्वरूप मान बैठती है। वह अपने शरीर को प्रत्यक्षतः दिक् में स्थित देखती है और अन्तरेन्द्रियों के माध्यम से अपने भावों, विचारों तथा इच्छाओं की सामयिक स्थितियों का बोध प्राप्त करती है। इन सब देहेन्द्रिय-विषयों का ज्ञाता अपने ही को मानकर सारभूत ज्ञाता—आत्मतत्त्व की उपेक्षा कर जाती है। वास्तव में दिक्काल मनुष्य की प्रातिबोधिक क्षमता का परिणाम होने के कारण पदार्थों के तात्त्विक रूप से नहीं, उनके उसी दृश्य रूप से सम्बन्धित हैं, जो मनुष्य की इन्द्रियों के अध्यारोपित रूप ग्रहण कर बाह्य विश्व में प्रतिभासित होते हैं। पदार्थों की यह भिन्नता दृश्यात्मक ही है, वास्तविक नहीं, क्योंकि हमारी ऐन्द्रिक चेतना के अतिरिक्त इसका कहीं कोई अस्तित्व नहीं है। बुद्धि स्वयं एक इन्द्रिय होने के नाते अपना ही विरोध करने का साहस नहीं कर सकती, अतएव अनेकता में एकता की खोज कर लेना उसके वश की बात नहीं। यही इसकी विफलता का मूल कारण है, जो स्वाभाविक ही कहा जायगा। स्पष्ट है कि बाह्य सुखों की लोलुप मननिष्ठ वासनात्मक बुद्धि में शान्ति नहीं मिलती।

जिस प्रकार प्रकृति अपनी अहं बुद्धि के कर्म से मनुष्य को अहंनिष्ठ बनाकर अपने कर्मों के साथ जोड़ती हुई उसे कर्ता, विकारी तथा क्षणस्थायी व्यष्टि-पुरुष की प्रतीति से आच्छादित करके सबसे पृथक् कर देती है, उसी प्रकार अशुद्ध प्राकृत चेतना आत्मचैतन्य को ढँककर बुद्धिवादी को इन्द्रियाश्रित मन और उसकी बहिर्मुखी क्रियाओं तथा प्राण और शरीर की कामनाओं के माध्यम से अधःपतन की ओर घसीट ले जाती है और वह प्राकृत सत्ता का क्रीड़ा-कन्दुक बना इधर-उधर टकराता हुआ चक्कर करते हुये चाक में बैठे कीड़े की तरह यह सोचता-समझता रहता है कि वह स्वेच्छा से ही चक्कर लगा रहा है, यही उसकी चरम विडम्बना है। स्पष्ट है कि असूया से अंधबुद्धि अपने तर्क से टटोलकर सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकती। क्योंकि निम्नगा बहिर्मुखी प्रकृति को ही उसने अपनी आधारभूमि स्वीकार कर रखा है। उसकी दृष्टि समग्रता का ग्रहण न करके विभाजित रूपों

की प्रतीति में ही स्थिर रहती है तथा बाह्य वैषम्य से उत्पन्न राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो पाती और पाँच तन्मात्राओं—प्रकृति के गुणभूत अंगों में लिप्त होकर ऊभ-चूभ करती है। वस्तुतः अहंनिष्ठ तमोगुण और बुद्धिनिष्ठ रजोगुण अपनी संकीर्ण धारणाओं के कारण अज्ञान का ही रूप धारण कर लेते हैं। आग्य यह कि बुद्धि द्वारा प्राप्त मानसिक प्रतिबिम्ब सत्य को प्रकाशित करने की अपेक्षा उसे विकृत ही अविकरते हैं।

आत्मनिष्ठ क्रिया—जगत्-जीवन की पारमार्थिक या आध्यात्मिक सत्ता की अवगति से आत्मनिष्ठ मनुष्य बाह्य प्रभावों से संघटित संवेदनों और मन की तरंगित अभिव्यंजनाओं से उपलब्ध केवल देश-विशिष्ट नाम तथा काल-विशिष्ट रूप की—अपरा प्रकृति की सीमा पार करके परा प्रकृति की सीमा में प्रवेश कर जाता है। वहाँ उसे इन्द्रियातीत आत्मतत्त्व की अवगति तथा स्वानुभूति प्राप्त होती है, जो मानवीय जीवन का चरमलक्ष्य तथा उगकी परम उपलब्धि है। उस स्थिति में उसका आन्तरिक भाव दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्तरों के स्पर्श से व्यापक, सनातन और सार्वजनीन हो जाता है। वह अपनी अन्तःस्फुरित सहजानुभूति के द्वारा एक अव्यय, अद्वैत, विगुह्य, शाश्वत एवं अग्निल ब्रह्माण्ड की स्थिति का आधार-श्रय आत्मतत्त्व के उस बोधात्मक ज्ञान से महिमामंडित हो जाता है, जिसके पञ्चान् कुछ और जानना तथा पाना शेष नहीं रह जाता। उसे इनका सम्पूर्ण बोध हो जाता है कि यह चराचर जगत् ब्रह्म या आत्मा की ही अभिव्यक्ति है। मनुष्य की देह में निवास करनेवाला प्रकृति से आवद्ध देही—जीवात्मा उन्नी निम्नय ब्रह्म या आत्मा का अंग-रूप है, जो माधना—आत्मंतरीय संतुलित गंयम, कर्म तथा आचरण के विधान द्वारा स्यान्तरित होकर अपने स्वस्व—चेतना के प्रकाश की प्रमजः उद्दीप्ति से उन मुक्तात्मा का नाट्य्य लाभ कर सकता है—ब्रह्मात्म गेय की चरम स्थिति में पहुँच सकता है—जागतिक व्याप्ति भाव से ऊपर उठकर समष्टिगत चैतन्य में प्रवेश कर सकता है—मन-मल, प्राण एवं शरीर की अपरा प्रकृति के जीवन से बाहर निकल कर आत्मा की परा प्रकृति में स्थित हो सकता है।

उन प्रकार मनुष्य जब नचेन रूप में आत्मभाग में संश्लिप्त हो जाता है तथा मय में नचेन व्याप्त पारमार्थिक सत्ता—आत्मतत्त्व की अपरा अनुभूति में अनर्द्रिप्त होकर मय के एकत्व, सत्ता और सम्यक् की तृट्य प्राप्त करता है—सत्ता के प्रतीति में मिलनोन्मूक्त विराट्पदा का सर्वकार आत्मन करके करता है मय उन्नी नानि निम्न-कल्याण उन्नी २ म चेतना से संयुक्त और मूर्तगत होकर उन्नी ३ तत्त्वार्थ का निरुपम चेतन हो सकता है, मय के प्रतीति मूर्तगत, सत्ता, पारम्य और मय में संश्लिप्त और सत्तीति करके में ही उन्नी माधेय्य प्राप्त करके है, मय।

उसका सामाजिक जीवन, उसका धर्म, उसके स्वभावानुकूल त्रिगा-कर्म थे सब उसकी आध्यात्मिक आस्था की उपलब्धि एवं संगति के साधन और व्यवहार मात्र होते हैं।

वास्तव में जो व्यक्ति स्वयं अपने-आपको और धेप सब को आत्मा के रूप में देखता है, जो देहेन्द्रिय में नहीं, आत्मा के धरातल पर जीने का अभ्यासी और विश्वासी है, उसका व्यवहार दूसरों के साथ स्वभावतः उन्हें केवल देहेन्द्रिय मानकर नहीं, वरन् आत्मा मानकर ही होता है, क्योंकि वह यह भली भाँति जानता है कि उसका अस्तित्व दूसरे सब प्राणियों के अस्तित्व के साथ एक है—वह सभी में अपने-आपको—आत्मा को देखता है, इस कारण उसके हृदय में सब के प्रति सहानुभूति, समता, मैत्री और करुणा के भाव अधुण रहते हैं। इसी कारण उसे दिव्य-कर्मों कहा जाता है। कहना न होगा कि इस ऊर्ध्व संचरण से मनुष्य का बाह्य एवं अन्तःकरण से अनुप्राणित शरीर रूप से रहना छूट जाता है और वह आत्मरूप से रहते हुये चराचर प्राणियों के भीतर जो एक सम ब्रह्म है उससे एक हो जाता है। इस स्थिति में उसके सभी कर्मों का मूल हेतु लोकसंग्रह या विश्वमंगल के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता तथा उसकी प्रशान्त स्थिरता एवं समता की भावना में सब प्रकार के द्वन्द्वों का अपने-आप समन्वय हो जाता है। निर्विषय पूर्ण आन्तर आनंद और परम शान्ति उसके जीवन के मूलधार बन जाते हैं। यह स्मरण रखना होगा कि आत्मनिष्ठता अथवा आध्यात्मिकता कोई बौद्धिक उत्प्रेक्षा नहीं, स्वानुभूत सत्य है। यही कारण है कि सबके साम्य और दिव्य सार्वत्रिक प्रेम की प्रगाढ़ता एवं गाम्भीर्य को अभिव्यक्ति देने वाली जिस शक्तिशाली वाणी का प्रयोग भारतीय अध्यात्म में हुआ है, वह संसार के इतिहास में दुर्लभ है। अस्तु, ब्रह्मात्म ऐक्य-बोध, निष्कामता, निर्वैयक्तिकता, समता, स्वतःस्थित आन्तर आनंद और शान्ति तथा अपरा प्रकृति के गुणों से ऊपर उठी स्थिति आत्मनिष्ठ मनुष्य के वे प्रमुख लक्षण हैं, जो उसके जीवन के समस्त कर्मों में सन्निहित रहते हैं।

इस भावबोध की स्पष्टता के लिये महादेवी जी का यह गीत उद्धरणीय है—

नव मेघों को रोता था जब चातक का बालक मन,
इन आँखों में करुणा के घिर घिर आते थे सावन।
किरणों को देख चुराते चित्रित पंखों की माया,
पलकों आकुल होती थीं तितली पर करने छाया।

जब अपनी निश्वासों से तारे पिघलाती रातें,
गिन गिन धरता था यह मन उनके आँसू की पाँतें।
जो नव लज्जा जाती भर नभ में कलियों में लाली,
वह मृदु पलकों से मेरी छलकाती जीवन-प्याली।

घिर कर अविरल मेघों से जब नभमण्डल झुक जाता,
अज्ञात वेदनाओं से मेरा मानस भर आता।
गर्जन के द्रुत तालों पर चपला का वेसुध नर्तन,
मेरे मन-वाल शिखी में संगीत मधुर जाता वन।

किस भाँति कहूँ कैसे थे वे जग से परिचय के दिन,
मिश्री सा घुल जाता था मन छूते ही आँसू-कन।
अपनेपन की छाया तब देखी न मुकुर मानस ने,
उसमें प्रतिविम्बित सबके सुख-दुख लगते थे अपने।

तब सीमाहीनों से था मेरी लघुता का परिचय,
होता रहता था प्रतिपल स्मित आँसू का विनमय।
परिवर्तन-पथ में दोनों शिशु से करते थे क्रीड़ा,
मन माँग रहा था विस्मय जग माँग रहा था पीड़ा।

यह दोनों दो ओरें थीं संसृति की चित्रपटी की,
उस दिन मेरा दुख सूना मुझ दिन वह सुषमा फीकी।
किसने अनजाने आकर वह लिया चुरा भोलापन।
उस विस्मृति के सपने से चौंकाया छूकर जीवन।

जाती नवजीवन वरसा जो करुण घटा कण कण में,
निस्पंद पड़ी सोती वह अपने मन के लघु वन्धन में।
स्मित वन नाच रहा है अपना लघु सुप्त अधरों पर,
अभिनय करता पलकों में अपना दुख आँसू बनकर।

अपनी लघु निश्वासों में अपनी राधों की कम्पन,
अपने सीमित मानस में अपने सपनों का स्पन्दन।
मेरा अपार वैभव ही मुझसे है आज अपरिचित,
हो गया उदधि जीवन का सिकता-कण में निर्व्यासित।

स्मित ले प्रभात आता नित दीपक दे संध्या जाती,
दिन डलता सोना वरसा निशि मोती दे मुस्कताती।
अस्फुट मर्मर में अपनी गति की कलकल उलसाकर,
मेरे अनंत पथ में गित संगीत बिछाते निर्भर।

यह साँसें गिनते गिनते नभ की पलकें टाप जातीं,
मेरे विरक्त अंचल में गौरन समार भर जातीं।
मुग़ जोड़ रहे हैं मेरा पथ में पथ में निरन्तर,
मन रोया ही करता क्यों अपने एकाकीपन घर ?

अपनी कण कण में बिखरी निधियाँ न कभी पहचानी,
मेरा लघु अपनापन है लघुता की अकथ कहानी।
मैं दिन को ढूँढ़ रही हूँ जुगनू की उजियाली में,
मन माँग रहा है मेरा सिकता हीरक प्याली में।

इस गीत में कवयित्री ने अपने जीवन की दो परस्पर-विरोधी स्थितियों की झाँकी उपस्थित की है। एक शैशव की सरस-स्नेहिल, समात्मभावात्मक—पर सुख-दुख से समान रूप से सम्बन्धित स्थिति है और दूसरी प्रौढ़ता की अहमात्मक संकीर्ण आत्मलीन स्थिति है। साथ ही उन्होंने प्रथम स्थिति को अधिक व्यापक एवं महत्वपूर्ण स्वीकार करते हुये उसके विछोह का क्षोभ भी प्रकट किया है। सर्वसामान्य अनुभव से यह स्पष्ट है कि छोटे बच्चे किसी वस्तु से धक्का खाने पर उसे ही पीटने लगते हैं, उन्हें उस वस्तु और अपने में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, वे उसे भी अपनी ही भाँति सजीव मानते हैं। इस स्थिति को बच्चों का सर्वचेतना-वाद कहा गया है। जिस प्रकार बच्चों को अपने शरीर और चेतना की भिन्नता का बोध नहीं रहता उसी प्रकार वे सभी को आत्मवत् देखते और मानते हैं। सब के प्रति उनका व्यवहार समात्मभाव से ही अनुप्रेरित रहता है। वे सम्पूर्ण बाह्य संसार और अपने को पृथक् न मानकर एक ही सम दृष्टि से देखते हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि बच्चों में आत्म-चेतना और शरीर पानी और नमक की तरह परस्पर मिली-जुली स्थिति में ही पाये जाते हैं, बाद में वय-वृद्धि के साथ बुद्धि और अहं की प्रेरणा से अलग-अलग हो जाते हैं। तब संसार भी अलग दिखायी पड़ने लगता है। इसका आशय यह हुआ कि मनुष्य संसार से कोई बौद्धिक विच्छेदात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के पहले सहज भावात्मक सम्बन्धों से संयुक्त होकर एकरस रहता है। वस्तुतः सब से अलगाव की यह इन्द्रिय-चेतना जीवन-विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया न होकर मृत्यु-प्रक्रिया का ही परिणाम है, क्योंकि मृत्यु मनुष्य के मस्तिष्क और सबसे अलग व्यक्तित्वबोध के प्रति दिये जाने वाले मूल्य का ही पर्याय है।

भारत में परमहंसीय बालवृत्ति की समता सभी स्थिति को मनुष्य की उच्चतम आध्यात्मिक विकास-भावना के रूप में स्वीकार किया गया है। पश्चिम के मसीहा ईसा ने भी माना है कि निश्चल तथा अद्वैत बालभाव के बिना स्वर्ग में प्रवेश सम्भव नहीं है। दार्शनिक रीड ने तो यह भी कहा है कि सच्चा दार्शनिक होने के लिए बालभाव (समात्मभाव) अनिवार्य है—We must become little children again, if we will be true philosophers. यद्यपि प्लेटो के पश्चात् पश्चिम के दार्शनिक और धार्मिक लोग भी प्रायः यह मानने लगे हैं कि

तथा जीवन और प्रकृति का सहज सहजात साहचर्य उससे छूट जाता है। गीत में इसी सत्य का उद्घाटन किया गया है—

जिस समय चातक पक्षी का बालक-मन जल की उत्कंठा से नये वादलों की ओर देखता था उस समय करुणा के कारण मेरी आँखों में सावन की घटा की तरह आँगू उमड़ने-धुमड़ने लगते थे। जब मैं देखती थी कि सूर्य की किरणें अपनी ऊष्मा से तितली के रंगीन परों को झुलसे दे रही हैं तब मेरी पलकें तितली के ऊपर छाया करने के लिए व्याकुल हो उठती थीं। रात की निश्वासों से जब उराके नेत्र-तारे ओस-आँसुओं के रूप में लुढ़क पड़ते थे तब मेरा मन सहानुभूति से प्रेरित हो कर ओस की बूँदें गिनने लगता था। वर्षा-ऋतु में जब मेघों के सघन आच्छादन से संपूर्ण आकाश झुका हुआ-सा प्रतीत होता था तब मेरा मन भी अज्ञात वेदना से अभिभूत हो जाता था। वादलों की गर्जना के साथ जब बिजली नृत्य करती थी तब मेरा मन रूपी बाल-मयूर मुग्ध हो कर उसके लिए एक मधुर संगीत बन जाता था। सृष्टि के साथ परिचित होने के वे दिन कितने अच्छे थे, इसका उल्लेख सम्भव नहीं, परन्तु इतना स्मरण है कि दूसरों की पीड़ा देख कर उनके साथ मेरा मन मिथ्री की तरह घुल कर एक हो जाता था। उस समय तक मेरे मन के दर्पण में अपनेपन की छाया नहीं पड़ी थी—मन स्वार्थपूर्ण नहीं हो पाया था और उसमें दूसरों के सुख-दुख ही प्रतिबिम्बित होते दिखायी पड़ते थे। मैं दूसरों के दुख से दुखी तथा दूसरों के सुख से सुखी होती थी। मेरी निजी सुख-दुखात्मक अनुभूतियों और कामनाओं का कोई अस्तित्व नहीं था। उस समय सारी सृष्टि को एक समझने के कारण मेरे हृदय में असीम भाव भरे थे, इसलिए विश्व-जीवन के सुख-दुखों से सहज सम्बन्ध स्थापित होता रहता था। व्यापक सहानुभूति के कारण मैं कभी दुखी होती थी तो कभी सुखी। विश्व के सतत् परिवर्तन के मार्ग में सुख-दुख दो शिशुओं की तरह क्रीड़ा करते रहते थे। क्षण-क्षण में सुख-दुख की अनुभूति देने वाली प्रकृति की रचना देख कर मुझे आश्चर्य होता था और संसार की स्थिति देख कर मुझे पीड़ा होती थी।

यह सारा संसार एक चित्रपट के समान था, जिसके सुख और दुख दो छोर थे। संसार से सम्बंधित तथा सहानुभूतिपूर्ण होने के कारण ही मुझे सुख-दुख की अनुभूति होती थी। संसार के दुखों से सहानुभूति रखने के कारण ही मुझे दुख होता था, निजी दुख की कोई स्थिति नहीं थी। वस्तुतः संसार के प्रति सहानुभूति-हीन होने पर मेरे दुख का कोई अस्तित्व नहीं, और संसार के सौन्दर्य का भी कोई महत्व नहीं, क्योंकि द्रष्टा के बिना दृश्य की कोई सम्भावना नहीं रहती।

मेरा वह शैशव का सरल भोलापन न जाने किसने चुरा लिया ? उस समय मैं

अपने अहंहीन जीवन में अपने को विस्मृत किए हुए सर्वथा सुखी थी, किन्तु उस जीवन को छू कर न जाने किसने मुझे चींका दिया और अपनेपन की उस विस्मृति में जो सुख था, मुझे सचेत बना कर उसे सहसा समाप्त कर दिया। वचन के सरल स्वभाव में मेरी करुणा रूपी घटा सृष्टि के कण-कण में बादलों की वर्षा के समान ही नव-जीवन का संचार कर देती थी, परन्तु अब वही सृष्टिव्याप्त संवेदना, सहानुभूति तथा करुणा सीमित हो कर मेरे मन के लघु बंधन में बँध कर निश्चेष्ट पड़ी सी रही है—पहले मेरा जो मन विश्व के सुख-दुख में साथ रहता था अब केवल अपने में ही लीन रहता है। अब वह अपने ही सुख में हँसता और अपने ही दुख में रोता है। मेरी संवेदना के सीमित और संकुचित होने के परिणामस्वरूप मेरी निश्वासों केवल मेरी कामनाओं की ही अभिव्यक्ति करती हैं और मेरा हृदय केवल अपने ही विषय के सपनों से स्पंदित रहता है। जहाँ पहले सब का सुख-दुख मेरा अपना सुख-दुख होता था वहाँ अब मैं अपने ही सुख-दुख में लीन रहती हूँ। इस प्रकार मेरा सब से सम्बंधित सरस जीवन-सागर बालू के कणों की शुष्कता में परिणत हो गया है—मेरा हृदय संकुचित हो कर नीरस तथा स्वार्थी बन गया है।

मेरी इस स्थिति के कारण विस्तृत आकाश वेदना-विह्वल हो कर मेरी स्वार्थ-संकुचित साँसों को गिनते-गिनते थक कर सो जाता है। संसार से उदासीन मेरे आँचल में वायु अपनी सहानुभूति का शौरभ अब भी भर जाती है। मेरी चिर सहचरी प्रकृति और उसके विविध पदार्थ अपनत्व और सहयोग के लिए उत्सुकता के साथ मेरी ओर देख रहे हैं, किन्तु मैं अपने इन सभी सहयात्रियों को भूल कर अपने ही निर्मित एकाकीपन में दुखी होती रहती हूँ—प्रकृति मनुष्य को आकर्षित करना चाहती है, किन्तु वह अपनेपन में लीन और सब से विच्छिन्न हो कर विह्वल तथा दुखी बना रहता है।

सृष्टि के कण-कण में अपनी बिगरी हुई निधि को—सब में अन्तर्निहित आत्मा को मैंने नहीं पहचाना। अपने में ही सीमित-अहंहीन हो कर उसकी उपेक्षा कर दी और अपने को अहंहीन बना लिया। मेरे ये संकुचित विचार मेरी लघुता की न कही जाने वाली कहानी हैं। हृदय को रतना संकुचित बना कर आत्म-प्रकाश की राज करुणा उसी प्रकार असम्भव और उपहासार्थ है, जिन प्रकार गुग्गुलु के प्रकाश में दिन की राज। वस्तुतः मेरा मन हीरे की प्याली में—जीवन में बालू के गुग्गुलु कण भरने की निरर्थक मायना कर रहा है। क्योंकि स्वार्थहीन व्यक्ति सभी व्यापक मलय की उपलब्धि नहीं कर सकता।

इन प्रकाश इस कविता में अहं की संकीर्ण, किन्तु प्रचल आर्माणि में फँसे जीवन के प्रति शोभ प्रकट करने देने उसे सब के साथ संयुक्त करने की अभिप्राय के साथ

कवयित्री ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जीवन की सार्थकता एवं महार्घता वास्तव में सब के साथ सहानुभूतिमय होने में ही है, अन्यथा नहीं। पूर्वानुभूत भावों के स्मरण और शान्त अनुचितन से उन्होंने अपने जीवन-दर्शन की भी अभिव्यक्ति कर दी है। शैशवकालीन सर्वात्मभाव की स्मृति से हृदय में पड़ी व्यक्तिहीनता की छाया को छिन्न करते हुए आत्म-विस्तार के जिन साधनों—सहानुभूति, संवेदना, सद्भाव और करुणा का जो आकलन और उन्मेष उन्होंने किया है, वह उनके काव्य की सब में व्याप्त आत्मा की एकता एवं उनके समात्मभाव के ही संवाहक और संपोषक हैं। उन्होंने लिखा है—‘मानव को मानवता की तुला पर गुरु होने के लिए स्वार्थ की दृष्टि से कितना हल्का होना पड़ता है, यह प्रश्न इतने दीर्घ काल में अनुभव के लम्बे पथ को पार कर स्वयं उत्तर बन गया है। अपने प्रति भी विश्वास वचा रखने का क्या मूल्य है, इसे मेरा हृदय ही नहीं मस्तिष्क भी जानता है। भार तो विश्वास का भी होता है और अविश्वास का भी, परन्तु एक हमारे सजीव शरीर का भार है, जो हमें ले चलता है और दूसरा सजीव शरीर पर रखे हुए जड़ पदार्थ का, जिसे हम ले चलते हैं। मेरे लिए तो मनुष्य एक सजीव कविता है। कवि की कृति तो उस सजीव कविता का शब्द-चित्र मात्र है, जिससे उसका व्यक्तित्व और संसार के साथ उसकी एकता जानी जाती है। चाहे कविता किसी भाषा में हो, चाहे किसी वाद के अन्तर्गत, चाहे उसमें पार्थिव विश्व की अभिव्यक्ति हो चाहे अपार्थिव की और चाहे दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध की, उसके अमूल्य होने का रहस्य यही है कि वह मनुष्य के हृदय से प्रवाहित हुई है। कितनी ही भिन्न परिस्थितियों में होने पर भी हम हृदय से एक ही हैं, यही कारण है कि दो मनुष्यों के देश, काल, समाज में समुद्र के तटों जैसा अन्तर होने पर भी वे एक-दूसरे के हृदयगत भावों को समझने में समर्थ हो सकते हैं। जीवन की एकता का यह छिपा हुआ सूत्र ही कविता का प्राण है। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है। व्यक्तिगत सुख विश्व वेदना में घुल कर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख में घुल कर जीवन को अमरत्व’।

सब में निहित तात्त्विक एकता की यह अदम्य उद्भावना, विश्व के सुख-दुख के साथ अपने व्यक्तिगत सुख-दुख के सम्मेलन का यह आग्रह, सब के साथ सहानुभूतिपूर्ण समता का व्यवहार करने की यह व्यापक चेतना, सब की पीड़ा के प्रति सहज स्फूर्त करुणा का यह अबाध प्रवाह, सब के प्रति समात्मभाव का यह स्वाभाविक स्फुरण केवल तभी सम्भव है जब मनुष्य अहंलीन पृथक्त्व और देश-काल की

विभिन्नता से उत्पन्न पारस्परिक विच्छिन्नता—स्व-पर की प्रातिभासिक भेद-भावना से ऊपर उठ कर सब के साथ एकात्मता की अखण्ड अनुभूति से सम्बद्ध एवं संयोजित होते हुये अपने को सब के साथ एक ही सूत्र में संग्रथित मान कर अपनी उस आध्यात्मिक स्थिति में संवर्द्धित तथा प्रतिष्ठित हो जाय, जो सब की एकता का मूल कारण है।

सहानुभूति और करुणा का उद्रेक दूसरों के दुख-निवृत्ति की प्रेरणा से ही गतिशील होता है। यदि दूसरों के साथ अपनत्व-बोध और तादात्म्य की अनुभूति न हो तो उनके दुख दूर करने की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती और इस निजत्व तथा तादात्म्य की स्थिति केवल तभी सम्भव हो सकती है जब तादात्म्य करने वाला यह अनुभव करे कि उसकी आन्तरिक सत्ता—आत्मा, सर्वव्यापी तथा सभी मनुष्यों, सभी प्राणियों एवं सभी पदार्थों की मूल आध्यात्मिक सत्ता से एकीभूत है। सर्व संवेद्य हृदय की इस द्रवणशीलता का भावोदय उपनिषदों में 'तत्त्वमसि'—'तुम वही हो' के विश्वात्म रूप में व्याख्यायित है। अतः, निखिल विश्व ब्रह्माण्ड में अन्तर्निहित सब में सम रूप से व्याप्त एक शाश्वत अविनश्वर तत्त्व की अनुभूति एवं अवगति ही सब के परस्पर साम्य और सहानुभूतिशील सम्बन्धों की सनातन तथा सुदृढ़ नींव है, इसमें सन्देह नहीं।

बाह्य और अन्तःकरण के द्वारा प्राप्त जानकारी से यह सारा संसार अनंत विषमताओं एवं विविधताओं से भरा हुआ जान पड़ता है। लगता है कि विभिन्न स्वरूप और स्वभाव के असंख्य प्राणियों तथा पदार्थों के संघर्ष तथा सामञ्जस्य से ही इसका निर्माण हुआ है। इसमें इतने भेद, इतने द्वन्द्व और इतने प्रकार के कार्य-कारण सम्बन्ध एवं इतनी नियम-शृंखलायें हैं कि उनका कहीं कोई अन्त नहीं दिखायी पड़ता। तब यह परस्पर सहानुभूति, करुणा और मैत्री का भाव कहाँ से उद्भूत होता है? ऐसी विरोधी सत्ताओं में सहज तादात्म्य की स्थिति कैसे सम्भव होती है? वस्तुतः इसका प्रमुख कारण यही है कि इन्द्रियों के द्वारा विभिन्न नाम-रूप से प्रत्यक्ष होने वाली इन समस्त सत्ताओं के भीतर मूलतः कोई एक ऐसा तत्त्व है, जो सब में व्याप्त, अखण्ड तथा अद्वितीय है और जितने भी भिन्न नाम-रूप इन्द्रियों के माध्यम से दिखायी पड़ते हैं, सब उसी एक तत्त्व के प्रकाश हैं, उस एक ही से सब का प्राकट्य है। सारांशतः एक ही इस बहु का—अनंत का यथार्थ रूप है। यदि व्यक्ति-बोध की खण्ड सीमा में निहित अखण्डता को, सबके प्रति सहज रागात्मक अनुभूति से स्पंदित इस व्यापक आध्यात्मिकता को स्वीकार न किया जाय तो परस्पर स्नेह, सहानुभूति एवं करुणा की अनुभूति को, जिसका जीवन में प्रत्यक्ष और मार्मिक अनुभव सभी को होता रहता है, स्वीकार करना सम्भव

नहीं हो सकता है। वस्तुतः इन समस्त रूपावरणों के भीतर कोई न कोई शाश्वत-तत्त्व अवश्य ही निहित है, जो इन सभी भिन्नताओं और परिवर्तनों का आधार तथा आश्रय है। जहाज की गति-शीघ्रता का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें गतिशील जहाज को नहीं बरन् उस स्थिर तट को देखना होगा, जहाँ से जहाज चला है। इसी प्रकार जीवन की गति की वास्तविकता को जानने के लिये हमें इसके स्थिर तत्त्व की खोज करनी पड़ेगी। परिवर्तन और प्रवाह में सबसे अधिक निरन्तर तीव्र गति वाले समय का वर्तमान क्षण हमारी चेतना में अपरिवर्तनीय रूप में सदा स्थिर रहता है, स्वभावतः समय को यह रूप देनेवाली हमारी चेतना के भीतर भी कोई न कोई सनातन तत्त्व अवश्य ही होना चाहिए। इस शाश्वत तत्त्व को भिन्न-भिन्न मनीषियों द्वारा 'मूल प्रकृति', 'आत्मतत्त्व', तथा 'मूल वस्तु-तत्त्व' के नाम से अभिहित किया गया है, परन्तु नाम से कुछ आता-जाता नहीं, केवल इस तत्त्व की स्वीकृति ही महत्वपूर्ण है। भूतवादी मानता है कि आदिम अवस्था में जो मूलभूत था वह चेतन नहीं था। इसका आगम यह हुआ कि दृश्य था, द्रष्टा नहीं था। यह स्थिति अकल्प्य है। न तो दृश्य के बिना द्रष्टा हो सकता है और न द्रष्टा के बिना दृश्य ही, क्योंकि यदि संवितों को ग्रहण करनेवाला कोई था ही नहीं तो संवित हो ही नहीं सकते थे। संवितों से पृथक् भूत सत्ता का कोई अस्तित्व ही नहीं, इसलिये भूतवाद अमान्य और अप्रामाणिक है। यों भी कारण द्रव्य से कार्य द्रव्य की, जो कारण में निहित नहीं है, उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अवस्तु से वस्तु की, असत् से सत् की उत्पत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। कार्य-कारण की शृंखला का विश्वासी विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है। तथाकथित नास्तिक बौद्ध आचार्य भी संसार की प्रत्येक वस्तु को कार्य-कारण की अनादि भूमिका स्वीकार करते हैं। वस्तुतः संवितों, वासनाओं एवं संकल्पों का जो आस्पद या आश्रय है, वह चेतन है। इस चेतना का संवित नहीं होता। ऐसी कोई इन्द्रिय नहीं है, जो इस चेतना का ग्रहण करती हो, अतः यह चेतना अनादि है और भूत की सत्ता चेतना-पेक्षी है। चेतना तो अनेक हैं, पर चेतना चेतन होने की क्षमता, शक्ति—आत्मा एक ही है।

भारतीय अध्यात्म के अनुसार सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थों के जो संस्कार, चित्त पर पड़ते हैं, उनका एकीकरण आत्म-शक्ति की ही क्रिया से होता है। इसलिये आत्मा का जड़ होना सम्भव नहीं, वह या तो चिद्रूपी है या चैतन्य रूपी। दूसरों के प्रति सहानुभूति, करुणा एवं समता के उन्मेष में जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने प्रकृति-बद्ध जीव-भाव से ऊपर उठकर अपने से विभिन्न पर के साथ एकात्म होकर अपने आत्मभाव में संचरण करता सर्वात्मभाव में प्रवेश कर जाता है, उसी प्रकार

आत्मभाव से संपुष्ट सर्वात्मभाव की विकास-विधि से परमात्मभाव तक पहुँच जाना, बहुत सहज तो नहीं, पर असम्भव भी नहीं है। स्वानुभव गम्य यही ब्रह्मात्मैक्य की आनंदमय स्थिति अध्यात्म की परमावधि है। महादेवी जी का जीवन तथा काव्य इसी आध्यात्मिक आस्था एवं भावना से अनुप्रेरित है।

सत्य स्वभाव से ही सार्वदेशिक होता है। ज्ञान, विज्ञान तथा दर्शन को प्राच्य-पाश्चात्य विभागों में बाँटना उचित नहीं, किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि मानवीय संस्कृति का सम्यक् समुदय सब से प्रथम आर्य जाति में ही हुआ और आत्मज्ञान या अध्यात्म का सबसे प्राचीन उल्लेख और परिपूर्ण निरूपण वेद में ही पाया जाता है। महादेवी जी ने इसका संकेत किया है—‘संस्कृति मनुष्य के, बुद्धि और हृदय के जिस परिष्कार और जीवन में उसके व्यक्तीकरण का पर्याय है, उसका दाय विभिन्न भू-खण्डों में वसे हुये मातृव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु संस्कृति की प्राचीनतम अभिव्यक्ति वेद-साहित्य के अतिरिक्त अन्य नहीं है। आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अन्तरिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका कि मानवीय विचार और संवेदन का, एक युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षों की संख्या और इतिहास की ऊहापोह के अभाव में हमारे हर चिन्तन, हर कल्पना, हर भावना में मानो ‘तत्त्वमसि’—‘तुम वही हो’, का, कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूँजता रहता है, जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई दूरागत झंकार भी है। जिसके सम्बन्ध में तर्क के निकट असंख्य उलझनें हैं, उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई प्रश्न नहीं करता, क्योंकि हमारी अन्तश्चेतना उसे अपना स्वीकार कर लेती है।’

यह सदैव स्मरण रखना होगा कि अध्यात्म का विषय आत्मा स्वसंवेद्य है, उसका निर्णय तर्क अथवा अन्य आधिभौतिक युक्तियों से सम्भव नहीं। जिस प्रकार आधिभौतिक शास्त्रों में वे अनुभव, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध हैं, त्याज्य या अनुपयोगी माने जाते हैं, उसी प्रकार अध्यात्म में युक्तियों की अपेक्षा स्वानुभव-आत्म-प्रतीति की सार्थकता अधिक मानी जाती है। उपनिषदों ने बार-बार यह घोषणा की है कि आत्मबोध तर्क से कभी नहीं प्राप्त हो सकता, इसे उपलब्ध करने के लिये अनुभव का आधार अनिवार्य है। आध्यात्मिक सत्य को जीवन में चरितार्थ किया जा सकता है—साक्षात्कार किया जा सकता है, पर उसको तर्क से नहीं समझाया जा सकता—‘यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’—मन के साथ वाणी आदि इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, निराश हो जाती हैं। अध्यात्म

में ही क्यों? सामान्य जीवन में भी अनुभव की महत्ता का हमें प्रत्यक्ष होता रहता है। अनुभूति का बोध सर्वाधिक विशद एवं विशंक होता है। मधु के स्वाद के विषय में चाहे जितने भी ग्रन्थ लिखे-पढ़े जायें, पर उसके स्वाद का सम्यक् पता उसी को रहता है जिसकी जिह्वा पर उसकी कुछ वृद्धें पड़ चुकी हैं। किसी कारण से चाहे वह अपने अनुभव को दूसरों तक न भी पहुँचा सके, परन्तु वह स्वयं उस आनन्द का अनुभव तो कर ही चुका है, जो मधु सम्यन्धी स्वाद के ज्ञान का नित्य-आनुषंगिक तथा अविकल्पक है। आशय यह कि अध्यात्म के क्षेत्र में स्वानुभूति का ही प्रमाण की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि भारतीय दर्शन और वाङ्मय में ज्ञान शब्द आत्मबोध के ही रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह ज्ञान उसका प्रतीक नहीं, जिससे हमारी बाहरी जानकारी बढ़ती है और हमारी बौद्धिक वृत्तियों का संचय होता है। इसलिये स्पष्ट ढंग से यह भी कहा गया है कि इस ज्ञान की दीक्षा केवल तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से, जो तत्व को केवल बुद्धि से जानते हैं उनसे नहीं, वरन् ज्ञानियों से जिन्होंने इस सत्य का साक्षात्कार किया है—‘ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः’ से प्राप्त हो सकती है। वस्तुतः यह ज्ञान बुद्धि-तर्क से अवगत नहीं होता, अनुभव की अखण्डता से मनुष्य में संवर्द्धित होता है। जबतक मनुष्य सर्वव्यापक सत्य में अपनी समग्र सचेतन बोधात्मक सत्ता को प्रतिष्ठित नहीं कर देता—‘तत्परः’ नहीं बना देता तब तक वह ज्योतिर्मय सत्ता अपने को प्रकट या प्रत्यक्ष नहीं करती। इस सर्वत्र व्यापक सूक्ष्म सत्याकाश में उड़ान भरने के लिये श्रद्धा तथा विश्वास के दो पंखों की अनिवार्यता रहती है, क्योंकि जिस प्रकार पक्षी बिना पंखों के आकाश के विस्तार में संचरण नहीं कर सकता उसी प्रकार मनुष्य जिस सत्ता के प्रति हृदय से श्रद्धा और विश्वास नहीं रखता उसमें कभी न तो संचरण कर सकता है और न उसमें संवर्द्धित ही हो सकता—‘श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्’ का यही मूल तात्पर्य है। निष्कर्षतः अनुभव के सोपानों पर आरोहण करते हुये सत्ता की उच्चतम स्थिति में सम्बर्द्धन ही ज्ञान का प्रमुख लक्षण तथा लक्ष्य है।

अस्तु, सब के साथ सहानुभूति, समता, करुणा, मैत्री और अपनी निर्विकार निर्वैयक्तिकता की अनुभूति और उसकी पूर्णता से हमारी सारी प्रकृति सर्वांशतः परिवर्तित हो जाती है और हम स्थिर, सम, निर्विकार, निर्वैयक्तिक, सर्वव्यापक आत्मसत्ता का बोध प्राप्त करते हुये आत्मा के स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं—सब भूतों के साथ उनकी आत्मसत्ता में एकीभूत हो जाते हैं और हमारी इस स्वतः सिद्ध चरम शान्ति की स्थिति से जो भी गुण-कर्म प्रवाहित होते हैं वह सभी उस एक, सम तथा आत्मा के समष्टि स्वरूप विराट् ब्रह्म को समर्पित होते हैं।

इस प्रकार जैसे हम जीवभाव से आत्मभाव में सम्बद्धित होते हैं वैसे ही आत्मभाव से ब्रह्म भाव में सम्बद्धित हो जाते हैं। वस्तुतः हमारी प्रकृतिस्थ जीवात्मा और परमात्मा या ब्रह्म से सम्बन्धित होने के लिये श्रद्धा, विश्वास और अनन्य प्रेम ही एकमात्र साधन है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

—गीता ८-२२

हे पार्थ ! जिसके भीतर सब भूत हैं, और जिसने इन सबको फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है, वह श्रेष्ठ पुरुष अनन्य भक्ति-श्रद्धामय परम प्रेम से ही प्राप्त हो सकता है। और

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

—गीता १०-१०

जो मुझ से युक्त होकर मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं, उनको मैं ऐसी बुद्धि का योग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर सकें। यह स्मरण रखना होगा कि 'बुद्धि योग' का आशय यहाँ पर सम-बुद्धि या आत्मनिष्ठ बुद्धि से है, क्योंकि मन की तरह बुद्धि भी उभयात्मक होती है।

उपनिषद् की भी यही मान्यता है कि परमतत्त्व केवल 'भावग्राह्यमेवाख्यं'। भाव को दो स्तरों में स्वीकार किया गया है—'भवति इति भावः' में भाव का तात्पर्य 'होनेवाला' है तथा 'भावयति इति भावः' में भाव का आशय भावित करने वाला है। भावन से ही भावना की स्थिति प्रत्यक्ष होती है। इस दृष्टि से भाव के एक सम निरन्तर प्रवाह को भावना की संज्ञा मिलती है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' कह कर आचार्यों ने भावना का महत्व विज्ञापित किया है। वस्तुतः भाव की स्फूर्ति-भावना के माध्यम से वांछनीय वस्तु के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेना सहज सम्भव माना गया है। सम्भवतः इसीलिये परमात्मा को उपनिषदों में जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' कहा गया है वैसे ही 'रसो वै सः' कह कर रस रूप में उसके परमात्वाद्य स्वरूप को भी निरूपित किया गया है। सत्ता जैसे एक और अणुष्ट होने पर भी अज्ञानावरण की ओट में विभिन्न और विविध रूपों में गृहीत होती है, उसी प्रकार नित्य संवेद्यमान रस भी अपनी बहुविध सत्तात्मक विभिन्नता एवं विचित्रता के परे अपने मूल रूप में एक ही है, कोई उसे करुण कहता है, तो कोई शान्त और कोई शृंगार। जैसे पारम्परिक साम्य सम्बन्ध की उद्भावना तथा अनुभूति ही रस-साधना की सिद्धि है, वैसे ही मन्त्र में समात्मभाव की अनुभूति

आत्मबोध का सुदृढ़ सोपान है। साम्य का यह स्वाभाविक भाव न तो कोरा ज्ञान है न तटस्थ साक्षीभाव वरन् एक अलण्ड तथा अद्वय सगगानुभूति है। यही रसानुभूति है। यही आत्मानुभूति है। यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेव आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति'। यह परमात्मा रस रूप तथा आनन्दमय है। यह जीवात्म उस रसमय-आनन्दमय परमात्मा को पाकर ही आनन्दयुक्त होता है। यदि आकाश की भाँति सर्वत्र व्याप्त तथा आनन्द स्वरूप परमात्मा न होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणों की कोई प्रिया कर सकता? सब को आनन्द देनेवाले परमात्मा ही हैं। स्वभावतः ऐसे परमात्मा की प्राप्ति केवल रस, आनन्द, प्रेम से ही हो सकती है, क्योंकि प्रेम एकात्मता का आधार और रस-आनन्द उसका सहज परिणाम है। इस दृष्टि से रस, आनन्द तथा प्रेम सनातन सम्बन्ध और परस्पर सापेक्ष हैं।

यह ब्रह्म जो नित्य, ज्ञान-स्वरूप और अनंत है, वही हमारे हृदय की गुफा में भी निहित है—हमारा सनातन सहचर है और इस सहचर से तादात्म्य प्राप्त करने के लिये हमारे पास प्रेम के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नहीं है। अतएव जिस प्रकार जिस भाव से ऊपर उठकर दूसरे समस्त प्राणियों के साथ संवेदना सहानुभूति, करुणा, समता और समात्मभाव के माध्यम से सर्वात्मैक्य की स्थिति का संबोध प्राप्त करते हुये मनुष्य अपनी आत्मस्थिति में प्रतिष्ठित और विकसित हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा प्रेम तथा आनन्द भाव से समन्वित होकर ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव प्राप्त कर सकती है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस उदात्त भावात्मक परिणति के लिये भाव-भावन और अनुभव का आधार अनिवार्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुभव अतर्क्य होता है। समस्त अनुभव का मूल 'मैं' स्वयं अतर्क्य है, उसे हम अनुभव से ही जानते हैं, किसी तर्क या शिक्षा से नहीं। अनुभव में आने वाले बहुत से ऐसे विषय हैं जिनका बोध इन्द्रिय-व्यवधान के बिना ही होता है। अपने राग, द्वेष, क्रोध, प्रेम आदि की अवगति के लिये न तो इन्द्रियों का माध्यम ही काम देता न तर्क-बुद्धि का विश्लेषण ही उपयोगी ठहरता। किसी को दुखी देख कर करुणाशील हृदयों को उसके साथ जिस तादात्म्य का अनुभव होता है, वह अतर्क्य ही है। इसी कारण अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान या सत्य अशेष एवं मर्मस्पर्शी होता है। स्वसंवेद्य होने के कारण भाषा के द्वारा उसकी पूर्णाभिव्यक्ति भी सहज सम्भव नहीं होती, क्योंकि भाषा के द्वारा वही सत्य पूर्णतः व्यक्त हो सकता है जो इन्द्रियबोध अथवा तर्क से उपलब्ध तथा स्वभावतः अपूर्ण एवं सविकल्पक होता है। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है—'जानत तुमहि तुमहि

होइ जाई'। द्रष्टा और दृश्य की, ज्ञाता और ज्ञेय की ऐसी अनुभवात्मक एकता में कौन किसका और किस तरह वर्णन करे? सम्भवतः भाव या अनुभवलभ्य परम तत्त्व को इसी कारण योगलभ्य परमतत्त्व से अधिक उत्कृष्ट एवं सर्व सामान्य माना गया है। आचार्य भट्टनायक ने तो यहाँ तक कहा है कि कवि की अनुभूत वाणी-धेनु जिस रस-दुग्ध का दान करती है उसके समान वह रस नहीं जिसे योगी दुहते हैं।

परात्पर सत्ता को 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयं भूः' के साथ श्रुति ने यह भी कहा है कि यह संसार उसी कवि की रचना है—'देवस्य पथस्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति।' महादेवी जी ने इसका अनुवाद इस प्रकार किया है—

देखो तुम उस सृजनशील का काव्य मनोहर,

अमर और नित नूतन जो रहता है निर्जर!

कवियित्री ने स्वयं इसी भाव को अधिक विस्तार तथा रसात्मक ढंग से व्यक्त किया है—

लघु हृदय तुम्हारा अमर छन्द, स्पन्दन में स्वर-लहरी अमन्द,

हर स्वप्न स्नेह का चिर निबन्ध, हर पुलक तुम्हारा भाव-बन्ध,

निज साँस तुम्हारी रचना का लगती अखंड विस्तार मुझे।

हर पल रस का संसार मुझे!

वस्तुतः इस काव्य—जीव-जगत् और इसके कवि परमात्मा को समझने और उससे सम्बन्धित होने के लिये भावानुभूति आवश्यक ही नहीं नितान्त अनिवार्य है, क्योंकि काव्य की आत्मा रस कवि और सहृदय की चेतना के समात्मभाव के आनंद तथा आह्लाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कवि से तादात्म्य प्राप्त करने के लिये उसके काव्य से तादात्म्य होना, कवि की अनुभूति से एक रस होना नितान्त आवश्यक है।

'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'—'जगत् की प्रत्येक वस्तु में परमात्मा का आवास है' की भावना से ही अध्यात्म के अडिग आधार उपनिषद् का प्रारम्भ होता है। अस्तु, विश्वात्मा की अनुभूति तथा उपलब्धि के आरोहण-क्रम में सर्वभूतों के प्रति—निखिल विश्व के प्रति आत्मवत् भाव रखना लक्ष्य तक पहुँचने का प्रथम सोपान है। उसी परम सत्य की सर्वव्यापी सत्ता विश्व को 'सत्य बनाये हुये है, इसलिये उसे जब तक सर्वत्र, सर्वगत रूप में स्वीकार न किया जायगा तब तक उसका बोध एवं उसकी प्राप्ति असम्भव ही रहेगी। जब उसी एक विश्वकर्मा का ही अस्तित्व संसार की विविध चेष्टाओं, विभिन्न शक्तियों और नानारूपों में प्रकट हो रहा है तब संसार को छोड़कर उसे कैसे और कहाँ खोजा जाय? भीतर का सारतत्त्व और बाहर का सम्पूर्ण दृश्य-प्रसार उसी का

एक मात्र प्राकट्य मानने के कारण अध्यात्म का विश्वासी कभी अपने को जगत्जीवन से निरपेक्ष नहीं मान सकता है। जब अखिल विश्व उसी की क्रीड़ा या लीला है तब विश्व से विरक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि विश्व के स्रष्टा स्वामी को अपना परम प्रेमास्पद स्वीकार करने के पश्चात् सारे विश्व को अपनत्व की दृष्टि से देखना उसके लिये सहज एवं स्वाभाविक हो जाता है।

परिच्छिन्न व्यक्तिगत राग से विरक्त होकर समष्टिगत राग—महाराग में मुक्त संचरण का यही विधान है। इसीलिये कहा भी गया है—‘रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते।’ सीमित व्यक्तिगत राग बन्धन का और व्यापक समष्टिगत राग—महाराग ही मुक्ति का कारण है। सब के साथ संबद्ध होकर एकात्म हो जाने पर—अभेद की स्थिति प्राप्त हो जाने पर समस्त द्वन्द्व एकाकार हो जाते हैं और निर्द्वन्द्वावस्था के माधुर्य की प्रतीति होने लगती है—‘मधुव्वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः’ की उच्चस्थिति सुलभ हो जाती है। विश्व के साथ यही एकात्म भाव—महाभाव परमात्म प्रेम और मुक्ति का आध्यात्मिक परम प्रतीक और उसकी चरम प्रतिष्ठा है। इसी को लक्ष्य करते हुये महादेवीजी ने लिखा है—

मैं सजग चिर साधना ले।

मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।

इसलिये—

वस्तुतः संसार से विरक्त होकर वैयक्तिक मुक्ति-साधना को इन्होंने कभी कोई महत्व नहीं दिया।

महादेवी जी ने अपने एक गीत में सांग रूपक के साथ अपने गीतों की तुलना पक्षियों से की है, जिससे उनके काव्य में निहित दृष्टिकोण को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है। गीत यह है—

मेरे ओ विहग से गान।

सो रहे उर-नीड़ में मृदु पंख सुख-दुख के समेटे,

सघन विस्मृति में उनींदी अलस पलकों को लपेटे,

तिमिर-सागर में घुले दिशि-कूल से अनजान।

खोजता तुमको कहाँ से आ गया आलोक-सपना?

चौंक तोले पंख तुमको याद आया कौन अपना?

कुहर में तुम उड़ चले किस छाँह को पहचान?

शून्य में यह साध-बोझिल पंख रचते रश्मि-रेखा,
 गति तुम्हारी रँग गयी परिचित रँगों से पथ अदेखा,
 एक कम्पन कर रही शत इन्द्रधनु निर्माण।
 तैर तम-जल में जिन्होंने ज्योति के बुद्बुद जगाये,
 वे सजीले स्वर तुम्हारे क्षितिज सीमा बाँध आये,
 हँस उठा अब अरुण शतदल-सा ज्वलित दिनमान।

नभ अपरिमित में भले हो पंथ का साथी सबेरा,
 खोज का पर अन्त है यह तृण-कणों का लघु बसेरा,
 तुम उड़ो ले धूलि का करुणा-सजल वरदान।
 मेरे ओ विहग से गान।

उषा के आभास के पहले अंधकार से आच्छादित पक्षी अपनी उड़ान की दिशा से अपरिचित अपने सुख-दुख रूपी दोनों पंखों को समेटे अपने सीमित घोंसले में सहज तंद्रालस भाव से पड़े रहते हैं। कवि भी आत्म-प्रकाश के पहले अपने गीतों को सुख-दुख के द्वन्द्वों से आवेष्टित किये हुये, लक्ष्यबोध के अभाव में विस्मृति की जड़ता में बंदी बना पड़ा रहता है। प्रकाश के आभास का उन्मेष होते ही पक्षी और कवि दोनों ही धरती का स्थूल धरातल छोड़कर सूक्ष्म आकाश में उड़ान भरने को—ऊर्ध्व संचरण को सहसा तत्पर हो जाते हैं। दोनों के प्रेरणा-स्रोत अन्तर्प्रेरित एवं स्वतः स्फूर्त होते हैं। न पक्षी को उड़ना सिखाया जाता है न कवि को कविता लिखना। दोनों ही अपने पथ की अस्पष्टता और बाधा तथा कठिनाइयों की तनिक भी चिंता किये बिना अपने गन्तव्य की ओर उत्साह और विश्वास के साथ बढ़ चलते हैं। पक्षी के कलरव के साथ ही अंधकार विलीन होने लगता है तथा प्रकाश फैलने लगता है। कवि के गीतों के द्वारा भी अज्ञान का अंधकार क्षय होता है और ज्ञान का प्रकाश विस्तार पाता है। पक्षी के दिगन्तव्याप्त स्वर के पश्चात् लाल कमल और सूर्य दोनों ही खिल उठते हैं। कवि की स्वर-साधना से लाल कमल—पवित्र प्रेम और सूर्य—आत्मबोधक प्रकाश का साथ ही उन्मेष होता है। दोनों ही आत्मप्रेरित इच्छा की सक्रियता से धुँधले और अपरिचित पथ को स्पष्ट और परिचित बना देते हैं। पक्षी की उड़ान आकाश में ही चरितार्थ होती है सही, पर वह धरती का आधार नहीं छोड़ सकती है। उसके स्वर स्थूल धरती और सूक्ष्म आकाश के बीच सेतु का काम करते हैं। कवि भी अपने आध्यात्मिक भावोद्रेक में धरती की क्षित्यण्ड प्रकृति से ऊपर उठकर सूक्ष्म परा प्रकृति में प्रवेश कर जाता है—व्यस्त को लाँघकर समस्त से संयुक्त हो जाता है, किन्तु विश्व के लिये स्नेह, सहानुभूति तथा करुणा एवं मैत्री के भावों से संसिक्त हुये बिना उसके आध्यात्मिक

आलोक की सार्थकता पूर्णतया सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि इसकी परिपूर्णता के लिये लोक-मंगल की भावना अनिवार्य है। इस गीत का प्रमुख आशय यही जान पड़ता है, क्योंकि महादेवीजी का अध्यात्म ऐसा ही लोकसंग्रही है।

साधना-भूमि-विश्व के प्रति कवयित्री की ममता परमात्म-मिलन के पश्चात् भी सदैव सक्रिय बने रहने की आकांक्षी है—

तुम्हें वाँच पाती सपने में।

तो चिरजीवन-प्यास बुझा लेती उस छोटे क्षण अपने में।

पावस-घन सी उमड़ बिखरती,

शरद-निशा सी नीरव घिरती,

धो लेती जग का विषाद ढुलते लघु आँसू-कण अपने में।

मधुर राग बन विश्व सुलाती,

सीरभ बन कण-कण बस जाती,

भरती मैं संसृति का क्रन्दन हूँ जर्जर जीवन अपने में।

मिलनोत्साह के परिणामस्वरूप करुणा का यह प्रवाह वास्तव में अपूर्व है। उन्होंने अपने प्रिय से यही वरदान माँगा है—

घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय।

ताकि विश्व को उर्वर और सजल बनाने के लिये, उसे हरित-भरित करने के लिये मैं नित घिरूँ क्षर क्षर मिटूँ प्रिय।

अथवा

प्रिय जिसने दुख पाला हो।

जिन प्राणों से लिपटी हो पीड़ा सुरभित चन्दन सी,

जिसको जीवन की हारें हों जय के अभिनन्दन सी,

वर दो यह मेरा आँसू उसके उर की माला हो।

वस्तुतः जीवन के आध्यात्मिक विकास-क्रम में विश्व के प्रति उनकी करुणा अक्षय है, उनकी साधना का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सम्बल है—

मैं गति बिह्वल,

पाथेय रहे तेरा दृग-जल,

आवास मिले भू का अंचल,

मैं करुणा की वाहक अभिनव।

मेरा जीवन सतत् विकासमान है। परमात्मा के वियोग-जन्य आँसू ही मेरे लिये पाथेय हैं। मैं पृथ्वी पर ही निवास करना चाहती हूँ, क्योंकि विश्व के प्रति करुणा की भावना को यहीं सक्रियता मिल सकती है। विश्व के कल्याण की

कर्मभूमि धरती ही है और मेरी अभिनव करुणा का सर्वस्पर्शी विस्तार भी यहीं सम्भव है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि दूसरों के दुख से दुखी हुये बिना, उनके साथ तादात्म्य किये हुये बिना करुणा का अभ्युदय नहीं होता और करुणा की सक्रियता के बिना दूसरों का दुख भी नहीं दूर किया जा सकता। वस्तुतः करुणाजन्य तादात्म्य अत्यंत उच्चकोटि का तादात्म्य होता है, क्योंकि इसमें सभी प्रकार का भेदभाव मिट जाता है। प्रेम का तादात्म्य, वात्सल्य का तादात्म्य भी इसकी समता नहीं कर सकता, क्योंकि उनमें भी व्यक्त-अव्यक्त 'मैं'पन शेष रहता है। परन्तु करुणा से द्रवित तादात्म्य संकटापन्न प्राणी के साथ सर्वथा एक-रस हो जाता है। उसकी वेदना सम्पूर्णतः करुणाशील की वेदना बन जाती है। इसीलिये यह माना जाता है कि करुणा का व्यापक प्रसार और विस्तार सब में व्याप्त परमात्मा के साथ तादात्म्य का सहज और सीधा पथ है। भगवान् स्वयं आप्त काम, परमानन्द स्वरूप होते हुये भी अहैतुकी जीवानुग्रह के लिये अशेष करुणामय हैं। वस्तुतः करुणा दैवी प्रकृति का प्रमुख अंग है।

जो भी हो, महादेवी जी करुणा को आत्मशोध, आत्मविस्तार एवं आत्मबोध का मूलाधार मानती हैं। जगत् के सब प्राणियों के प्रति करुणामय कर्म की तुलना में वे मुक्ति, स्वर्ग तथा निर्वाण को नगण्य समझती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार ?

रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार !

उनकी एक पंक्ति है—‘वह रहे आराध्य चिन्मय मृण्मयी अनुरागिनी मैं’। इसका आशय यह है कि जब तक मुझ में विश्व से, विश्वात्मा से पृथक्त्व का भाव शेष है और मैं स्वयं चिन्मय बनकर अपने पूर्णानन्द से समस्त विश्व के प्रति महाकरुणा का विधान स्वायत्त नहीं कर लेती तब तक कर्मशील बने रहने के लिये मैं जीती-मरती रहूँ, क्योंकि निष्काम करुणापूर्ण कर्म की निरन्तरता के समक्ष व्यक्तिगत अमरता का कोई महत्व नहीं—

स्निग्ध अपना जीवन का क्षार

दीप करता आलोक प्रसार

गलाकर मृत पिण्डों में प्राण

बीज करता असंख्य निर्माण

सृष्टि का है यह अमिट विधान

एक मिटने में सौ वरदान।

वस्तुतः ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने का, पूर्ण आध्यात्मिक स्वातंत्र्य प्राप्त करने का साधन वे करुणा को ही मानती हैं, जिसे इसी मानव-जीवन में ही प्राप्त

किया जा सकता है, इसके बाहर अन्यत्र कहीं नहीं। इस स्थिति तक पहुँचने का मार्ग यही है कि व्यक्ति आत्मचैतन्य होकर सर्वभूत हित रत रहकर सब में व्याप्त भगवान का अन्भव करे और उसके सक्रिय कर्म चैतन्य में सहयोग देते हुये प्राणी मात्र के कल्याण में सम चित्त से संलग्न हो जाय। आशय यह कि आत्म चैतन्य अथवा ब्रह्मात्म ऐक्य भाव करुणामय कर्मों के साथ किसी तरह विरंगत नहीं, परम संगत है। विश्वात्मा के साथ एकत्व लाभ करने के लिये विश्व की समस्त सत्ताओं से परम एकत्व और तादात्म्य की स्थिति अनिवार्य है, जिसे हम अपने करुण स्वभाव और सभी कर्मों की मूल प्रेरक शक्ति करुणा के माध्यम से ही उपलब्ध कर सकते हैं। मिटने या मरने के आत्मवलिदान का व्यय यही है कि मृत्यु के द्वारा जीवन के विकास-सिद्धान्त आत्मबोध का आकलन किया जा सके—‘सुन रही हूँ एक ही झंकार जीवन में प्रलय में’ कह कर कवयित्री ने इसी आशय को स्पष्ट किया है।

यह स्मरण रखना होगा कि आध्यात्मिक ऐक्य का अभिप्राय ब्रह्म में लीन होना नहीं, पूर्ण सचेतन एवं स्वतः परिपूरक एकता या साधर्म्य के द्वारा अपने-आपको ब्राह्मी प्रकृति में उठा ले जाना है—ब्रह्म के स्वभाव, स्वरूप और कर्म के साथ एक हो जाना है। यद्यपि ब्रह्म प्रकृति के गुण-धर्म से बँधा नहीं है, फिर भी प्रकृति की प्रत्येक गति में, अखिल प्राणि जगत् में उसी की सत्ता व्याप्त है, उसी का संकल्प सक्रिय हो रहा है, उसी का भाव नाना रूपों में रूपान्तरित हो रहा है। उपनिषदों में उसे ‘निर्गुणोगुणी’—ऐसा निर्गुण जिसमें सब गुण समाहित हैं, कहा गया है। तत्त्वतः ब्रह्म अद्वितीय मूल चिन्मय सत्ता या पूर्ण पुरुष है, विश्वातीत होकर भी विश्वव्याप्त है—सब भूतों के साथ सतत् सम्बद्ध है। वस्तुतः उसे सबसे उदासीन, निष्क्रिय साक्षी मात्र नहीं माना जा सकता है। सब के स्रष्टा होने के नाते वह सब का सुहृद्, सहचर, प्रेमी और आनन्ददाता है इसलिये उसके साथ सभी प्रकार के भावात्मक मानव-सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। सन्निधानन्द तथा रस रूप होने के कारण स्वभावतः वह प्रेम स्वरूप है। प्रेम में सख्य, वात्सल्य तथा आत्मनिवेदन का अपूर्व एवं अनन्य सम्मिश्रण होने से प्रेम की तन्मयता, माधुर्य एवं तादात्म्य की सघनता भी अप्रतिम होती है। वस्तुतः ब्रह्मोपासना के लिये प्रेम का भाव ही सर्वाधिक उपयुक्त साधन माना जाता है। यह प्रेम-भाव कोई विवश अधीनता नहीं, प्रेमी के प्रति सजग आत्मदान है। अध्यात्म सब में व्याप्त ब्रह्म को समग्र रूप से ग्रहण करने और उसके साथ एक हो जाने के संकल्प के रूप में प्रेम को स्वीकार करता है। महादेवी जी ने इसे स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है—

‘इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नहीं, इसका जो उत्तर अनेक युगों से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही हैं, वही

पर्याप्त होना चाहिए। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य के रंग और रूपों के रेखा-जाल से बना चित्र, यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिये मूर्त का दर्शन और अमूर्त का भावन सहज कर देता है, तो तर्क व्यर्थ होगा। मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अतः किसी उच्च आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है, जिसमें हृदय की सीमा, एक असीमता में अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है और हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्यमूलक प्रेम ही उस सामञ्जस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और आत्मनिवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति सम्भव है, जो इष्ट नहीं इष्ट का अनुग्रह दान कहा जा सकता है। माधुर्यमूलक प्रेम में आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नहीं। इसी से तन्मय रहस्योपासक के लिये आदान सम्भव नहीं, पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है। रहस्यद्रष्टा जब खण्ड रूपों से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है, तब उसके लिये अपने अन्तर्जगत के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और बाह्य जगत की सीमा भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता में मिटा देने की इच्छा उसे पूर्ण आत्मदान की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्य भाव न होता, तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बन जाता, भाव-भूमि पर आधार-आधेय की एकता नहीं।

स्पष्ट है कि विश्व के समस्त भूतों की समष्टि में व्याप्त इन्द्रियातीत निर्गुण चेतन के प्रति प्रेम का यह रूप आत्मबोध और जगत्बोध दोनों का उच्चतम आध्यात्मिक प्रतीक है। 'ब्रह्म रूप परम श्रेय बन जाना ही आत्मरूप प्रेय का चरम विकास है। निर्गुण उपासक तत्त्वद्रष्टा ही नहीं, तत्त्व-रूप का अनुरागी भी है, अतः उसका मिलन-विरह समस्त विश्व का उल्लास-विषाद बन जाता है। प्रकृति वहाँ एक परम तत्त्व की अभिव्यक्ति है। अतः उसके सौन्दर्य में सौरभ जैसा स्पर्श है, जो प्रत्येक का होकर भी किसी एक का नहीं बन सकता और भाव में आलोक जैसा रंग है, जो किसी वस्तु पर पड़कर उससे भिन्न नहीं रहता। रहस्यद्रष्टा तन्मय आत्मनिवेदक है, तो उसके काव्य की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाएँ वैसी ही फूटती रहेंगी, जैसे अनन्त समुद्र में हिलोरें। इस अरूप रूप की अभिव्यक्ति लौकिक रूपकों में ही तो सम्भव होगी।'

मुजनशील मानव-व्यक्तित्व के बहुत से ऐसे धरातल हैं जो उसकी सहज

सामान्य व्यावहारिक स्थिति से अलग उसके भाव-जगत् की आन्तरिक समृद्धि और संपृक्ति के मूलाधार होते हैं। इन्हीं विविध भावात्मक अनुभूतियों की रहस्यमयी अभिव्यक्ति के लिए भारतीय सांस्कृतिक-साहित्यिक परम्पराओं में धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म काव्य की भूमिका में आरूढ़ हो कर अपनी सार्थकता और चरितार्थता का आकलन करते रहे हैं। जो सत्य, ज्ञान, भक्ति एवं कर्म की विविध प्रणालियों से उपलब्ध किया जाता रहा है उसे अध्यात्म के सर्वव्यापी रागतत्व के माध्यम से एक अभिनव भावलोक में प्रतिष्ठित करते हुए महादेवी जी ने अत्यंत सरस, सुबोध और सर्वजन सुलभ बना कर एक अभूतपूर्व रूप में उपस्थित कर दिया है। दर्शन जिसे तर्क के द्वारा बाह्य दृश्यगत विषमता को अतिक्रमण कर आन्तरिक एकता की सारवत्ता में प्रमाणित और परिवर्तित करते हुए ब्रह्म-विहार की स्थिति में स्थापित करता है, उसे ही कवयित्री ने व्यष्टि और समष्टि में निहित आत्मा-परमात्मा के प्रणय-रूपकों में बाँध कर राग, सौन्दर्य तथा रसात्मक उन्मेष का सम्वल दे कर बहुत ही मर्मस्पर्शी और मनोरम बना दिया है। दर्शन का सत्य जब हृदय के भावात्मक स्पंदनों से मुखरित होता है तब उसका अधिक मर्म-मधुर बन जाना स्वाभाविक हो उठता है। चराचर जगत् को परस्पर सम्वद्ध करने वाली सब में व्याप्त आध्यात्मिक सत्ता की तात्त्विक एकता की अनुभूति जिस करुणा और माधुर्य के साथ इनके काव्य में अभिव्यक्त हुई है, वह निश्चय ही अनन्य होने के साथ-साथ सब के लिए उद्बोधक तथा आनंदप्रद भी सिद्ध हुई है।

जिस सत्य को दर्शन केवल ज्ञेय और धर्म केवल श्रेय बता कर संतुष्ट हो जाता है, अध्यात्म उसे अपने भावात्मक आधार से प्रेय बना कर आकर्षक और अनुभव-गम्य बना देता है, उसकी सफलता का यही रहस्य है। महादेवी जी ने अध्यात्म का महत्व इसी रूप में स्वीकार भी किया है कि वह जीवन के सभी रूपों के प्रति उनकी ममता समान रूप से जगाने में समर्थ है। इस दृष्टि से यह सहज ही बोधगम्य हो जाता है कि अध्यात्म में मनुष्य की संवेदनात्मक, प्राणात्मक तथा मनोमय एवं बौद्धिक वृत्तियों का भावमय आत्मिक वृत्तियों से ऐसा सामञ्जस्य हो जाता है कि किसी प्रकार के विकल्प तथा द्वैत का अवकाश ही नहीं रह जाता। सब के प्रति समान वेदना, संवेदना, सहानुभूति, करुणा और समात्म भाव के क्रमिक सोपानों पर आरोहण करता हुआ मनुष्य आत्मानुभूत समता के उस उच्च शिखर पर पहुँच जाता है, जहाँ से जीवन-जगत् का कण-कण अपनी महिमा और स्वरूप से उद्भासित एक सर्वव्यापी आलोक की सर्वप्लवी छाया में आलोकित हो कर परस्पर-सम्वद्ध तथा एकीभूत दिखायी पड़ने लगता है—

अलि में कण-कण को जान चली
 सबका क्रन्दन पहचान चली।
 जिस मुक्ताहल से मेघ भरे,
 जो तारों से तृण में उतरे,
 मैं नभ के रज के रस-विष के
 आँसू के सब रँग जान चली।
 दुख को कर सुख-आख्यान चली।



इन आँखों के रस से गीली,
 रज भी है दिवि से गर्वोली,
 मैं सुख से चंचल दुख-त्रोझिल,
 क्षण-क्षण का जीवन जान चली।
 मिटने को कर निर्माण चली।

अपनी विराट करुणा से कण-कण को आलोकित करने वाली यह स्नेहमयी स्निग्ध लौ निश्चय ही कवयित्री की आध्यात्मिक अनुभूति के उस भाव-क्षितिज से प्रस्फुटित हुई है, जो सब की आन्तरिक एकता और समाहित समता का सुदृढ़ आधार है। इस अनुभूति से स्पंदित संवेदनशील हृदय को दूसरे की वेदना-व्यथा का अनुभव करने में कभी किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पड़ती। कवयित्री ने मोती की सृष्टि करने वाले बादलों के आँसुओं के साथ तारकों के उन आँसुओं को भी पहचान लिया है, जो ओस-कणों के रूप में लघु तृणों पर लूढ़क पड़ते हैं। वस्तुतः उन्हें सभी प्रकार के सुख-ऐश्वर्य तथा दुख-संवेदनामय आँसुओं का रहस्य ज्ञात है। वे आकाश और पृथ्वी में व्याप्त अमृत-विष दोनों को पहचानती हैं और यह भी जानती हैं कि एक ही मूलवस्तु परिवेश, परिस्थिति और मनोभावना के विभेद तथा वैषम्य के कारण सुख या दुखमय रूप धारण कर लेती हैं। इस बोध और विश्व के साथ भावात्मक संपृक्त के फलस्वरूप वे सुख-दुख की व्यवितगत संकीर्ण सीमा को अतिक्रमण करके दुख में भी सुख का आकलन करने में समर्थ हो गयी हैं। उनका विश्वास है कि दूसरों की पीड़ा के प्रति सजग संवेदना, सहानुभूति और करुणा से द्रवित आँसू जहाँ कहीं भी गिरते हैं, वे उस भूमि-भाग को स्वर्ग की तरह दिव्य और पवित्र बना देते हैं। विश्व-जीवन की क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाली कालिक स्थिति से पूर्ण परिचित हो कर वे त्याग, वलिदान एवं आत्मोत्सर्ग को अभिनव निर्माण और नित नव सृजन एवं कालातीत आत्मोपलब्धि के रूप में स्वीकार करती हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि विश्व की वेदना के प्रति सर्वभोग करणा और विश्व में अन्तर्हित चेतना के प्रति अदम्य आनुल आकर्षण के माध्यम से आत्मोपलब्धि की अविचल साधना ही महादेवी जी के काव्य का अट्टिग आधार है। कवयित्री की इस भाव-साधना को, सर्वगत पीड़ा के इस मार्मिक व्यथाबोध को, आत्म-समर्पण के इस संगीतमय स्वर को तथा संकल्पात्मक अनुभूति की इस सरस अभिव्यक्ति की तीव्रता को उनके आध्यात्मिक भाव-योग के अतिरिक्त और कीन सी संज्ञा दी जा सकती है ?

अस्तु, भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम स्वलक्ष्य आत्मिक मूल्यों की सर्वव्यापी एकता और अंतरंगता के परिष्कृत संस्कारों से संपुष्ट और अनुप्राणित, अनुभूति एवं उपलब्धि की भाव-भंगिमा एवं भाषा से समन्वित तथा मूलरहित महादेवी जी का काव्यालोक अध्यात्म की उच्चतम भूमिका में प्रकाशित एवं प्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं।

मनीषियों ने आध्यात्मिकता का आधार सत्य और साहस को उसका प्राण माना है। 'तस्यै सत्यमायतनम्'। महादेवी जी के गीत इसका साध्य उपस्थित करते हैं—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला ।

घेर ले छाया अमा वन,

आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमाले यह घिरा घन;

और होंगे नयन सूखे,

तिल बुझे औ' पलक रुखे,

आर्द्र चितवन में यहाँ,

शत विद्युतों में दीप खेला ।



दूसरी होगी कहानी,

शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोयी निशानी;

आज जिस पर प्रलय विस्मित,

में लगाती चल रही नित,

मोतियों की हाट औ'

चिनगारियों का एक मेला ।

और पथ मेरा निर्वाण बन गया।
 प्रति पग शत वरदान बन गया।
 अंजन-वदना चकित दिशाओं ने चित्रित अवगुंठन डाले,
 रजनी ने मरकत-वीणा पर हँस किरणों के तार सँभाले,
 मेरे स्पन्दन से झंझा का
 हर-हर लय-संधान बन गया।
 पारद-सी गल हुई शिलायें दुर्गम नभ चन्दन-आँगन-सा,
 अंगराग घनसार बनी रज, आतप सौरभ-आलेपन-सा,
 शूलों का विष मृदु कलियों के।
 नव मधुपर्क समान बन गया।

अथवा— कहो मत प्रलय द्वार पर रोक लेगा,
 वरद मैं मुझे कौन वरदान देगा ?
 हुआ कब सुरभि के लिये फूल बन्धन ?
 व्यथा प्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं,
 धुला ज्वाल से मोम का देवता मैं,
 सृजन-श्वास हो क्यों गिनूँ नाश के क्षण ?

लोक-मंगल की भावना और सब के प्रति अवाध करुणा की स्फूर्ति से समन्वित,
 अपने भाव-गीतों की क्षमता के विषय में वे सर्वथा आश्वस्त हैं—

लिये छाँह के साथ अश्रु का कुहक सलोना,
 चले बसाने महाशून्य का कोना कोना,
 इनकी गति में आज मरण बेसुध बन्दी है,
 कौन क्षितिज का पाश इन्हें जो बाँध सहज ले।
 पंथ माँगना इन्हें नहीं पाथेय न लेना,
 उन्नत मूक असीम मुखर सीमित तल देना,
 बादल सा उठ इन्हें उतरना है जल-कण-सा,
 नभ विद्युत के बाण, सजा शूलों को रज ले।

छाँह और आर्द्रता लिए हुए जिस प्रकार बादल समस्त आकाश को छा लेना चाहते हैं उसी प्रकार कष्टना की छाया और आर्द्रता लिए हुए मेरे भाव-गीत विश्व में व्याप्त हो जाना चाहते हैं। इन गीतों में इतना लावण्य भरा है, जो मृत्यु को भी बंदी बना लेने की क्षमता रखता है। निर्बन्ध मेधों की भाँति ये गीत अपनी गति में मुक्त तथा स्वच्छन्द हैं, किसी प्रकार की भौतिक सीमाएँ इन्हें बाँध नहीं सकतीं।

मेरे इन गीतों के उत्स का कारण अनंत और असीम मत्त का बोध ही है। मद्यपि ये मेरी सीमित वाणी में गुंथित हैं, तथापि इनका मूल विंगड और व्यापक है। बादल की तरह ऊपर उठ कर ये उदात्त भावलोक में विनम्र करने लगे हैं, किन्तु धरती से इनका सम्बन्ध बराबर बना रहता है। नागर के गारे जल को मीठा बनाकर जिस प्रकार बादल पृथ्वी की प्यास बुझाने के लिये वरन पड़ते हैं, उसी प्रकार मेरे गीत धरती की कटुता को उदात्त भावों का संगम दे कर उसी के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्न करने लगे हैं—कल्याण के राग में विश्व का कल्याण करते हैं। इन्हें न तो किसी का मार्ग-निर्देशन चाहिए और न पाथेय ही, क्योंकि परावलम्बी न हो कर ये स्वयं संपूर्ण हैं। जैसे निष्पुन में आकाश और सौरभ से काँटे सुन्दर और सस्य बन जाते हैं, वैसे ही मेरे हृदय का कल्याणकारी माधुर्य जीवन के दुःख और उसकी पीड़ा को सह और मधुर बना देता है।

इन उपर्युक्त गीतांशों में जिस आस्था, विश्वास और साहस की अभिव्यक्ति हुई है, वह किसी व्यापक सम्भीर नृत्य की उपलब्धि के बिना किसी प्रकार सम्भव नहीं हो सकती। वस्तुतः महादेवी जी के काव्य का रसास्वादन करने के लिए इस दृष्टि-पथ का अनुसरण नितान्त अनिवार्य है, क्योंकि कवि के आधारभूत भावों की उपेक्षा और स्वमताग्रहों की आनुलता का सहज परिणाम कवि के देश से वंचित रह जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इस विषय में मैं अपनी धारणा पहले भी व्यक्त कर चुका हूँ और पुनः उसे दोहराना चाहता हूँ—किसी कवि की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, उसकी जीवन-जगत् सम्बन्धी दृष्टि, उसकी आस्था और तदनुकूल संचरित उसकी साधना एवं उनके संस्कार-स्वभाव और विश्वास की भाव-भूमि तथा उसके जीवन-दर्शन और आत्म-विवेक की पूर्ण अवगति के बिना उसके काव्य का विश्लेषण-विवेचन किसी तरह सम्भव नहीं है। कवि के दृष्टिकोण के समस्त संदर्भ और यह जाने बिना कि वह किस घरातल अथवा भूमिका से काव्य-सृजन कर रहा है, उसके काव्य पर, किसी सिद्धान्त, रुचि या मान्यता के अनुकूल निर्णय देना अनधिकार चेष्टा के साथ-साथ हास्यास्पद भी हो जाता है। क्योंकि स्ववद्ध सिद्धान्तों तथा मान्यताओं से ऊपर उठ कर व्यापक जीवनानुभूतियों को ग्रहण करना सच्ची समीक्षा का प्रथम सोपान है। इस प्रकार यह अत्यंत आवश्यक है कि साहित्य-समीक्षक देश की संस्कृति तथा उसके सौन्दर्यबोध के विकास एवं निष्ठा से पूर्णतया परिचित होने के पश्चात् ही समीक्षा के कार्य में संलग्न हो, अन्यथा उसे किसी प्रकार कृतार्थता नहीं प्राप्त हो सकती है।

महादेवी के काव्य में निहित भाव-तत्त्व

वेदना :

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास,
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस
छोड़ देते क्यों चारम्बार
मुझे तम से करने अभिसार ?

दृगों में छिपा अश्रु का हार,
सुभग है तेरा ही उपहार।

जन्म या जीवन को वियोग के रूप में स्वीकार करना आध्यात्मिक दृष्टिकोण है। वस्तुतः योग से वियोग की स्थिति में आने की मार्मिक वेदना महादेवी जी के काव्य में शतशः अभिव्यक्त है। सृष्टि के पहले ब्रह्मा ने अपने एकाकीपन की वेदना से जो पहला उच्छ्वास छोड़ा, वही मनुष्य का जीवन है। वियोग-व्यथा के ये आँसू उसी के उपहार हैं। किसी से प्राप्त उपहार को देखकर उसके देने वाले की स्मृति जैसे अन्तर्जगत में जीवन्त और साकार हो उठती है वैसे ही वियोग-व्यथा के उपहारस्वरूप आँसुओं से कवयित्री के हृदय में ब्रह्मा की स्मृति जग पड़ती है। एक से दो हो जाने की क्रिया का नाम ही तो सृष्टि है—

छिपाये थी कुहरे से नींद काल की सीमा का विस्तार,
एकता में अपनी अनजान समाया था सारा संसार।
मुझे है उसकी धुँधली याद बैठ जिस सनेपन के कूल,
मुझे तुमने दी जीवन-वीन प्रेम-शतदल का मैंने फूल।

ब्रह्मा या परमात्मा ने जीव को जीवनदान दिया और जीव ने उसको प्रेम-भावना का शतदल कमल और तब—

उसी का मधु से सिक्त पराग और पहला वह सौरभ भार,
तुम्हारे छूते ही चुपचाप हो गया था जग में साकार।

स्पष्ट है कि सृष्टि के मूल में परमात्मा का प्रेमभाव अथवा आनंद ही सन्निहित है। इसी को उसकी 'लीला' नाम से भी अभिहित किया जाता है। सृष्टि के पहले देश-काल की भी स्थिति नहीं थी। सारी सृष्टि योगस्थ थी। वह निखिल मिलन का पूर्ण पर्व था। सृष्टि के प्रारम्भ के साथ ही योगच्युति की दशा का—विरह का भी प्रारम्भ हुआ। स्वभावतः जीवात्मा पुनः उसी योग-स्थिति में जाने के लिये आकुल-व्याकुल है—पुनर्मिलन के लिये समुत्सुक और लालायित है। उसकी इस विकल वेदना का कारण निराशाजनक अथवा अभावात्मक नहीं है, वरन् इसके पीछे योग का मिलन का महाभाव ही त्रियाशील है। उसको पता है कि उसका यह विरह मात्र कालिक है, कालातीत—शाश्वत नहीं। इसलिये उसकी इस वेदना का आधार या आलम्बन किसी प्रकार का अभाव नहीं, भाव ही है। प्रेम का आलम्बन मिलन-विरह की दोनों स्थितियों में एक ही रहता है। वियोग के मूल में नित्य योग की स्थिति, स्मृति, तथा आकांक्षा योगकाल की अपेक्षा अधिक तीव्र तथा निरन्तर बनी रहती है। स्वभावतः वियोग की वेदना में ग्लानि एवं निराशा के लिये कोई अवकाश नहीं रहता, क्योंकि साधनात्मक तथा भावात्मक होने के कारण यह वेदान्त माधुर्य से संसिक्त रहती है—

वेदना मधु मदिरा की धार अनोखा एक नया संसार।

वास्तव में मिलन-मुख नेत्रों का उल्लास, एक स्थिर स्थिति, सुख या वस्तु सत्य मात्र है, किन्तु विरह हृदय-प्रेरित प्रयत्न, गति का उन्मेष या उल्लास अर्थात् भावसत्य है—

घिरती रहे रात !

नयन ज्योति वह, यह हृदय का सवेरा,

अतल सत्य प्रिय का लहर स्वप्न मेरा,

कही चिर विरह ने मिलन की नयी बात।

घिरती रहे रात !

विरह-वेदना का यह न्यास कवयित्री के हृदय में स्नेह, संवेदना, सहानुभूति, करुणा तथा साधना के भाव जगाने में सहज ही सक्षम है और ये भाव कभी किसी प्रकार के संकीर्ण वैयक्तिक दुख का नहीं, आत्म-विस्तार एवं आनंद का ही उन्मेष करते हैं—

में चिर पथिक वेदना का लिये न्यास।

कुछ अश्रु-कण पास।

चिर बंधु पथ आप, पगचाप संलाप,

दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप,
हर पल मुझे छाँह हर साँस आवास।



रोके निठुर धूल थामें कठिन शूल,
पथ में बिछें या हँसें व्यंगमय फूल,
सब का चरण लिख रहे स्नेह-इतिहास।

कण हैं रजत-दीप, तृण स्वप्न के सीप,
प्रतिपग सुरभि की लहर ही रही लीप,
हर पत्र नक्षत्र हर डाल आकाश।

मैं साधना पथ की चिर पथिक हूँ। विरहानुभूति और आँसू के कुछ कण ही इस पथ के पाथेय हैं। कोई दूसरा साथी भी नहीं है, पथ ही साथी है। संलाप के नाते केवल पगचाप की ध्वनि ही सुनी जा सकती है। इस यात्रा की दूरी भी क्षितिज की उस रेखा के समान है, जो यात्री के आगे बढ़ने के साथ स्वयं भी बढ़ती जाती है। फिर भी इस यात्रा में मुझे थकान या सूनेपन का अनुभव नहीं होता। इस यात्रा का प्रतिपल सुखद तथा प्रति श्वास विश्राम एवं पुलकपूर्ण लग रहा है। पथ में बाधा डालने वाले धूल, काँटे आदि की मुझे चिंता नहीं है। व्यंग, उपेक्षा में मुझे विचलित करने की शक्ति नहीं है। अनुराग-पथ पर गतिशील मेरे चरण सबका स्नेह-पूर्ण इतिहास लिखते हुए निरन्तर आगे बढ़ते जाते हैं। मैंने सबके साथ स्नेह और करुणा का व्यवहार करना सीख लिया है। इस विरह-वेदना की मार्मिक अनुभूति से प्रिय की स्मृति का ऐसा रसात्मक उद्रेक हो गया है कि संसार का प्रत्येक कण ज्योतिमय दीपक तथा प्रत्येक तृण प्रिय की कान्ति की झलक देने वाले मोती को धारण करने वाले सीप की तरह जान पड़ता है। संसार का प्रत्येक पदार्थ प्रिय की ज्योति और उसकी कान्ति को उद्भासित करने वाला प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि यात्रा का प्रत्येक पग सुरभित और स्निग्ध है। पथ का प्रत्येक पत्ता चमकता हुआ नक्षत्र और प्रत्येक डाल नक्षत्रों से जगमगाते आकाश की तरह प्रसन्न दिखायी पड़ती है।

विश्व के प्रति स्नेह, सहानुभूति एवं करुणा में पर्यवसित यह वेदनानुभूति व्यक्तिगत वेदना अथवा कुंठा का परिणाम कदापि नहीं हो सकती। यह वेदना साधनात्मक सजगता और जीवन के जयी संकल्पों से समन्वित होने के कारण किसी विवश अप्रियता का अंश नहीं, अपितु उत्साह, साहस तथा कर्म-ध्रैरणा का आवेगमय उन्मेष है। यही कारण है कि इसमें किसी के प्रति आक्रोश, व्यक्तिगत विपाद, थकान या पराजय का आभास तक न मिलकर

सबके प्रति सद्भाव एवं साधिका के आन्तरिक उल्लास का ही भाव पाया जाता है—

प्रिय पथ के यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं।

हीरक सी वह याद बनेगा जीवन सोना,

जल जल तप तप किन्तु खरा इसको है होना,

चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं।

यदि यह वेदना वांछित और अनुकूल न होती तो काव्य में विशेषकर आत्म-निष्ठ गीत-काव्य में इसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं थी। वस्तुतः परम प्रिय भावना के ही रूप में, आत्मोपलब्धि के साधन के रूप में ही महादेवी जी ने इसे काव्यात्मक सरस अभिव्यक्ति का रूप दिया है। यह वेदना प्रत्यक्षतः दुखमूलक होकर भी मधुरता, कृपा और प्रणयानुभूति से संश्लिष्ट होने के कारण परिणामतः आनन्द-मूलक ही है। महादेवी जी के काव्य में यह वेदनानुभूति उनकी व्यापक संवेदन-शीलता के स्फुरण और उनके महाभाव की साधना की साक्षी रूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है।

भारतीय संस्कृति में कमल जीवन के कलुष (पंक) और जीवन के रस (जल) से उद्भूत जीवन की ऊर्ध्वगामी समृद्धि-श्री का आसन माना गया है। अलिप्तता उसका प्रधान गुण है। पंक में जन्म लेकर भी वह पंक से ऊपर उठता है, खिलता है। जल में जीवित रह कर भी उससे अलिप्त रहता है। वस्तुतः उसका स्वभाव ही अनासक्त है। इसके साथ ही उसकी यह भी विशेषता है कि असद् से असद् वस्तु से भी वह उसके भीतर निहित सद् तत्त्व को ग्रहण करते हुए अपने विकास में निरन्तर तत्पर रहता है। पंक से भी पोषण प्राप्त करते हुए अपने को सौरभ और मकरंद से आपूर्ण रखता है। वह इतना प्रकाशप्रिय होता है कि उसके संस्पर्श मात्र से खिल उठता है और उसके वियोग में कुम्हला जाता है। 'तमसोमा ज्योतिर्गमय' उसकी सनातन पुकार है। अनासक्त, प्रकाशप्रिय, अमंगल से भी मंगल ग्राहक, सुगंध वितरक कमल से आध्यात्मिक जीवन की अत्यंत मनोरम और हृदयग्राही भी है। महादेवी जी ने अपने जीवन को 'विरह का जलजात' कहा है—

विरह का जल जात जीवन, विरह का जल जात।

वेदना में जन्म करुणा में मिला आवास,

अश्रु चुनता दिवस इसका अश्रु गिनती रात।



जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज,

खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात ।

जीवन विरह का जल जात ।

जीवन विरह का कमल है। वेदना (तम-पंक) में इसका जन्म और करुणा—
द्रवणशीलता (पानी) में इसका घर है। जैसे दिन—ज्योति-मिलन कमल के आँसुओं—
ओस को पोंछ देता है वैसे ही परम प्रकाश का प्रतीक परमात्म-मिलन जीवन के
आँसुओं को पोंछ सकता है, क्योंकि रात (वियोग) में दोनों ही रोते हैं। यह सारा
संसार परमात्मा की सहज लीला है और सारी सृष्टि के प्राणी तथा पदार्थ उस लीला
के पात्र हैं। यदि यह जीवन-कमल उस क्रीड़ाप्रिय भगवान का लीला-कमल बन
जाय तो उसके हास रूपी प्रात को देखकर सहज ही खिल उठे—आह्लादित हो
जाय। विरह-वेदना के आनंदमय परिणाम की इससे बड़ी किसी सम्भावना की कल्पना
भी नहीं की जा सकती है। इस आनंदविधायक वेदनानुभूति के साथ जीवन की
यात्रा कभी कष्टकर नहीं हो सकती, क्योंकि हमें बोध रहता है कि जीवन की सारी
अवस्थायें, चाहे सुखद हों या दुखद, सभी हमारी प्रगति और विजय के साधन हैं।
जन्म और मृत्यु स्वयं हमारी यात्रा के मार्ग में दूरी-दर्शक चिन्ह-रूप हैं। हमारा
विश्रामस्थल तो वही महामिलन है—अमरत्व है, जिसके लिये हमारी जीवन-यात्रा
चल रही है—

प्राणों ने कहा कब दूर पग ने कब गिने थे शूल ?

मेरे सार्थवाही स्वप्न अंचल में व्यथा भरपूर,

आँखें मोतियों का देश साँसें बिजलियों का चूर,

तुमसे ज्वाल में हो एक मैंने भेंट ली यह धूल ।

यात्रा की दूरी और मार्ग की आपदाओं की साधिका को परवाह नहीं है। उसे
ज्ञात है कि इस यात्रा के साथी-संगी केवल प्रिय सम्बन्धी स्वप्न-कल्पना ही हैं।
व्यथा ही उसका सम्बल है। उसके नेत्रों में आँसू भरे हैं और हृदय में टीस-कसक
भरी है। यह वेदना ही गन्तव्य तक पहुँचाने में समर्थ है। क्योंकि इसी के माध्यम
से साधिका के सारे विकार जलकर क्षार हो गये हैं और वह संसार के प्रति विनम्र
तथा करुणापूर्ण हो गयी हैं, जो उसकी सफलता का रहस्य है। चेतना में परमात्मा
से एक होकर भी इसीलिये उसने जीवन की व्यथाओं को सहर्ष स्वीकार कर
लिया है—

आज दे वरदान !

वेदने वह स्नेह-अंचल-छाँह का वरदान ।

अब न कह 'जग रिक्त है यह'

'पंक ही से सिक्त है यह'

देख तो रज में अचंचल,
स्वर्ग का युवराज तेरे अश्रु से अभिसिक्त है यह;
अमिट घन-सा दे अखिल रस-रूपमय निर्वाण।

कवयित्री अपनी वेदना से प्रिय के स्नेहांचल की शीतल छाया का वरदान माँगते हुए कहती है कि वेदना की स्थिति के साथ संसार को सूना या रिक्त कहना अथवा उसे कशुष से पूर्ण कहना कदापि उचित नहीं है। चाहे यह विश्व आत्मबोध और उससे उत्थित विरह वेदना की अनुभूति से पहले धूमिल ही रहता हो, परन्तु वेदना के जगते ही उसके आँसुओं से धुलकर उसकी पंकिलता तथा धूमिलता का अवसान हो जाता है। जैसे बादलों की वर्षा से अभिषिक्त होकर धरती का रूप-रंग निखर आता है और वह हरी-भरी तथा प्रसन्न दीखने लगती है, वैसे ही स्वर्ग का उत्तराधिकार जीव वेदना से अभिषिक्त होकर अकलुष एवं पवित्र होकर गरिमा-मंडित और अपने उत्तराधिकार के सर्वथा योग्य बन जाता है। अन्त में कवयित्री ने वेदना से वरद बादलों की तरह बरस कर विश्व को नया रूप, नया रंग और नया रस देकर उसे रस-रूपमय मुक्ति का स्थल बनाने का आग्रह किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राकृत जीवभाव की पृथकता से ऊपर उठकर अप्राकृत आत्मभाव में पहुँचना और समात्मानुभूति के उन्मेष से अनात्मभाव का सर्वथा अवसान ही जीवात्मा की परमात्मा के साथ अभेद की प्रतिष्ठा या मुक्ति है। इसी स्थिति में पहुँचकर आत्मा को ब्रह्म के साथ 'सोऽहम्' रूप में अपना पूर्ण अनुभव प्राप्त होता है। वेदना से महादेवी जी ने विश्व को इसी सर्वमुक्ति का स्थल बनाने का आग्रह किया है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि अकेले ब्रह्मानन्द का अनुभव करने में मनुष्य का कोई विशेष गौरव नहीं, विशेष गौरव तो तब है जब उस ब्रह्मानन्द को सब में वितरण करने का अधिकार प्राप्त किया जा सके—एक मुक्ति के साथ सर्वमुक्ति का आकलन और आयोजन किया जा सके। यही भावना उनकी विश्वव्यापी करुणा का मूल उत्स है—

क्यों अश्रु न हों शृंगार मुझे ?

मेरी मृदु पलकें मूँद मूँद,

छलका आँसू की बूँद बूँद,

लघुतम कलियों में नाप प्राण,

सौरभ पर मेरे तोल गान,

बिन माँगे तुमने दे डाला

करुणा का पारावार मुझे।

चिर सुख-दुख के दो पार मुझे।

मैं चली कथा का क्षण लेकर,
 मैं मिली व्यथा का कण देकर,
 इसको नभ ने अवकाश दिया,
 भू ने इसको इतिहास दिया,
 अब अणु-अणु सौंपे देता है
 युग-युग का संचित प्यार मुझे।
 कह-कह पाहुन सुकुमार मुझे।
 रोके मुझको जीवन अधीर,
 दृग-ओट न करती सजग पीर,
 नूपुर से शतशत मिलन-पाश,
 मुखरित, चरणों के आस-पास,
 हर पग पर स्वर्ग बसा देती।
 धरती की नव मनुहार मुझे।
 लय में अविराम पुकार मुझे।

मेरे लिये आँसू शृंगार क्यों न बने ? सहज ही करुणामय होने के कारण परमात्मा ही ने जीवात्मा के हृदय में करुणा का संचार कर दिया है। उसी ने उसके हृदय को कोमल, परदुःखकातर तथा इतना संवेदनशील बना दिया है कि दूसरे को दुखी देखकर उसके आँसू छलकने लगते हैं। अपनी संवेदनशीलता के बोध से कवयित्री को ऐसा लगता है कि परमात्मा ने उसके प्राणों में कलियों की कोमलता और गीतों में उनके सौरभ की प्रसरणशीलता भर दी है। अपनी उदारता से उसने उन्हें करुणा का सागर ही दे डाला है। अतः जीवन के सुख-दुख के बीच में उनकी करुणा प्रवाहित होती रहती है। वे प्रिय को अपनी प्रेम-कहानी सुनाने के लिये चली थीं, किन्तु मिलने के समय तक उनके पास केवल करुण पीड़ा ही शेष रह गयी और बाकी सब भावनायें नष्ट हो गयीं। उसी पीड़ा के कारण उनकी प्रेम-कथा आकाश में गूँज गयी और धरती में उसका इतिहास लिखा गया। इस करुणा से अनुप्राणित विश्व का अणु-अणु उन्हें प्रिय लगता है और साथ ही यह भी जान पड़ता है कि विश्व का कण-कण उन्हें भी एक अत्यन्त सुकुमार अतिथि के रूप में प्यार करता है।

जीवात्मा संसार में कुछ समय के लिये अतिथि की तरह ही आता है, पर संसार की पीड़ा देखकर उसे दूर करने के प्रयत्न में संलग्न हो जाता है। संसार की पीड़ा उसे संसार में रुकने के लिये बाध्य करती जान पड़ती है। संसार की यह पीड़ा यद्यपि उसके लिये पैरों में नूपुर के बंधन की तरह है तथापि बंधन होकर भी यह

अपनी संगीतात्मक ध्वनि से पंरों को गति और विश्राम दोनों देती है। इस परिस्थिति में पीड़ा क्षणभर के लिये भी उसे अपनी आँखों से ओझल नहीं करती—निरन्तर पीड़ा की अनुभूति होती रहती है। संसार में रुकने और उसकी व्यथामोचन की यह मनुहार जीवात्मा की गति के प्रत्येक पग में स्वर्गीय आनंद का आयोजन कर देती है और अपनी संगीत-लहरी के साथ उसे निरन्तर पुकारती रहती है। परिणामतः जीवात्मा को इस धरती को ही स्वर्ग के समान बनाने और उसकी पीड़ा का परिहार करने के लिये स्वर्ग का मोह—व्यक्तिगत मुक्ति का प्रयत्न छोड़कर संसार के कल्याण-कार्य में व्यस्त हो जाना पड़ता है। आत्मबोधी पीड़ा का सर्वात्मबोधी करुणामयी पीड़ा में यह पर्यवसान आध्यात्मिक दृष्टिकोण की चरम परिणति है। अभावरहित नित्य आनंदमय ब्राह्मी स्थिति में पहुँच कर भी कर्मरत रहने का उद्देश्य भगवान के स्वरूप और कर्म के साथ साधर्म्य का निर्वाह करते हुए उन्हीं की तरह लोकसंग्रह—सर्वभूतानुग्रह का सम्पादन करना है। आत्मबोध के द्वारा निम्न अपूर्ण प्रकृति से अपने-आपको ऊपर उठा ले जाना तथा भागवत सत्ता, चेतना और प्रकृति के साथ संयुक्त हो जाना (मद्भावमागताः) ही तो भगवान के साथ पूर्ण योग का लक्षण है। ब्राह्मी स्थिति की अवस्था और उसके बाद आने वाली अवस्था के बीच एक सामान्य भेद है। ब्राह्मी स्थिति के पूर्व की अवस्था में जैसे केवल जीवभाव रहता है, उस समय ब्रह्मभाव का स्फुरण नहीं होता, उसी प्रकार ब्राह्मी स्थिति में ब्रह्मभावना जब होती है, तब जीवभाव का भी स्फुरण नहीं होता; परन्तु तृतीय अवस्था में परिनिष्ठित ब्रह्मभाव के भीतर ही जीव और जगत् की अनुभूति यथावत् लौट आती है। इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ब्राह्मी स्थिति के भीतर ही एक अभूतपूर्व उल्लास लक्षित होता है, जिसके फलस्वरूप पूर्ण आनंद महाकरुणा के रूप में प्रकट होता है। इसी कारण एक ओर अनवच्छिन्न परमानन्द होते हुए भी दूसरी ओर अशेष करुणा का स्थान रहता है।

आध्यात्मिक धारणा के अनुसार संसार में जो कुछ भी है वह 'एकमेवाद्वितीय' का ही भूतभावात्मक प्राकट्य है। सभी सत्तायें एक ही भागवत सत्ता के अन्तर और बाह्य, अहं और इदं, जीवरूप और देहरूप के अतिरिक्त न कुछ हैं न हो सकती हैं। यहाँ जो कुछ भी है सब वही है, उसी सम्बन्ध से, उसी परिच्छिन्न स्वभाव और शरीर को धारण करने से ही इस जगत् का अस्तित्व है। इसी कारण उन्हें 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' भी कहा जाता है। उपनिषद् ने भी यही निर्णय दिया है—'आत्मा एव अभूत सर्वभूतानि'—सब भूत (प्राणी और पदार्थ) आत्मा के ही रूपान्तरण हैं। आशय यह कि परमात्मा, जीवात्मा तथा निखिल जगत् में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है अतएव जीव और जगत् के प्रति प्रेमभाव परमात्म-प्रेम का ही स्वरूप है। असीम

और अनंत परमात्मा के प्रत्यक्ष रूप इस विश्व से अपना दिव्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्य इसमें व्याप्त अखंड परमात्मा से सहज ही सम्बन्धित हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। परमात्मा को खोजने और उससे सम्बन्धित होने के लिये हमें इस जीवन-जगत् को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसी जगत् में, इसी मानव-जीवन में हमारी आत्मा परमात्मा के साथ योगयुक्त होकर पूर्ण आध्यात्मिक आनंद और स्वातंत्र्य का उपभोग कर सकती है।

वस्तुतः निर्वाण या ब्रह्मभूत होने का आशय यह कदापि नहीं है कि जीवात्मा के सम्पूर्ण ज्ञान-बोध और चैतन्य का तथा उसके द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्म का परित्याग कर दिया जाय, वरन् मुख्य अभिप्राय यह है कि वह आत्मबोध की स्थिति से विकसित होकर सर्वात्मबोध की उस स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ से उसके गुण एवं उसकी सम्पूर्ण क्रियायें अहमात्मक रूप और उसकी प्रतिक्रियाओं से ऊपर उठकर भगवान के भूतानुग्रह के साथ एकीभूत हो जाती हैं। वह सब प्रकार से अपने मन तथा चित्त को भी उन्हीं के साथ एक कर लेता है—‘मन्मना मच्चितः’ हो जाता है। मनुष्य-जीवन का यही उच्चतम तथा ‘उत्तमं रहस्यं’ है। भगवान के प्रति प्रेम और वियोग की वेदनानुभूति के मार्ग से जीवात्मा के स्वयं भगवान की तरह विश्वमय होने की यही सर्वोच्च भूमिका है और महादेवी जी के ‘अखिल के रस-रूपमय निर्वाण’ का यही प्रतिपाद्य है—

जिसको पथ-शूलों का भय हो, वह खोजे नित निर्जन गह्वर,
प्रिय के सन्देशों के वाहक, मैं सुख-दुख भेटूँगी भुज भर,
मेरी लघु पलकों से छलकी इस कण-कण में ममता बिखरी।

इस प्रकार जीवन-व्यापार और उसमें प्रतिफलित सुख-दुःख से भरे सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति का आह्लाद उनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त है—

जिसमें कसक न सुधि का दंशन
प्रिय में मिट जाने के साधन,
वे निर्वाण-मुक्ति उनके
जीवन के शत वन्धन मेरे हों।

जिस निर्वाण या मुक्ति में स्मृति की पीड़ा और प्रिय से मिलने के साधनों का नितान्त अभाव है उसकी अपेक्षा महादेवी जी को जीवन के वन्धन ही अधिक प्रिय हैं। इसी कारण उन्होंने अमरलोक को भी उपेक्षित कर दिया है—

ऐसा तेरा लोक, वेदना नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं जिसने जाना मिटने का स्वाद।

ऐसे लोक का महत्व या मूल्य उनके लिये कुछ नहीं है। यही कारण है कि अपनी

नानुभूति को वे विराट मानव-जीवन के सक्रिय संदर्भों, रागात्मक प्रतीकों, गमय जीवंत विम्बों एवं समात्मभावात्मक अभिप्रायों की योजना से इस प्रकार मन्वित कर सकी हैं कि वह मानवीय आत्मा की सार्वभौम एवं निर्वैयक्तिक भिव्यंजना का अनन्य उदाहरण बन गयी है। ऐसी वेदना व्यक्तिगत कुंठा या राशा का परिणाम कदापि नहीं हो सकती है। यदि ऐसा होता तो यह वेदना म्यक् रूप धारण करके कवयित्री की विराट संवेदनशीलता का रूप पाने में असमर्थ रहती, यह निर्विवाद है। वस्तुतः महादेवी जी की वेदना जीवन की अखंड एवं मष्टि भावसाधना का व्यष्टिगत सोपान है। अपनी इस वेदनानुभूति को काव्य-रूप देते समय 'नीहार' की प्रथम कविता में ही कवयित्री ने कहा था—

नहीं गाया जाता अब देव थकी अँगुली हूँ ढीले तार,
विश्व-वीणा में अपनी आज मिला लो यह अस्फुट झंकार।

ही पीड़ा आज साधनात्मक विकास के उस उच्च धरातल पर पहुँच गयी है, जहाँ उपलब्धि के ये स्वर फूट पड़ते हैं।—

आज तार मिला चुकी हूँ।

सुमन में संकेत-लिपि चंचल विहग स्वर-ग्राम जिसके,

वात उठता, किरण के निर्झर झुके, लय-भार जिसके;

वह अनामा रागिनी अब साँस में ठहरा चुकी हूँ।

रंग-रस-संसृति समेटे रात लौटी, प्रात लौटे,

लौटते युग कल्प पल पतझर औ' मधुमास लौटे;

राग में अपने कहो किसको न पार बुला चुकी हूँ।

निष्करण जो हूँस रहे थे तारकों में दूर ऐंठे,

स्वप्न-नभ के आज पानी हो तृणों के साथ बैठे;

पर न मैं अब तक व्यथा का छंद अन्तिम गा चुकी हूँ।

जीवन और जगत (प्रकृति) के माध्यम से जीवात्मा के परमात्मा तक पहुँचने की आध्यात्मिक रागिनी का इस गीत में संकेत किया गया है। इस संगीत की केित-लिपि फूलों में, स्वर-ग्राम चंचल विहगों के स्वर में, आरोह वायु की उठती तरंगों में तथा अवरोह धरती की ओर उतरती हुई किरणों की धारा में मिलता है। ऐसी आध्यात्मिक रागिनी, जिसका शास्त्रीय नाम नहीं है, कवयित्री अपनी साँस से नेरन्तर निकाल रही है। जिस प्रकार कुशल संगीतज्ञ अपनी स्वर-साधना से वेभिन्न रूप-रंग-रस वाली सृष्टि को साकार कर देता है उसी प्रकार कवि भी अपने छन्दों से सृष्टि का स्वरूप प्रत्यक्ष कर देता है। वह अपने व्यापक राग से रात को, प्रभात को, युगों को, कल्पों को, पतझर और वसंत को—सभी को इस पार बुलाता

रहता है। कवयित्री ने अपनी वेदना-व्यथा की प्रभविष्णुता से आकाश के उन सपनों को, जो मनुष्य की पहुँच के बाहर तारों में बैठे गर्व के साथ हँस रहे थे, पानी बना कर तूणों में उतार दिया है। इतना सच होने पर भी कवयित्री को ऐसा जान पड़ता है कि अभी तक सम्पूर्ण सृष्टि के साथ—स्वभावतः परमात्मा के साथ उसका तादात्म्य पूर्ण नहीं हो पाया इसलिए उसकी व्यथा का अन्तिम छन्द अभी गाने को शेष है।

फिर भी, इस वेदना को ले कर कवयित्री का प्रकृति के अणु-अणु से तादात्म्य तो हो ही जाता है। नभ से लेकर रज तक, रस से ले कर विप तक, मरु से ले कर उर्वर तक सभी उनके परम आत्मीय बन जाते हैं—

अलि मैं कण-कण को जान चली,

सब का क्रन्दन पहचान चली।

जो जल में विद्युत प्यास भरा, जो आतप में जल-जल निखरा,

जो झरते फूलों पर देता नित चन्दन सी ममता बिखरा,

जो आँसू में धुल-धुल उजला, जो निष्ठुर चरणों से कुचला;

मैं मरु उर्वर के कसक भरे अणु-अणु का कम्पन जान चली।

अपनी वेदना-प्रियता को महादेवी जी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुख सब को बाँट कर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है। मुझे दुःख के दोनों रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है। व्यक्तिगत सुख विश्व-वेदना में घुल कर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख से घुल कर जीवन को अमरत्व’।

स्पष्ट है कि वेदना-व्यथा के दो रूप हो सकते हैं—आध्यात्मिक और सांसारिक। सांसारिक वेदना भी दो प्रकार की होती है—एक व्यक्तिगत व्यथा से अभिभूत और दूसरी संसार के अन्य प्राणियों की पीड़ा-संवेदना एवं सहानुभूति से प्रस्फुटित। ऊपर की पंक्तियों से प्रत्यक्ष है कि महादेवी जी की वेदना का स्वरूप संसारा की पीड़ा से उत्पन्न संवेदना और उनकी अपनी आध्यात्मिक पीड़ा के समन्वय

से संगठित हुआ है। वस्तुतः उनकी वेदना में व्यक्तिगत अभावजन्य पीड़ा की स्थिति का कोई आभास नहीं है। इसीलिए उनकी वेदना में कहीं सुख की लालसा नहीं, केवल बाह्य और अर्न्तजीवन के सामञ्जस्य का ही आकुल आग्रह पाया जाता है।—व्यष्टि केन्द्रित होने के कारण सुख से किसी सामञ्जस्य का आकलन सम्भव नहीं है। मानव के प्रायः उदात्त मूल्य, दया, क्षमा, न्याय, स्नेह, सहानुभूति, संवेदना तथा करुणा आदि का प्रेरक जितना दुख होता है, एकता तथा समता से दूर होने के कारण उतना सुख नहीं। यों भी दुख जितना व्यापक, तीव्र, सक्रिय और सचेतन होता है सुख आत्मविस्मृति से उतना ही शिथिल और प्रायः निष्क्रिय होता है। अतः सुख को सार्थक बनाने का मूल उपादान दुख ही है—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता,
इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता।

उसमें मर्म छिपा जीवन का,
एक तार अगणित कम्पन का,
एक सूत्र सबके बन्धन का,
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता।

वह उर में आता बन पाहुन,
कहता मन से 'अब न कृपण बन',
मानस की निधियाँ लेता गिन,
दृग-द्वारों को खोल विश्व-भिक्षुक पर, हँस बरसा आता !

यह जग है विस्मय से निर्मित,
मूक पथिक आते-जाते नित,
नहीं प्राण प्राणों से परिचित,
यह उनका संकेत, नहीं जिसके बिन विनिमय हो पाता !

मृगमरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पगधर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,
गर्वित कहता 'मैं मधु हूँ मुझसे क्या पतझर का नाता' !

दुख के पद छू बहते झर झर,
कण कण से आँसू के निर्झर,
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,

लघ मानस में वह असीम जग को आमन्त्रित कर लाता !

जिस प्रकार स्वच्छ किरणों की छाया में धूमिल (श्यामल पर सजल) वादल

घिर आते हैं उसी प्रकार जीवन के सुखों की छाया में दुख आ जाते हैं और वादलों की भाँति ही हमारे निदाघ रूपी मानस में वर्षा रूपी करुणा भर जाते हैं। दुख में जीवन का रहस्य निहित है, वह एक ऐसा तार है, जिसमें अनंत कम्पन-भाव भरे हैं। वह एक ऐसा सूत्र है जो प्रेम और संवेदना के पारस्परिक आदान-प्रदान से सारे विश्व को संयुक्त कर लेता है। संसृति के सूने और नीरस पृष्ठों में करुणा का काव्य लिखने वाला एकमात्र दुख ही है। वह हृदय में अतिथि की तरह आता है और उसकी सम्पत्ति—संवेदना, सहानुभूति तथा करुणा को गिन गिन कर विश्व-भिखारी को वांट देता है। वास्तव में यह संसार विस्मय से बना है, इसके प्राणी परस्पर अपरिचित रह कर मूक पथिकों की तरह आते-जाते रहते हैं। सब के परस्पर परिचय और ऐक्य का अनुभव कराने के लिए दुख की स्थिति एक संकेत का कार्य करती है, क्योंकि दुख ही सहानुभूति का उद्रेक करने वाला है। मृगतृष्णा का प्यासा सुख मनुष्य के हृदय को संकीर्ण तथा स्वार्थी बना देता है। वह गर्व के आवेश में सबको एक करने वाले दुख की उपेक्षा कर जाता है। उसे क्या पता कि दुख के कारण कण-कण से आँसू के निर्झर फूट पड़ते हैं, जिनसे आर्द्र होकर जीवन मधुर तथा उर्वर हो उठता है—उसमें कोमल और उदार भावनाएँ जाग पड़ती हैं और इस प्रकार वह छोटे हृदय में विश्व-बन्धुत्व का भाव भरने में सहज ही सफल हो जाता है। अतः दुख जीवन और जगत की एकानुभूति का आकलन करने में अनन्य है।

अपने निरीक्षण, चिंतन और अनुभव से महादेवी जी ने पाया कि न केवल मानव-जीवन ही में वरन् समस्त प्रकृति में यही वेदना व्याप्त है और यही उसकी गति का मूलाधार है। वेदना के अंतस्फंदन के बिना सृष्टि में नियमित क्रिया और सामञ्जस्य की कोई स्थिति ही सम्भव नहीं है। जिसका स्पर्श मात्र बड़े से बड़े पर्वत को भी चूर कर देने की क्षमता रखता है, उसी विद्युत-वेदना को वादल अपने हृदय में छिपाये रखता है। यदि विद्युतमयी यह वेदना उसके भीतर न होती तो वर्षा से संसार को रससिक्त कर देने की शक्ति का भी उसमें कभी उन्मेष न होता। सागर भी अपनी अतल गम्भीरता के भीतर वाङ्म-वेदना सँजोये रहता है, अन्यथा उसके उच्छ्वास कभी वादल को जन्म ही न दे पाते। दूसरों को मीठे फल और शीतल छाया देने वाले वृक्ष भी अपने में आग की ज्वाला छिपाये रहते हैं। समस्त चराचर की जीवनद धरती हृदय में ज्वालामुखी का ताप संचित किये रहती है। लघु-प्राण दीपक भी अपनी जलन को ही आलोक का रूप दे पाता है। स्वयं समाप्ति की वेदना का आलिङ्गन करते-करते ही ढलता दिन विश्व को राग-रंगमय बना जाता है।

इस प्रकार उन्होंने देखा कि संसार के साथ सहानुभूति रखने वाली, उसका कल्याण करने वाली जितनी भी विभूतियाँ हैं, उनमें वेदना की स्थिति अनिवार्य है। अपने को मिटा कर विश्व प्राणमय बनने के लिए, सीमा को लाँघ कर असीम बनने के लिए, सब के साथ एकात्मभाव अनुभव करने के लिए वेदना का माध्यम आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना कर्तव्य और कर्मठता की जागृति ही नहीं हो सकती है। इसी आस्था के साथ वे ग उठती हैं—

निर्जल हो जाने दो बादल, मधु से रीते सुमनों के दल,
करुणा विन जगती का अंचल, मधुर व्यथा विन जीवन के पल;
मेरे दृग में अक्षयजल रहने दो विश्व भहँगी मैं।

मधुर मधुर मेरे दीपक जल!

जलते नभ में देख असंख्यक,

स्नेह हीन नित कितने दीपक;

जल मय सागर का उर जलता,

विद्युत ले घिरता है बादल।

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,

ज्वाला को करते हृदयंगम;

वसुधा के जड़ अन्तर में भी

बंदी है तापों की हलचल

सीमा ही लघुता का बन्धन,

है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;

मैं दृग के अक्षय कोषों से—

तुझ में भरती हूँ आँसू जल।

सजल सजल मेरे दीपक जल।

और—

फूल की रंगीन स्मित में अश्रुकण से बाँध वेला,

बाँट अगणित अंकुरों में धूलि का सपना अकेला,

पंथ के हर शूल का मुख मोतियों से भर चली मैं,

मेघ-सी घिर चली मैं।

फूल की हँसी को आँसुओं से बाँध कर संवेदनशील बना देने वाली, धूलि के सपने को अगणित अंकुरों के रूप में उगा देने वाली, रास्ते के प्रत्येक काँटे का मुँह मोतियों से भर देने वाली वेदना के माधुर्य और उसकी व्यापकता की ऊँचाई तक पहुँच जाना सब के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु यह सत्य है कि सुख, स्नेह एवं संयोग

की सार्थकता दुःख, जलन तथा वियोग की वेदना ही से चरितार्थ होती है और समात्मभाव का रिनग्ध गतदल वेदना-जल में ही खिलता है। वस्तुतः महादेवी जी की आलोकदानी वेदना का स्वरूप और महत्व ऐसा ही है—

अपना जीवन-दीप मृदुलतर,
वर्ती कर निज स्नेह सिक्त उर,
फिर जो जल पावे हँस-हँस कर,
हो आभा साकार!

इसी विश्वास और आत्मदृढ़ता के बल पर उन्होंने यह मंग की है—

तुम दुख बन इस पथ से आना।

शूलों में नित मृदु पाटल सा
खिलने देना मेरा जीवन
क्या हार वनेगा वह जिसने
सीखा न हृदय का विधवाना!

साधना-पथ की कठिनाइयों से डरना तो दूर रहा वे उनसे अत्यंत आत्मीयता का अनुभव करती हुई उनका स्वागत करती हैं। उनकी वेदना की सार्थकता यही है—

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रुदन में सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,

शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में।

इसलिए कवयित्री का दृढ़ विश्वास है कि वेदना की ज्वाला के बिना जीवन का परिष्कार और किसी तरह सम्भव नहीं है—

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ।

सूर्य की ज्वाला से तप्त हो कर ही धरती शस्य-श्यामला बनती है, जड़ कठोर लोहा भी तप्त हो कर कोमल और मृदु बन जाता है। रघुवंश में कालिदास ने लिखा है—‘अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैवल्या शरीरिषु’। वस्तुतः वेदना की ज्वाला में गलने पर ही मनुष्य का अहंकार परिशुद्ध होता है और वह अपने स्वरूप का बोध प्राप्त करता है। वेदना के ही माध्यम से त्याग, बलिदान और करुणा की भावना का उन्मेष होता है। महादेवी जी की वेदना करुणा और त्याग से तरंगायित है। इसलिए वह वेदना, जो मनुष्य को द्रवित बना कर दूसरों के लिए आत्म-बलिदान की प्रेरणा देती है, दूसरों का दुःख दूर करने का उत्साह पैदा करती है,

सहानुभूति तथा समानुभूति का विस्तार करती है, वह सर्वथा वरेण्य एवं सर्व-कल्याणमयी है। महादेवी जी की यह व्यापक वेदानुभूति विश्व-कल्याण से अनु-प्राणित अपराजेय आशा और उल्लास से संचरित होती हुई अदम्य कर्मशीलता तथा अडिग आस्था का आद्वान करने में सहज ही सक्षम एवं अत्यंत उचाशयी है, इसमें सन्देह नहीं—उनकी इस विनय में वेदना की सार्थकता जैसे साकार हो उठी है—

एक घड़ी गालूँ, प्रिय मैं भी
मधुर वेदना से भर अन्तर,
दुख हो सुखमय सुख हो दुखमय
उपल बने पुलकित से निर्झर।
मरु हो जावे उर्वर गायक।

कवयित्री की यह घोषणा वेदना की ही विजय-घोषणा है—

व्यथा प्राण हूँ नित्य सुख का पता मैं,
धुला ज्वाल से मोम का देवता मैं।

स्टैष्ट है कि यह वेदना जीवन में आस्था, आनंद और सौन्दर्य तथा साहस की विधायिका है, किसी निराशा, पराजय और पलायन की कदापि नहीं, क्योंकि इसका उत्स जीवन की अपूर्णता को देख कर उत्पन्न सहज मानवीय संवेदना है, जो व्यक्ति-सीमित न होकर समष्टिव्यापक है।

वस्तुतः महादेवी की वेदना जीवन के साधारण घात-प्रतिघातों से प्रभावित होने वाली नहीं। उसमें जीवन की समग्रता की स्वीकृति है, जिसमें सुख-दुख, अमृत-विष का—सभी द्वन्दों का समाहार या अन्तर्भाव है। वास्तव में कवयित्री की वेदना उस नीरजा की भाँति है, जिसे चंचल भौरों की भीड़ परेशान नहीं करती, क्योंकि उसमें मधुर पीड़ा की सुगंध भरी रहती है। यह नीरजा संसार के कर्दम-कलुष से ऊपर उठी रहती है, इसमें जल भी नहीं ठहर पाता—सब कुछ ऊपर से ही फिसल जाता है। इसमें संसारी वस्तुओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह अपनी चिन्मय स्थिति में ही पूर्ण है—

प्रिय इन नयनों का अश्रु-नीर।

दुख से आविल सुख से पंकिल,
बुद्बुद् से स्वप्नों से फेनिल,
बहता है युग युग से अधीर।
जीवन-पथ का दुर्गमतम तल,
अपनी गति से कर सजल सरल,
शीतल करता युग तृप्ति तीर।

इसमें न पंक का चिन्ह शेष,
इसमें न ठहरता सलिल-लेश,
इसको न जगाती मधुप-भीर।

इस प्रकार यह वेदना किसी अभाव की नहीं, भाव-साधना की वह भूमिका है, जिसमें जीवन की साधना प्रतिष्ठित और प्रतिफलित होती है तथा आत्मसाक्षात्कार के साधन सुलभ होते हैं। कण-कण में स्पंदित यह वेदना देवी जी के काव्य में राग-चेतना के विस्तार की विधायिका के रूप में ही गृहीत हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

करुणा :

में गति विह्वल,
पायेय रहे तेरा दृग-जल,
आभास मिले भू का अंचल,
में करुणा की वाहक अभिनव !

करुणा की इस अभिनवता को हृदयंगम करने के लिए कवयित्री के आत्मबोध को समझना आवश्यक है। उनका एक गीत है—

टूट गया वह दर्पण निर्मम।

उसमें हूँस दी मेरी छाया,
मुझमें रो दी ममता माया,
अश्रु-हास ने विश्व सजाया,
रहे खेलते आँख मिचौनी
प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम'।

अपने दो आकार बनाने,
दोनों का अभिसार दिखाने,
भूलों का संसार बसाने !

जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने
हूँस हूँस दे डाला था निरुपम।

आज कहाँ मेरा अपनापन,
तेरे छिपने का अवगुंठन,
मेरा बन्धन तेरा साधन,

तुम मुझमें अपना सुख देखो
मैं तुममें अपना दुख प्रियतम।

संसार रूपी दर्पण में उस परम सत्ता की छाया पड़ती है, ये जो अनेक जीव दिखायी पड़ते हैं वे वस्तुतः उसी एक के अनेक रूप हैं। आग्य यह कि ब्रह्म विश्व रूप है। वही दृश्य है और वही द्रष्टा है। जायसी ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

दरपन चालक हाथ, मुख देखै, दूसर मन ।

तस भा दुय इक साथ, मुहमद एक जानिये ।

विष्णूपुराण की भी यही मान्यता है—‘क्रीडतो बालकस्येव क्रीडां तस्य निशामय’ वस्तुतः यह विश्व-सृष्टि ब्रह्म की लीलामात्र है—स्वाभाविक क्रीड़ा है। इसी लीला के लिए उसने अपने को जगत् तथा जीव के रूप में बदल दिया, वही जीव बन गया और वही दर्पण। तत्त्वतः जगत्, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इसी कारण महादेवी जी ने इसे आँख-मिचीनी का खेल कहा है।

भ्रम अथवा माया या अज्ञान के कारण इस दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब को परम सत्ता से विच्छिन्न एवं अलग स्वीकार कर लेने ही से संसार में अनेकता और द्वन्द्व का सूत्रपात होता है। जो साधक अपने आत्मबोध के उन्मेष से इस रहस्य को समझ लेता है उसके लिए यह दर्पण-व्यवधान नहीं रह जाता और सारा विश्व ब्रह्ममय दिखायी पड़ने लगता है—उसे स्वभावतः सब के साथ ऐक्यानुभव होने लगता है। वह जगत् के सब प्राणियों के साथ एक हो जाता है। यह स्थिति उसे दिव्यकर्मी के आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। उसके सारे कर्म लोकसंरक्षण तथा लोकसंग्रह के लिए प्रयुक्त होने लगते हैं। स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूप की अवगति और अनुभूति से परमात्मा के साथ साधर्म्य प्राप्त हो जाता है और जीवात्मा स्व-पर के भेद से ऊपर समस्थिति में संवर्द्धित हो कर परमात्मा की तरह ही भूतानुग्रह के दिव्य कर्म में निरत हो जाती है। उसके कर्म अहंभावशून्य, निर्वैयक्तिक तथा व्यापक समता के धरातल से स्फूर्त होने के कारण उसी स्थिर, शाश्वत, सम, निर्विकार तथा सर्वव्यापक परम सत्ता के कार्य हो जाते हैं। परमात्म सत्ता के साथ इच्छा, क्रिया और भाव का साधर्म्य अथवा कैवल्य का यही उच्चतम आधार है।

परमात्मा की क्रियाशीलता के दो प्रमुख उपादान हैं—एक लीलामय विश्व-रचना और दूसरा सर्वभूतानुग्रह—‘तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह प्रयोजनम्’, भूतमात्र का सुख साधित करना ही उसका मूल प्रयोजन है। वस्तुतः आत्मवान हो कर परमात्मा से साधर्म्य प्राप्त करने का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवात्मा भी ‘सर्वभूत हितैरताः’ होकर कर्मशील हो उठे। आत्मवान व्यक्ति इस क्षर जगत् में परमात्मा का अनुभव करते हुए अपने सर्वभूत कल्याणकारी कर्मों द्वारा उनके साथ अपने को सतत् सम्बंधित रखते हैं। लौकिक जीवन में क्षर पुरुष

इसमें न पंक था मित्र शेष,

इसमें न दहकता सज्जन-श्रेष्ठ,

इसको न जगानी मधुप-भीर।

इस प्रकार महादेवी विभी वभाव की नहीं, भाव-साधना की यह भूमिका है, जिसमें जीवन की सारा प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बित होती है तथा आत्मसाक्षात्कार के साधन मूलभूत होते हैं। जब जब मैं सर्वांग महादेवी के जी के काव्य में सम-भेदना के विचार की विचारिका के रूप में ही मूर्तित हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

करुणा :

मैं गति बिह्वल,

पायेय रहे तेरा दूग-जल,

आभास मिले भू था अंचल,

मैं बहना की चाहक अभिनय !

करुणा की इस अभिव्यक्ति को हृदयंगम करने के लिए कवयित्री के आत्मबोध की समझना आवश्यक है। उनका एक गीत है—

दूट गया यह दर्पण निर्मम।

उसमें हूँ दो मेरी छाया,

मुझमें रो दो ममता साया,

अधु-हास ने विषय सजाया,

रहे खेलते आँसु मिचौनी

प्रिय ! जिसके परदे में 'मैं' 'तुम'।

अपने दो आकार बनाने,

दोनों का अभितार दिखाने,

भूलों का संसार बसाने !

जो झिलमिल झिलमिल सा तुमने

हँस हँस दे डाला था निरुपम।

आज कहाँ मेरा अपनापन,

तेरे छिपने का अवगुंठन,

मेरा बन्धन तेरा साधन,

तुम मुझमें अपना सुख देखो

मैं तुममें अपना दुख प्रियतम।

संसार रूपी दर्पण में उस परम सत्ता की छाया पड़ती है, ये जो अनेक जीव दिखायी पड़ते हैं वे वस्तुतः उसी एक के अनेक रूप हैं। आशय यह कि ब्रह्म विश्व रूप है। वही दृश्य है और वही द्रष्टा है। जायसी ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

दरपन बालक हाथ, मुख देखै, दूसर गनै ।

तस भा दुय इक साथ, मुहमद एकै जानिये ।

विष्णुपुराण की भी यही मान्यता है—‘क्रीडतो बालकस्येव क्रीडां तस्य निशामय’ वस्तुतः यह विश्व-सृष्टि ब्रह्म की लीलामात्र है—स्वाभाविक क्रीड़ा है। इसी लीला के लिए उसने अपने को जगत् तथा जीव के रूप में बदल दिया, वही जीव बन गया और वही दर्पण। तत्त्वतः जगत्, जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इसी कारण महादेवी जी ने इसे आँख-मिचौनी का खेल कहा है।

भ्रम अथवा माया या अज्ञान के कारण इस दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब को परम सत्ता से विच्छिन्न एवं अलग स्वीकार कर लेने ही से संसार में अनेकता और द्वन्द्व का सूत्रपात होता है। जो साधक अपने आत्मबोध के उन्मेष से इस रहस्य को समझ लेता है उसके लिए यह दर्पण-व्यवधान नहीं रह जाता और सारा विश्व ब्रह्ममय दिखायी पड़ने लगता है—उसे स्वभावतः सब के साथ ऐक्यानुभव होने लगता है। वह जगत् के सब प्राणियों के साथ एक हो जाता है। यह स्थिति उसे दिव्यकर्मों के आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। उसके सारे कर्म लोकसंरक्षण तथा लोकसंग्रह के लिए प्रयुक्त होने लगते हैं। स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूप की अवगति और अनुभूति से परमात्मा के साथ साधर्म्य प्राप्त हो जाता है और जीवात्मा स्व-पर के भेद से ऊपर समस्थिति में संवर्द्धित हो कर परमात्मा की तरह ही भूतानुग्रह के दिव्य कर्म में निरत हो जाती है। उसके कर्म अहंभावशून्य, निर्वैयक्तिक तथा व्यापक समता के धरातल से स्फूर्त होने के कारण उसी स्थिर, शाश्वत, सम, निर्विकार तथा सर्वव्यापक परम सत्ता के कार्य हो जाते हैं। परमात्म सत्ता के साथ इच्छा, क्रिया और भाव का साधर्म्य अथवा कैवल्य का यही उच्चतम आधार है।

परमात्मा की क्रियाशीलता के दो प्रमुख उपादान हैं—एक लीलामय विश्व-रचना और दूसरा सर्वभूतानुग्रह—‘तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रह प्रयोजनम्’, भूतमात्र का सुख साधित करना ही उसका मूल प्रयोजन है। वस्तुतः आत्मवान हो कर परमात्मा से साधर्म्य प्राप्त करने का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जीवात्मा भी ‘सर्वभूत हिते रताः’ होकर कर्मशील हो उठे। आत्मवान व्यक्ति इस क्षर जगत् में परमात्मा का अनुभव करते हुए अपने सर्वभूत कल्याणकारी कर्मों द्वारा उनके साथ अपने को सतत् सम्बंधित रखते हैं। लौकिक जीवन में क्षर पुरुष

को 'सर्वभूतानां वा सर्वेषां' अर्थात् सम्पूर्ण जगत्, किन्तु 'उनका दिव्य तथा अहंकार-
रहित रूप' को जान ले। योक्त में कहा गया है कि क्षय पुरुष ही वो 'सर्वभूतानां'
है, जगत् का सृष्टा या निर्माता सत्त्वगुण चेतना ही प्रकृति की क्षयता के भीतर
दिखा भावना है।

यही बात जान देना आवश्यक है कि महापुरुष की आध्यात्म की उच्चतम स्थिति
को जानना तथा सत्त्वगुण की 'विजायता' के प्राप्त, चेतना और कर्म का संबंध
साक्षात् करने जान ले, क्योंकि इसका अभिप्राय यह जीवात्मा का प्रज्ञा में निगमन
कर जान ले वो बात है जो महापुरुष की प्राप्ति कर ले।—'महानि सत्त्वं निजत्वं ये नीने मिल्
अभिप्रायनी' में। म. २. २. १ का अर्थ है। परम सत्ता के प्रति प्रेम और जीवन,
अर्थात् वे प्रीति सत्त्वगुण-वर्णन की सत्त्वगुण के द्वारा जीवन में ही आध्यात्मिक उच्चता
का आनन्द प्राप्त करने का उपाय और स्वभावगत भी है। भागवत सत्ता तथा
भगवान् की उच्चता दिख करती। जो प्रकृति के लिए अनायास भाव और सम
जगत् के सत्त्वगुण में जीवात्मा अपने पार्थिव जीवन में अपनी अपन प्रकृति का
परा प्रकृति में सत्त्वगुण वर्णन परम आध्यात्मिक सत्त्वगुण और आनन्द का लाभ
प्राप्त कर सकती है—भगवान् में भगवत् प्राप्त करने का भी अभिप्राय यही है।
इस स्थिति में महापुरुष के लिए यह अनिवार्य है कि अपनी उदार समता की भूमि में
निहित हो कर सब जीवों के सत्त्वगुण में संलग्न रहा जान, क्योंकि जो सब के साथ
समता एकता का अनुभव करेगा उसकी समष्टि सबके साथ महान्भूति और
समता में पूर्ण होगी, इसमें संदेह नहीं। ऐसी दशा में उसके मारे कर्म उसकी
हृदय-भूता में निहित होगी एक 'समं प्रज्ञा' में परिणत और सबके भीतर रहनेवाले
उसी एक ही और प्रजापति होंगे। कर्मों का यह समत्व विधान जीवात्मा की प्राकृत
चेतना को उगाती आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित कर देता है और वह अपनी
कृतार्थता में पुनर्निर्माण हो कर परम सत्ता के साथ एक-बोध तथा एक आत्मा हो जाती
है। मानव-जीवन की यही चरम सफलता है और कर्मों के द्वारा भगवान् के साथ
एकता-सम्पादन का यही मूलतम रहस्य है। 'योगः कर्मणु कौशलम्' का यही
आशय और उद्देश्य है।

समता, निष्कामता तथा निर्वैयक्तिकता ऐसी दिव्यकर्मों मुक्तात्मा का प्रमुख
लक्षण है, क्योंकि जगत् के असंख्य भेदों और वैयक्तियों के बीच समस्वरूप तथा सब
को समता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने वाली एकता वास्तव में सब में निहित
आत्मा की समता एवं एकता ही है। यही कारण है कि मुक्तात्मा के हृदय में सब
के प्रति दिव्य प्रीति और कृपा का समान संचरण होता रहता है और इससे प्रेरित
जिन कर्मों का उदय होता है वे उसकी आत्मा में विकार या संस्कार छोड़े बिना

ही उसी प्रकार लवु हो जाते हैं जिस प्रकार सागर में लहरें ऊपर ही ऊपर उठ कर विलीन हो जाती हैं। वह सब प्राणियों की तरह कर्मरत रहती है, पर उसकी अपनी कामना या लालसा कुछ नहीं है। मेरा-तेरा का उद्वेगजनक भाव भी उसे विचलित नहीं करता। वह विराट सत्ता और चेतना का ऐसा अथाह सागर है, जो आत्मा की समस्थिति में सदैव अचल और शान्त बना रहता है। जीवन और जगत् के नाना द्वन्द्व और इन्द्रिय कामनायें उसमें सागर में नदियों की तरह प्रविष्ट होती हैं, फिर भी उसमें किसी प्रकार की कामना का चांचल्य नहीं दिखायी पड़ता। अपनी साधना से वह सब के साथ इन प्रकार एकीभूत हुई रहती है कि उसमें मैं और मेरे का अम्युत्थान ही सम्भव नहीं रहता है। आत्मस्थिति में स्थिर तथा आत्मानन्द के अनुभव में बाह्य प्राकृतिक आकर्षणों एवं विकर्षणों से निर्लिप्त रह कर अपने व्यष्टिगत अहं को अखिलांतरात्मा में निमज्जित करते हुए वह सब के साथ एकत्व की समस्थिति में दृढ़ प्रतिष्ठ हो जाती है।

महादेवी जी की कविताओं में मुक्तात्मा की इन विशेषताओं का शतशः निरन्तर उल्लेख पाया जाता है—

सब आँखों के आँसू उजले सब के सपनों में सत्य पला ।
नीलम मरकत के सम्पुट दो जिनमें बनता जीवन मोती ,
इसमें ढलते सब रंग-रूप उसकी आभा स्पन्दन होती ;
जो नभ में विद्यत मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला ।
संवृति के प्रतिपग में मेरी साँसों का नव अंकन चुन लो ,
मेरे बनने-मिटने में नित अपनी साधों के क्षण गिन लो ;
जलते खिलते बढ़ते जग में घुल मिल एकाकी प्राण चला ।

सब के सपने में सत्य ढला ।

इसी प्रकार दीपक का जलना, शलभ का आलोक के लिए मर मिटना, फूल का खिल कर सौरभ-दान करना एवं पृथ्वी को शस्य-श्यामला बनाने के लिए बादलों का वरसना आदि के विविध दृष्टान्तों द्वारा कवयित्री ने निष्काम कर्म-योग का सन्देश भी दिया है और संसार में रहते हुए परमात्म-प्राप्ति का आग्रह भी किया है—

क्षार होता जाता है गात वेदनाओं का होता अन्त ,
किन्तु करते रहते हो मौन प्रतीक्षा का आलोकित पंथ ,
सिखा दो ना नेही की रीति अनोखे मेरे नेही दीप ।



मधुर मधुर मेरे दीपक जल ।
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल ।

प्रियतम का पथ आलोकित कर।

दीप मेरे जल अकम्पित,
घुल अचंचल।

पथ न भूले एक पग भी, घर न खोये, लघु विहग भी,
स्निग्ध लौकी तूलिका से आँक सब की छाँह उज्ज्वल।

आँसुओं के देश में।
खोज ही चिर प्राप्ति का घर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
रदन में सुख की कथा है,
विरह मिलने की प्रथा है,
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में।

रात के पथहीन तम में मधुर जिसके श्वास,
फँस भरते लघु कर्णों में भी असीम सुवास,
कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजनि प्यारे जाग।
जाग वेसुध जाग।

में नीरभरी दुख की वदली।
रज-कण पर जल-कण हो बरसी नवजीवन अंकुर हो निकली।

मिट चली घटा अधीर।
विगलित हर रोम हुआ रज से सुन नीर नीर।
प्यासे का जान ग्राम, झुलसे का पूछ नाम,
धरती के चरणों पर नभ के धर शत प्रणाम,
गल गया तुषार-भार बनकर वह छवि शरीर।

विरह-मिलन, सुख-दुख आदि के द्वन्द्वों के समाहार का भी उन्होंने निरन्तर निर्देश किया है—

होकर भी जीवात्मा निरपेक्ष और निःसीम परमात्मा का परिचय दे सकता है। यदि यह समस्त संसार उस निरपेक्ष की लीला है तो वह इससे निरपेक्ष कैसे रह सकता है? वस्तुतः यह परस्पर परिच्छिन्न भासित होने वाला संसार उस अपरिच्छिन्न सत्ता से मूलतः भिन्न नहीं है।

जो भी हो, सापेक्षताओं, वैषम्यों एवं द्वन्द्वों के सम्यक् सामंजस्य और निर्वैयक्तिक समता के समष्टिगत धरातल पर पहुँचने के पश्चात् आत्मा स्वभावतः परमात्मा के साथ सर्वात्मभाव से एकीभूत हो जाती है। इस समग्र बोधात्मक अनुभूति के उत्कर्ष से आत्मा के भीतर एक सार्वभौम प्रेम और विश्वव्यापी करुणा का अगाध सागर लहराने लगता है और सर्वभूतों के प्रति अशेष मैत्री एवं करुणा की सहज स्फूर्ति ही उसके समस्त कर्मों की मूल प्रेरणा बन जाती है—

किसको त्यागूँ किसको माँगूँ,

हैं एक मुझे मधुमय विषमय;

मेरे पद छूते ही होते,

काँटे कलियाँ प्रस्तर रसमय।

पालूँ जगका अभिशाप कहाँ।

प्रतिरोमों में पुलकें लहरी।

अध्यात्म के उच्चतम स्तर समात्मभाव की इस परमानन्द स्थिति में आरूढ़ होकर आत्मा के कर्मों का हेतु लोक-मंगल के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? कोई वैयक्तिक कामना उसके कर्मों की प्रेरक हो नहीं सकती, क्योंकि उससे वह मुक्त है। नैतिकता भी उसकी प्रेरक नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी सीमा को पार करके वह अविचलित दिव्यता में प्रतिष्ठित है। आध्यात्मिक विकास की साधना के लिये निष्काम कर्म की भी उसे आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसका आत्म-विश्वास पूर्ण हो चुका है। तब उसके कर्म का आधार परमात्मा के स्वभाव को व्यक्त करने के लिये उससे अपनी एकता का प्रकाश करने के लिये केवल लोक मंगल की भावना ही हो सकती है। इसका आशय यह है कि आत्मबोध के पश्चात् ज्ञानी की तरह केवल अपनी मुक्ति का उपभोग उतना महत्वपूर्ण नहीं, जितना सर्वमुक्ति के आकांक्षी करुणामय कर्म-विधान का संयोजन करने वाली जीवन्मुक्त की स्थिति का होता है। वस्तुतः अपनी भावना, साधना तथा ऊर्ध्व-संचरण की शक्ति से आत्मा चाहे जीवन के जिन उच्च स्तरों में प्रवेश कर जाय, किन्तु जब तक सभी उस धरातल तक न पहुँच सकें तब तक करुणा की आवश्यकता बराबर बनी रहेगी। जिन भ्रमों तथा द्वन्द्वों को छोड़कर वह स्वयं ऊपर उठी है, सबको उनसे मुक्त करने के लिये, उनका दुःख दूर करने के लिये, उन्हें आध्यात्मिक आनंद

की ओर उन्मुख करने के लिये, उन्हें अपने वास्तविक स्वरूप को विकसित करने की प्रेरणा देने के लिए, उसे करुणा का सम्बल ग्रहण करना अनिवार्य है, क्योंकि जगत्व्यापी भगवान से और भगवान के प्राकट्य जगत् से सम-संबंध का निर्वाह केवल तभी सम्भव है, अन्यथा नहीं। कहना न होगा कि इस अद्वैत ऐक्यानुभव की चरितार्थता के लिये करुणा का माध्यम सर्वाधिक मर्मशील तथा अनन्य होता है। इसीलिये भारतीय अध्यात्म में आत्मबोध की चेतना और जीव-भाव की करुणापूर्ण क्रिया का सामंजस्य ही पूर्ण चैतन्य का प्रतीक एवं लक्षण माना गया है। जीवन्मुक्त का अभिप्राय भी यही है।

वाह्य जगत् की संवेदनाओं के प्रभाव से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं उनका सम्मिलित रूप भाव की संज्ञा पाता है। इस प्रकार राग एवं द्वेष जीवन के दो मूल भावों का उत्थान होता है। जीवन और जगत् के सारे व्यापार इन्हीं संवेदनाजनित भावों से परिचालित होते हैं। राग मिलाने वाली भावना है और द्वेष अलग करने वाली। ये दोनों भावनायें सारी सृष्टि के मूल में निहित हैं। राग से दो भावों का प्रवर्तन होता है—प्रेम का और करुणा का। मूल वासनात्मक स्थिति से विशुद्ध भावात्मक स्थिति में विकसित राग प्रेम है। कपटवेशधारी शंकर से पार्वती ने यही कहा था—‘ममात्र भावैकरसंमनः स्थितम्’। वासनात्मक स्थिति से क्रियात्मक स्थिति में संवर्द्धित भाव भी करुणा का रूप धारण कर लेता है। प्रेम विशेषता-सापेक्ष होता है, किन्तु करुणा का महत्व उसकी निर्विशेषता है। यही कारण है कि प्रेम भी करुणा के प्रभाव से अधिक घनीभूत और मार्मिक हो जाता है। करुणा की सबसे बड़ी महत्ता इस बात से स्पष्ट होती है कि उसका उद्रेक परिचित-अपरिचित किसी दूसरे की पीड़ा-बोध से होता है। अतएव इस निहँतुक करुणा में व्यक्ति भोक्ता की स्थिति से ऊपर उठकर भाव की स्थिति ग्रहण कर लेता है, क्योंकि इसमें स्व तथा पर का लय हो जाता है, दोनों एकाकार हो जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो दूसरे की दुख-निवृत्ति की प्रेरणा ही नहीं जग सकती है। वस्तुतः जब दूसरे का दुःख दूर करने के लिये हृदय में करुणा का जागरण होता है तब करुणा करने वाले का आलम्बन—जीव उसका सहजीव बन जाता है और किसी अन्य विशेषता की आवश्यकता नहीं रह जाती। दुखी के दुख की संस्थिति मात्र ही करुणा के उद्रेक के लिये पर्याप्त होती है। मैं तथा मेरा दोनों की मुक्ति से द्रष्टा दृष्टि एवं दृश्य में समन्वय साधित हो जाता है। सबके प्रति स्नेह, सहानुभूति रखने वाला व्यक्ति प्रेमी न रहकर कृपालु हो जाता है। इसलिये लोक-मंगल प्रेरित प्रेम का मूल उत्स करुणा को ही माना गया है। करुणा के कवि भवभूति ने राम से स्पष्ट कहलाया भी है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

लोक की आराधना के लिये स्नेह, दया, सुख, यहाँ तक कि जानकी को भी छोड़ते हुए मुझको दुःख नहीं है। स्पष्ट है कि जीवन में करुणा सबसे अधिक सबल लोक-मंगल-विधायक भाव है। आत्मबोध तथा परमात्मैक्य का अनुभव लाभ करने के पश्चात् जब जीवात्मा को अपने लिये कुछ भी कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती तब करुणा के रूप में दूसरों के प्रति उसकी क्रियाशीलता सबसे अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि तब करुणा भाव न रहकर स्वभाव बन जाती है। यही करुणा का आध्यात्मिक उत्थान है। सब के मंगल की भावना से भास्वर तथा अहेतुक उपकार से चरितार्थ करुणा की यह अनुभूति मानवीय अनुभूतियों में सर्वाधिक प्रगाढ़ और गूढ़ होती है, इसमें कोई द्विविधा नहीं। करुणा की यह दशा परोदात्त की उच्चतम भूमिका है। कहना न होगा कि राम के जीवन में आयोध्या-त्याग और सीता-वनवास तथा बुद्ध के सिद्धि-लाभ के पश्चात् भी संसार के लिये कर्मरत रहने के पीछे इसी सर्वहित साधिकार करुणा का ही हाथ रहा है।

महादेवी जी ने प्रेम और करुणा की सजगता के लिये प्रेम के प्रतीक कृष्ण तथा करुणा के प्रतीक बुद्ध का स्मरण करते हुए बुद्ध को प्रथम स्थान दिया है—

जाग बेसुध जाग ।

अश्रुकण से उर सजाया त्याग हीरक-हार,

भीख दुख की माँगने फिर जो गया प्रति द्वार,

शूल जिसने फूल छू चन्दन किया सन्ताप,

सुन जगाती है उसी सिद्धार्थ की पद-चाप;

करुणा के डुलारे जाग ।

बुद्ध की इस करुणा के स्मरण से कवयित्री ने जैसे स्वयं अपनी करुणा की व्याख्या उपस्थित कर दी है। उनकी वेदना सम्यक्संवेदना के माध्यम से करुणा का स्वरूप धारण करती हुई आत्मत्याग से दूसरों की पीड़ा दूर करने के लिये सतत समुत्सुक है। वस्तुतः उनकी वेदना के मूल में करुणा की ही धारा तरंगित है। वे दूसरे के शूलों को फूलों में तथा दूसरे के संताप को चन्दन की शीतलता देने के लिये व्याकुल हैं। वास्तव में करुणा के द्वारा अपनी सत्ता को सबके साथ एकाकार कर देने में ही 'भूमा' का सुख मिलता है। मनुष्य-जीवन की यही परमावधि और अंतिम लक्ष्य है। करुणा के माध्यम से सृष्टि के साथ अपनी सत्ता के एकात्म्य का अनुभव ही चरम आध्यात्मिक सत्य है तथा केवल इसी स्थिति में ही जगत्-जीवन के लिये आत्मोत्सर्ग की सम्भावना भी सुलभ रहती है, क्योंकि व्यक्ति का जीवन

स्वयं केन्द्रित न होकर निस्सीम बन जाता है। समष्टि-साधना के इस शिखर पर पहुँचने के लिये दुख की व्याप्ति का बोध और हृदय की अक्षय संवेदनशीलता सुदृढ़ सोपानों की तरह प्रयुक्त होती हैं। संसारव्यापी दुख से उत्पन्न सहानुभूति दुखी के साथ तादात्म्य का भाव एक सर्वव्यापक चेतन राग बन कर करुणा में रूपान्तरित हो जाता है। इस प्रकार करुणा आत्म-विस्तार का अमोघ साधन है। सृष्टि से अलग करने वाला भाव द्वेष भी करुणा के प्रवाह में घुल जाता है, गल जाता है, डूब जाता है और करुणाशील व्यक्ति अन्य सभी भावों से मुक्त होकर लोक-व्यापक मंगल-संग्रह की ओर एकनिष्ठ भाव से उन्मुख हो जाता है—

सब बुझे दीपक जला लूँ।

घिर रहा तम आज दीपक-रागिनी अपनी जगा लूँ।

लय बनी मृदु वर्तिका

हर स्वर जला बन लौ सजीली,

फैलती

आलोक-सी

झंकार मेरी स्नेह-गीली,

इस मरण के पर्व को मैं आज दीपाली बना लूँ।

संसार में व्याप्त अंधकार (पीड़ा) को विदीर्ण करने के लिये कवयित्री अपने दीपक-राग से सब बुझे दीपकों को जलाने के लिए कृतसंकल्प है। दीपक-राग से अभिप्राय है—स्नेह और प्रकाश को उद्दीप्त करने वाला राग। इस प्रकार वह ज्ञान, चेतना तथा राग भावना के प्रतीकत्व का भी निर्वाह करता है। सब के प्रति अशेष स्नेह और आलोकदान की इच्छा ही इस गीत में मुखरित है। लोक-मंगल-मुखी प्रेम-करुणा का सहज समन्वय दीपक तथा गीत के संश्लिष्ट चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

गीत की लय दीपक की कोमल वत्ती है, गीत का प्रत्येक स्वर दीपक की सजल लौ है, गीत की झंकार दीपक के आलोक की तरह स्निग्ध और प्रसरणशील है। जिस प्रकार दीपक स्वयं जल-जलकर अपने आलोक से अंधकार को दूर करता हुआ संसार का पथ प्रशस्त करता है, उसी प्रकार कवयित्री के गीत भी विश्वकल्याण में संलग्न हैं। इस गीत में सब बुझे दीपकों को जलाने का जो उत्साह है, विश्वमंगल की जो उत्कट आकांक्षा है, उसी में यह क्षमता भी है कि वह मरण के पर्व को दीपोत्सव की भाँति ग्रहण करते हुए अपने को मिटाकर भी विश्व-कल्याण के लिये आलोक-दान के कर्म में अपने को उत्सुक एवं प्रयत्नशील बनाये रहे। मृत्यु से भयभीत होने का कारण व्यक्तिगत जीवन का मोह ही होता है, जब यह मोह हट जाता है और व्यक्ति का व्यक्तित्व विश्व के साथ एकाकार हो जाता है तब मृत्यु के द्वारा उसके

जीवन का अंत नहीं होता, प्रत्युत वह अनंत हो जाता है। मृत्यु तो सीमा की ही होती है, असीम और अनंत की नहीं।

मेघ-घटा के रूप में भी महादेवी जी ने आत्मवलिदान के द्वारा विश्वकल्याण का संकेत किया है—

मेघ सी घिर झर चली मैं।

बिखरना वरदान हर निश्वास है निर्वाण मेरी,

शून्य में झंझा विकल विद्युत हुई पहचान मेरी;

वेदना पायी धरोहर अश्रु की निधि धर चली मैं।

भीति क्या यदि मिट चली नभ से ज्वलित पग की निशानी,

प्राण में भू के हरी है पर सजल मेरी कहानी,

प्रश्न जीवन के स्वयं मिट आज उत्तर कह चली मैं।

घटा के बिखरने-वरसने की तरह कवयित्री का आत्मोसर्ग भी धरती के लिये वरदान ही बनता है। आकाश में वायु के तीव्र झोंके और विद्युत की तड़पन ही बादलों की स्थिति की सूचिका है, उसी तरह दुख की कसक कवयित्री की पहचान है। जीवन में चतुर्दिक व्याप्त वेदना की धरोहर को वह करुणा के रूप में परिवर्तित करके विश्व को बाँट देती है। घटा का रूप-रंग चाहे आकाश से भले ही मिट जाय, किन्तु उसके उत्सर्ग की हरीतिमा धरती पर लहलहाती रहती है। कवयित्री की करुणा की कथा भी पृथ्वी में गूँजती रहेगी। जिस प्रकार घटा अपने को मिटाकर संसार को सुख-सुरभिमय बना जाती है उसी प्रकार कवयित्री भी स्वयं मिटकर संसार की समस्याओं को सुलझा जाना चाहती है। उसके लिये स्वयं मिटकर भी संसार को सुखी बनाना ही सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है। इस प्रकार वेदना कवयित्री के आत्मबोध का एवं करुणा उसके आत्मविस्तार का साधना है। यह भी कहा जा सकता है कि वेदना महादेवी जी की काव्य-साधन का प्रारम्भ है तो करुणा उस साधना की चरम परिणति है। यह सदैव स्मरण रखने की बात है कि यदि उनकी वेदना उनके व्यक्ति-जीवन की पीड़ा का ही प्रतीक होती तो उसकी परिणति करुणा में न होकर ग्लानि में होती, किन्तु उनकी वेदना में ग्लानि का कोई भाव कहीं नहीं मिलता। वे वेदना को निरन्तर स्वीकार करते हुए उसे सुखात्मक रूप देती चलती हैं—‘दुख को कर सुख-आख्यान चली’ या ‘पंथ के हर शूल का मुख मोतियों से भर चली मैं’ अथवा ‘साँस से तमसिन्धु को पथ इन्द्रधनुषी कर चली मैं’ का यही सारांश है। वस्तुतः उनकी वेदना का उत्सव व्यक्तिगत नहीं, अपितु व्यापक-विराट संवेदनशीलता एवं सर्वस्पर्शी सहानुभूति ही है। उनके जीवन और साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके

व्यवहार तथा सृजन का केन्द्र यही सर्वव्यापी संवेदनशीलता है। विश्वजीवन के साथ अपने जीवन को मिला देने की आकांक्षा रखने वाले के लिये व्यक्तिगत सुख-दुख की अनुभूति का अवकाश भी नहीं रह जाता, क्योंकि उसके सभी भाव उसके हृदय की कोमल-मधुर संवेदनशीलता की स्थिति के उपलक्ष्य मात्र बनकर पर्य-वसित हो जाते हैं।

चित्त-विस्तार को प्रतिफलित करने वाली संवेदनशीलता का जन्मजात संस्कार महादेवी जी में था ही, जिसके प्रत्यक्ष लक्षण उनके शैशव से ही प्रकट होने लगे थे। यह संस्कार उनकी माँ के साधनापूत प्रभाव से और भी अधिक उद्दीप्त हो उठा। माँ की दयालु तथा कोमल वृत्ति का स्मरण करते हुए उन्होंने लिखा है—‘माँ के कारण हमारा घर खासा जू बना रहता था। बाबू जी जब लौटते तब प्रायः कभी कोई लँगड़ा भिखारी बाहर के दालान में भोजन करता रहता, कभी कोई सूरदास पिछवाड़े के द्वार पर खँजड़ी बजाकर भजन सुनाता होता, कभी पड़ोस का कोई दरिद्र बालक नया कुरता पहनकर आँगन में चौकड़ी भरता दिखायी देता और कभी कोई बृद्धा ब्राह्मणी भंडार-घर की देहली पर सीधा गठियाते मिलती। बचपन से बड़े होने तक माँ न जाने कितनी व्याख्या-उपव्याख्याओं के साथ इस व्यवहार-सूत्र को समझाती रही हैं कि हमारी शिष्टता की परीक्षा तब नहीं होती जब कोई बड़ा अतिथि हमें अपनी कृपा का दान देने घर में आता है वरन् उस समय होती है जब कोई भूला-भटका भिखारी द्वार पर खड़ा होकर हमारी दया के कण के लिये हाथ फैला देता है।’

उनके अध्ययन, निरीक्षण तथा अनुभव से भी उनकी संवेदनशीलता को परि-पुष्टि मिलती गयी और वह उनके जीवन का अभिन्न अंग ही बन गयी, तो इसे स्वाभाविक ही कहा जायगा, क्योंकि व्यक्ति की स्थूल-सूक्ष्म अनुभूतियों का स्वरूप संस्कार, प्रभाव एवं अनुभव से ही निश्चित होता है। संस्कारगत तथा उपार्जित दोनों विधियों से पोषित महादेवी जी की द्रवणशील संवेदना का आधार अत्यंत दृढ़, सनातन तथा सर्वसापेक्ष है।

वास्तव में इस व्यापक संवेदनशीलता की भावना के द्वारा व्यक्ति-शेष सभी को एक ऐसे भाव-साम्य के धरातल पर प्रतिष्ठित कर लेता है, जहाँ सभी भेदभाव तिरोहित हो जाते हैं और सभी शान्त संतुलित कोमलता तथा दयालुता से सम्बद्ध होकर एक समरसता प्राप्त कर लेते हैं। कहना न होगा कि यही संवेदनशीलता महादेवी जी की सर्वोदयी करुणा का प्रेरक पूर्व-पक्ष है, जो उनके आत्मभाव, आत्म विश्वास तथा जीवन के आशावादी संकल्प से समन्वित होकर व्यापक जीवन—लोक-मंगल का विधायक भाव बन गया है—

तममय तुषारमय कोने में छोड़ा जब दीपक राग एक,
प्राणों प्राणों के मन्दिर में जल उठे बुझे दीपक अनेक,
तेरे गीतों के पंखों पर उड़ चले विद्व के स्वप्न दीन।

प्राणों में भरने स्वर नवीन।

प्राणों-प्राणों के मन्दिर में बुझे दीपक को प्रकाशित करने की इस अदम्य आकांक्षा तथा लगन के पीछे व्यक्तिगत विषाद का प्रकटीकरण न होकर जीवन की एकता का भावन और उसमें व्याप्त विषमता तथा पीड़ा के शमन का ही अन्तर्भाव सन्निहित रहता है। व्यक्तिगत विषाद से व्याकुल एवं व्यस्त व्यक्ति की अभिव्यक्ति कभी इतनी उदात्त नहीं हो सकती—

‘लय ने वन-वन दीप जलाये मिट-मिटकर जलजात खिलाये।’ और उसमें इस आत्मविश्वास तथा आस्था का उन्मेष भी संभव नहीं है—

इस चितवन की अमिट निशानी,
अंगारे का पारस-पानी,
इसको छूकर लौह-तिमिर,
लिखने लगता है स्वर्ण-कहानी;
किरणों के अंकुर बनते यह जो सपने बोता है।



प्रणत लौ की आरती ले,
धूम-लेखा स्वर्ण-अक्षत
नील-कुमकुम वारती ले
मूक प्राणों में व्यथा की स्नेह-उज्ज्वल भारती ले;
मिल अरे बढ़, आ रहे यदि प्रलय झंझावात।
कौन भय की बात?

स्पष्ट है कि महादेवी जी के काव्य में समात्मभाव की वांछित सक्रियता तथा सर्व प्राप्य आनन्द के अभाव से उत्पन्न वेदना एवं त्याग की झंकार व्यक्तिगत पीड़ा की नहीं, सबके दुःख-दैन्य से उत्पन्न सहृदय कवयित्री की व्यापक जीवंत संवेदना के स्वरों से संगठित रागिनी की ही मूर्च्छना है—

मेरे सब सब में प्रिय तुम,
किससे व्यापार कलूंगी मैं।
आँसू का सोल न लूंगी मैं।

इसीलिये वे निरन्तर आकांक्षा करती हैं—

‘धूलि की इस वीण पर मैं तार हर तृण का मिला लूँ।’

समस्त जीवन का निर्माण धरती पर और धरती-मिट्टी से होता है। वस्तुतः धरती का संगीत उसके लघु से लघु तृण में भी सन्निहित है। राग के भिन्न स्वरों के समान कवयित्री अपनी जीवन-वीणा में धरती के समस्त संगीत को—सत्ता मात्र को अपने से समन्वित कर लेने के लिये उत्सुक है। इसी आधार को लेकर उन्होंने आग्रह किया है—

कोई यह आँसू आज माँग ले जाता।
तापों से खारे जो विषाद से श्यामल,
अपनी चितवन से छान इन्हें कर मधु-जल,
फिर इनसे रचकर एक घटा करुणा की
कोई यह जलता व्योम आज छा आता।
वर क्षार-शेष का माँग रही जो ज्वाला,
जिसको छूकर हर स्वप्न बन चला छाला,
निज स्नेह-सिक्त जीवन-वाती से कोई,
दीपक कर इसको उर-उर में पहुँचाता।

तम-कारा-बन्दी सान्ध्य रँगों-सी चितवन,
पाषाण चुराये हैं लहरों से स्पन्दन,
ये निर्मम बन्धन खोल तड़ित से कर से,
चिर रँग-रूपों से फिर यह शून्य बसाता।
सिकता से तुलती साध क्षार से उर-धन,
पारस साँस बेमोल ले चला हर क्षण,
प्राणों के विनिमय से इनको ले कोई?
दिव का किरिटी भू का श्रृंगार बनाता।

इस गीत का आशय यही है कि जिस प्रकार सागर का खारा पानी ताप-पीड़ा से ऊपर उठकर—वादल बनकर मीठे पानी में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार व्यक्ति की वेदना-संवेदना एवं करुणा के रूप में रूपान्तरित होकर मधुर एवं कल्याणकारी बन जाती है। महादेवी जी की कामना है कि वे व्यक्तिनिष्ठ पीड़ा की संकीर्णता से ऊपर उठकर संसार के प्रति प्रबुद्ध तथा संवेदनशील बन सकें ताकि उनके आँसू केवल उनकी अपनी पीड़ा से प्रभावित होकर ही नहीं वरन् सब प्राणियों के प्रति करुणा के रूप में भी प्रवाहित हो सकें, क्योंकि इस प्रकार उनके आँसुओं की स्वार्थमयता का कलंक भी धुल जायगा और उनसे दूसरों को भी शीतलता की वैसी

ही छाया तथा सुख का वैसा ही अनुभव प्राप्त होगा जैसा आकाश में मधुर जल से पूर्ण घटा के छा जाने से प्राप्त होता है। प्रायः व्यक्तिगत पीड़ा उस ज्वाला की तरह होती है जो अपने स्पर्श से सबको राख बना देती है, किन्तु यदि वही ज्वाला सबके प्रति स्नेह और सहानुभूति से समन्वित हो जाय तो वह तेल और वाती से संयुक्त दीपक की तरह स्वयं जलकर भी दूसरों को आलोकदान कर सकती है। व्यक्तिगत पीड़ा का एकान्त उन्मेष व्यक्ति के व्यापक गुणों को उसी प्रकार ढंक लेता है जिस प्रकार आकाश की रंग-विरंगी आभा को अंधकार। अहंनिष्ठ पीड़ा व्यक्ति की प्रसरणशील तरलता को वैसे ही बंदी बनाये रखती है जैसे पाषाण पानी की तरल, स्निग्ध धारा को अपनी कठोरता में दबाये रखता है। व्यक्ति विषाद से बोझिल साधें तथा कामनायें वालू की तरह नीरस और सारहीन होती हैं तथा उनकी खोज में व्यक्ति का अनमोल जीवन स्वार्थ की परिधि में चक्कर काटते हुए व्यर्थ होकर नष्ट हो जाता है। यदि व्यक्ति व्यापक जीवन के साथ स्नेह-सहानुभूति का आदान-प्रदान करता चले तो उसकी पीड़ा का शमन भी हो सकता है और उसके माध्यम से सम्पूर्ण दुखी संसार भी स्वर्गीय शोभा-शृंगार तथा गौरव प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार महादेवी जी करुणा को मानवीय हृदय के रागात्मक विस्तार का साधन मानती हुई उसे आत्म-विस्तार और आत्मव्याप्ति का चरम लक्ष्य स्वीकार करती जान पड़ती हैं। उनके काव्य में करुणा की यह व्याप्ति ही जैसे असीम उपलब्धि का दर्शन बन गयी है। स्वभावतः उनकी करुणा न तो नितान्त निवृत्ति-मूलक है और न प्रवृत्ति मूलक ही वरन् दोनों का सामंजस्य रूप है। वह केवल काव्यसत्य नहीं, व्यापक जीवन का सत्य है। समात्मभावात्मक समत्वयोग और निष्काम कर्मयोग के सामंजस्य से महादेवी जी ने करुणा को माधुर्य की क्रियात्मक आनंदानुभूति के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए उसे एक ऐसी रसात्मक स्थिति दे दी है, जिसके विराट प्लावन में जीवन की सम्पूर्ण विषमता एवं अनेकता स्निग्ध और सरस होकर समता तथा एकता के रूप में समन्वित और एकरस हो गयी है। वस्तुतः करुणा की यह सात्विक एवं सर्वग्रासी भावना उनके काव्य तथा जीवन में लोक-मंगलमुखी सर्वात्मबोध का प्रतीक, विकासशील जीवन की अपराजेय शक्ति और मानवीय संस्कृति के स्वलक्ष्य मूल्यों की आधारभूमि के रूप में नियोजित तथा निष्ठित है।

अस्तु, आत्मबोधी आस्था और सर्वकल्याण के मंगलमय संकल्पविधान से संचारित होने के कारण महादेवी जी की करुणा करुणरस के स्थायी भाव शोक से सर्वथा भिन्न हृदय की द्रवणशील सहृदयता—‘हृदयद्रुति’ से प्रस्फुटित तथा प्रमाणित है। शोक की स्थिति निजी इष्ट-क्षय अथवा अनिष्ट-प्राप्ति पर निर्भर

करती है, किन्तु करुणा का उद्रेक दूसरों की विपन्न दयनीय स्थिति या पीड़ा देखकर होता है—करुणा का आधार अपना नहीं, दूसरे का दुःख है। यही कारण है कि करुणा की सभी स्थितियाँ प्रेम्ण, उल्लासनात्मक तथा आनन्दविधायक होती हैं, दूसरों का दुःख दूर करने के प्रयत्न में करुणामय की अपनी पीड़ा गुणात्मक हो जाती है—

‘अपने इस मूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली,

प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली’।

भवभूति के ‘एकीरुणः करुण एव’ का प्रविष्टाज स्वरूप वाली करुणा है। अतएव अर्हन् भावाश्रित नयके प्रति समान नीच सम ने अनुप्राणित, आत्म-विस्तार के चरम साधन के रूप में स्वीकृत तथा व्यष्टि के नगण्य तक पहुँचने के अन्यतम अवाध आयोजन रूप में व्यवस्थित तथा वांछित करुणा का यह उदात्त रूप उनके काव्य एवं जीवन में किन्हीं धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन से प्रभावित न होकर उनके अपने गहज, स्वतंत्र चिन्तन तथा उनकी अगणित आत्मानुभूति का निजी प्रतिफलन एवं स्वाभाविक उपलब्धि है, उनमें कोई नन्देह नहीं। नमस्त भारतीय वाङ्मय में करुणा का यह प्रवर्धन उनकी नयने बढ़ी तथा महनीय देन है। उनकी यह वरद स्नेह-उज्ज्वल, तरल-होमल हान-अश्रुमय करुणा उनके द्रवणशील-कोमल हृदय की परिचायिका है।

कालिदास ने मेघदूत में कहा है—‘प्रायः नर्दोभवति करुणा वृत्तिरार्द्रान्तरात्मा’—मृदु हृदय वाले व्यक्तियों की चित्त-वृत्ति प्रायः करुणा से पूर्ण होती है। महादेवी जी ऐसी ही कोमलहृदया हैं। अद्वैत का बोधपक्ष एवं करुणा का भाव-पक्ष दोनों ही उनके सृजन में सहज रूप से समन्वित हैं।—दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। सभी के प्रति समान मदभाव एवं स्वाभाविक अपनत्व ही जैसे करुणा के रूप में घनीभूत हो गया है। इस प्रकार उनके उन्नत आत्मबोध का व्यावहारिक पक्ष करुणा में चरितार्थ होता है। नीचे उद्धृत गीत में इसी भाव की मार्मिक अभिव्यक्ति है—

शून्य मन्दिर में चरुंगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।

अर्चना हों शूल भोले,

क्षार दृग-जल अर्घ्य हो ले,

आज करुणास्नात उजला दुःख हो मेरा पुजारी।

नूपुरों का मूक छूना,

सरव कर दे विश्व सूना,

यह अगम आकाश उतरे कम्पनों का हो भिखारी।

राग मद की दूर लाली,
साध भी इसमें न पाली,

शून्य चितवन में बसेगी मूक हो गाथा तुम्हारी।

विश्व व्याप्त चेतना का कोई एक आकार नहीं होता, क्योंकि वह सभी आकारों में परिव्याप्त है। प्राणियों में मनुष्य की ही चेतना इतनी विकसित होती है कि वह आत्मबोध के माध्यम से सर्वात्मबोध का अनुभव कर सकता है—अपने को सर्व-व्यापक चेतना का प्रतीक मान सकता है। इस बोधि के पश्चात् वह स्वभावतः अपने को सबसे सम्बंधित और अनन्य मानने लगता है। इस संबंध और समानता के लिये परस्पर स्नेह, मैत्री तथा करुणा अनिवार्य है, क्योंकि बिना इनके इस भाव की सक्रियता सम्भव नहीं हो सकती है। महादेवी जी इस जीवन रूपी मन्दिर में उस परमचेतन परमात्मा की मूर्ति (प्रतीक) बनने की आकांक्षा करती हैं, क्योंकि सांसारिक राग और उसके मद का वे परित्याग कर चुकी हैं। इच्छाओं के अभाव से वे स्वयं परम चेतन की तरह इच्छाहीन बन चुकी हैं। अब उनकी आँखों में मौन रूप से केवल परमचेतन की करुणामय कहानी ही प्रकाशित होगी और उनकी प्रतीक रूप मूर्ति की करुणा में स्नान करने के कारण स्वच्छ तथा व्यापक सामूहिक दुख ही पूजा करेगा। आशय यह कि सामूहिक दुःख का बोध ही करुणा के उद्रेक तथा भगवान के प्रति उन्मुख होने का एक मात्र साधन है। इसीलिये 'करुणा-स्नात उजले दुख' को उन्होंने पुजारी का रूप दिया है। स्पष्ट है कि आत्मबोध तथा लोक-मंगल के सुदृढ़ तटों के बीच बहने वाली करुणा की स्निग्ध-सरस धारा ही महादेवी जी के काव्य की प्रमुख विशेषता एवं अनन्य रसात्मकता है। वस्तुतः महादेवी जी की यह करुणा सिद्धान्तों, विचारों अथवा व्यक्तिगत दुख से उत्प्रेरित न होकर उनके आध्यात्मिक जीवन-दर्शन तथा उनकी निजी संवेदनशील अनुभूति की ही सजल प्रेरणा का सुफल है। कवयित्री की अध्यात्म चेतना और करुणा की अभिन्नता के लिये ये पंक्तियाँ चिरस्मरणीय रहेंगी—

मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो।
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो।
पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा।

व्यक्तिगत रूप में मानवीय क्षमताओं और सम्भावनाओं की उच्चतम स्थिति एवं उपलब्धि के पश्चात् भी ये सर्वमुक्ति की आकांक्षा से अभिभूत होने के कारण करुणा का आधार एवं आग्रह छोड़ने को प्रद्युक्त नहीं हैं, आत्मसाक्षात्कार के बाद भी उनकी यही चाह है—

पावस-घन सी उमड़ बिपारती,
शरद-निशा सी नीरव घिरती,
पो लेती जग का विषाद,
ढुलते लघु आँसू-कण अपने में।
मधुर राग बन चिश्च चुलाती,
सौरभ बन कण कण बसा जाती,
भरती में संसृति का क्रन्दन,
हूँस जर्जर जीवन अपने में।
साँसें कहतीं अमर कहानी,
पल पल बनता अमिट निशानी,
प्रिय में लेती बाँध मुक्ति,
सी सी लघुतम बन्धन अपने में।
तुम्हें बाँध पाती सपने में।

अस्तु, सम्पूर्ण संसृति का क्रन्दन तथा संताप अपने जीवन में भर लेने की हार्दिक चाह ही उनकी करुणा का मूल स्रोत है। करुणाशील सर्वात्मित्याग की भावना को चरितार्थ करने के लिये उन्होंने परमात्मा से यह प्रार्थना की है—

घन वनूँ वर दो मुझे प्रिय।
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग-व्योम में,
सजल श्यामल मंथर मूक सा
तरल अश्रु विनिर्मित गात ले;
नित धिरूँ झर झर मिटूँ प्रिय।
घन वनूँ वर दो मुझे प्रिय।

ताप-दुःख से तप्त विश्व को शीतल एवं सुखी बनाने के लिये बादल की तरह घिर-घिर कर, वरस-वरसकर और पुनः घिर-घिर कर मिटने-वरसने की यह अभिलाषा उनकी वेदना को विश्व-वेदना से संयुक्त करके उसे उदात्ततम रूप दे देती है। उनकी आकांक्षा, प्रार्थना कभी अपनी पीड़ा के परिहार के लिये नहीं प्रयुक्त

परिणामस्वरूप भारतीय मौलिक विचारों का ह्रास और पश्चिमी विचारों का प्रभावाधिक्य कोई अप्रत्याशित घटना नहीं, किन्तु अपनी संस्कृति और अपने साहित्य को हम भी उन्हीं की दृष्टि से देखने लगें यह निश्चय ही बड़ी लज्जा की बात है। हमारी आधुनिक समीक्षा प्रायः पश्चिमी विचारधारा से इतनी आक्रान्त है कि अब तक भी हम उससे मुक्त नहीं हो सके। आधुनिक समीक्षा के प्रवर्तक और मौलिक विचारक तथा समीक्षक कहे जाने वाले आचार्य शुक्ल की समीक्षा में भी पश्चिमी विचारधारा का विवेकरहित आग्रह स्पष्ट ही है। महाकवि 'प्रसाद' तथा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शुक्ल जी की समीक्षा विषयक प्रत्याख्यान इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं। मेरा आशय यह नहीं कि ज्ञानार्जन की सीमायें पूर्व-पश्चिम अथवा देश-विदेश की संकुचित कारा में बंद कर दी जायें, परन्तु इतना तो मैं अवश्य ही कहना चाहता हूँ कि अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार का त्याग कभी कल्याण-प्रद नहीं हो सकता है।

विदेशी साहित्यिक वादों, प्रमादों, प्रवृत्तियों तथा विभिन्न विचारधाराओं से प्रभावित एवं आतंकित होकर प्राचीनतम वैदिक ऋचाओं से आज तक अबाध रूप से प्रवाहित होती चली आने वाली संस्कृति तथा साहित्य की परम्परा एवं उपलब्धि को छोड़ देने पर हमारी स्थिति डाल से टूटे पत्ते की तरह इधर-उधर उड़ते रहने के अतिरिक्त और कुछ न रह जायगी, यह निश्चित है। एकांगी बुद्धिवादी वैज्ञानिक जड़ता और भौतिकता के एकांत आग्रह तथा औद्धत्य के कारण यदि पश्चिम ने जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों का तिरस्कार करते हुए मानव-चेतना को किसी ऊर्ध्व-दर्शन की क्षमता से रहित मानकर उसे केवल अर्थ-काम की पशु-सुलभ प्रवृत्तियों में ही सीमित समझा तो हमारे लिये अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक धरोहर को छोड़कर उसे यथावत स्वीकार करने की विवशता क्यों होनी चाहिए? इसका कोई उत्तर हमारे पास नहीं है।

भौतिक ऐश्वर्य के आवेश में यदि पश्चिम का मनुष्य अंध अराजक आसुरी शक्तियों से आक्रान्त अपने ही क्षुद्र एवं स्वार्थरथ अहं को विश्व की विधात्री शक्ति मान कर, मात्र वासना-पुरुष बन कर हिंसा, मद, लोभ, विद्वेष एवं पारस्परिक घृणा और शोषण की वृत्तियों का दास बन गया तो मनुष्य-मनुष्य को ही नहीं, प्राणिमात्र को एकात्मता के स्नेह-सूत्र में संग्रथित करने वाली प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति और करुणा की कल्याणी चिरपरिचित वृत्तियों को हम क्यों छोड़ दें?

जिस स्नेह-सौहार्द्र, सहयोग-साहचर्य तथा सह-अस्तित्व एवं सबके सम्मिलित हित के संकल्प से हम अँग्रेजों के फौलादी पंजों से मुक्त हुए हैं उस वरदान को किसी निराश पथ हारे सार्त्रे अथवा कामू के स्वर से स्वर मिलाकर हम नरक

या अभिशाप क्यों कहें? नवीन सृजन के नाम पर यदि कोई मानव-द्रोही अहं-वद्ध नर-पिशाच पश्चिमी क्रीतदारा हमसे कहे—‘दूसरे लोग हमारे नरक हैं: मानवों का साथ-साथ जीना, सह अस्तित्व और साहचर्य एक लाचारी है—एक अभिशाप है। हम सब अपने-अपने भीतर बंद और अकेले घुटते रहने को मजबूर हैं। मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई प्रेम, सम्बेदन, सहानुभूति, सहजीवन और एकात्मियता का मौलिक सम्बंध नहीं है। हम सब निपट अकेले हैं: और साथ रहने को बाध्य हैं। हम सब एक-दूसरे के लिये अजनबी हैं’ तो हम इसे क्यों मान लें? अपने क्षुद्र अहं को सर्व-पर्याप्त तथा विश्व का केन्द्र मानकर शेष संसार को अपने भोग का साधन समझने वाले कतिपय नासमझ यदि ऐसा सोचते हैं तो उसे न मान कर हमें अपनी समझदारी का परिचय देने में हिचक क्यों होनी चाहिए?

एकांतिक वैज्ञानिक प्रगति और यांत्रिक कुशलता के दर्प में परस्पर कलह-कोलाहल एवं भीषण युद्धों के द्वारा यदि पश्चिमी मानव भावना खंडित और विकलांग होकर सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन और आव्यात्मिक नैतिक पतन का उदाहरण बन गयी तो समन्वयशील संस्कृति के उत्तराधिकारी होते हुए भी हम उसका अंध अनुकरण और अनुसरण क्यों करने लगे? हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि किसी जाति या राष्ट्र का साहित्य उसकी संस्कृति, उसके समाज-दर्शन तथा जीवनविषयक मूल्यों की अविच्छिन्न विकास परम्परा और उसमें होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रतिबिम्ब एवं प्रतिनिधि होता है न कि किसी से उधार लिया हुआ माल अथवा सट्टे से प्राप्त सौदा।

वाह्य प्रकृति के ज्ञान और उसकी शक्ति के उपभोग से प्रमत्त होकर पश्चिम का बौद्धिक-वैज्ञानिक मनुष्य की अन्तर्प्रकृति की उपेक्षा करता हुआ बाहरी प्रगति के जिस पथ पर तीव्र गति से अनुधावित हो रहा है वह बहिरंतर संतुलन के अभाव के कारण संघर्ष, क्षोभ एवं भविष्य की अनिश्चितता के बोध से बोझिल और शंका-कुल है, क्योंकि मानवीय जीवन की ध्रुवीयता का ध्यान रखे बिना मानव-जीवन का कोई भी एकांगी विकास सार्थक एवं सुखद नहीं हो सकता। वाह्य जीवन की विकास प्रक्रिया की तरह अन्तर्जीवन की विकास-प्रक्रिया भी परिचालित होती है और इन दोनों के संतुलित तथा सामंजस्यपूर्ण विकास-क्रम से ही मनुष्य का वास्तविक एवं स्थायी विकास सम्भव होता है, अन्यथा नहीं। वैज्ञानिक औद्योगिक से पीड़ित पश्चिमी मानव यांत्रिक तथा ऐन्द्रिक विधियों की प्रणाली में कोई विभेद न स्वीकार करने के कारण स्वयं यंत्रचालित पुतला बन गया है। इस स्थिति में जीवन, जगत् समाज तथा व्यापक मानवता के प्रति उसकी दायित्वहीनता स्वाभाविक ही है। वाह्य प्रकृति पर विज्ञान की चढ़ाई देखकर ही गेटे ने कहा था—

There is indeed remarkable attraction
In seeing a devil's view of nature's action

वस्तुतः विज्ञान की यांत्रिक शक्ति से प्राकृतिक शक्तियों का प्रयोग और उप-भोग चाहे कुछ समय के लिये कितना ही वांछनीय और उपयोगी जान पड़े पर अन्ततः उसका परिणाम अत्यंत घातक सिद्ध होता है, क्योंकि मनुष्य की बौद्धिक उपलब्धियों से जब तक उसकी बोधात्मक अनुभूति का सामंजस्य स्थापित नहीं होता तब तक उसके जीवन के सम्यक् विकास की स्थिति कभी दृढ़ और स्थायी नहीं हो सकती यह निश्चित है। ज्ञान-वृक्ष के फल को खाकर आदिदेव-मानव का पतन बाइबिल में वर्णित है। विज्ञान ने उसी भूल को दोहरा देकर मानव के पुनः पतन को चरि-चार्थ कर दिया। प्रथम पतन से देवत्व की च्युति तथा मानव की स्थिति सामने आयी, किन्तु इस द्वितीय पतन से मानव की च्युति और असुरों का आविर्भाव हुआ। इस आसुरी शक्ति से अपनी रक्षा के लिये हमें अपनी सहज मानवीय संस्कृति के सर्वकल्याणी स्वरूप का स्मरण तथा तदनुकूल आचरण करने की प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए, जिसका मूल उद्घोष यह है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी पापरहित हों, सभी आनंद-मंगल प्राप्त करें, किसी को किसी प्रकार का दुःख न प्राप्त हो, सबकी मंगलाकांक्षा, व्यक्तिगत अहं, वर्ग-भावना, राष्ट्र तथा जातिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सार्वभौमिक प्रेम का यह स्वरूप सबके पारस्परिक मौलिक एकत्व के बोध तथा उपलब्धि की स्वीकृति का ही परिणाम है, इसमें सन्देह नहीं। पश्चिम के अस्वस्थ अहं-गर्व, स्वार्थ-सीमित प्रभाव-सम्पर्क के कारण अपनी संस्कृति की उदात्त विशेषताएँ उदारता, हृदय की कोमलता, आत्मा की दिव्यता, क्षमा, दया एवं करुणा के छोड़ने का कोई कारण मुझे तो नहीं दिखायी पड़ता।

प्रकृति से संस्कृति की ओर का अदम्य अभियान ही पशु तथा मानव की विभा-जक स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। साहित्य की सृष्टि केवल मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि वह उसकी सांस्कृतिक प्रक्रिया का परिणाम है, केवल पशु-सुलभ प्राकृतिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति नहीं। वस्तुतः वह उसके संकीर्ण अहं की नहीं, उसके व्यापक चैतन्य की साक्षी और प्रेरक है। स्वभावतः स्व-पर के कृत्रिम भेद से रहित विश्वात्मा के साथ एकत्व की भावना से अभिभूत हो कर लोक-मंगल के उन्मेष का निरन्तर प्रयत्न ही उसकी सब से बड़ी उपलब्धि एवं सार्थकता है। सब भूतों में व्याप्त एक अन्तर्यामी अध्यात्मतत्त्व की अवगति और अनुभूति—समोऽहं सर्व-

भूतेषु' के अनुसार यदि हम सबके स्नेह-सहानुभूति तथा समात्मभाव की व्यापक दृष्टि से उन्मुख हों तो भेद, विरोध और अकेलेपन की घातक भावना से छुटकारा पाकर सब के साथ एकात्मता का अनुभव करते हुए अपने जीवन को नरक की अपेक्षा स्वर्ग बनाने में सफल हो सकते हैं और हमारी आत्मा द्वन्द्वातीत होकर चिर शान्ति का अनुभव प्राप्त कर सकती है, क्योंकि एक-दूसरे में पर्यवसित होकर सर्व-समग्र जीवन को स्वीकार कर लेने पर व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है तथा मनुष्य अपनी सीमाओं, कुंठाओं और समस्त अवरोधों को तोड़कर सबके साथ एक सम, सम्वादी एवं पूर्णतर जीवन जीने में सहज ही सक्षम हो उठता है। हमारी संस्कृति का यही मूल सन्देश है।

मूलतः एक होकर भी देश-काल के विभेद के कारण संसार में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं और उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ भी विभिन्न हैं। इस विभेद की सीमा में बंधकर मनुष्य किसी एक विशेष राष्ट्रीय या जातीय संस्कृति से सम्बन्धित होने के लिये प्रकृत्या विवश है। 'यों तो संसार में अनेक स्त्री-पुरुष हैं, पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते हैं, उन्हीं के गुण हममें आते हैं और उन्हें ही हम अपनाते हैं। ऐसे ही संस्कृति का सम्बंध है, वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री है।'

शारीरिक, मानसिक और आर्थिक सम्पत्ति की तरह मनुष्य को सांस्कृतिक उत्तराधिकार भी प्राप्त होता है। प्रत्येक संस्कृति कतिपय ऐसी मूलभूत विशिष्टताओं तथा विशेषताओं की आलोकित आभा अपने में संचित किये रहती है, जो उसके पुरस्कर्ताओं की जीवन-जगत् सम्बंधी मान्यताओं को स्पष्ट करने के साथ ही यह भी सूचित करती है कि जीवन के विकास क्रम में उस विशेष मानव-समूह की स्थिति किस उच्च तथा व्यापक सीमा का स्पर्श करने में समर्थ हो सकी है।



रहस्यवाद की परम्परा

‘काव्य हृदय को मुग्ध करता है, पर वह तर्क को प्रबुद्ध नहीं करता।’ इसे यों भी कहा जा सकता है कि वह अनुभूति को आश्रय देता है, ज्ञान का संरक्षण नहीं। बुद्धिवृत्ति की अपेक्षा वह बोध-वृत्ति का उन्मेष करता है। मानव ने जब चिन्तन और मनन के फलस्वरूप विश्व की प्रतिपल परिवर्तनशील भिन्नता में एक शाश्वत एकता का ज्ञान प्राप्त किया तभी से हृदय इस ज्ञानज्ञेय एकता को अपनाने के लिये उत्सुक हो उठा। ‘कस्मैदेवाय हविषा विधेम’ की बुद्धिजनित द्विविधा को मिटाकर मानव का हृदय पुकार उठा—‘तत्सत्यमसि आत्मा तत्त्वमसि।’ यहीं से बुद्धि द्वारा ज्ञेय परम तत्त्व हृदय का प्रेय बन गया। उपनिषदों में, जिसका अर्थ ही रहस्य है, इस तत्त्व के श्रेय तथा प्रेय रूपों का विस्तृत विवेचन है। प्रकृति में रूप, गुण और चेतना की प्रतिष्ठा एवं उसके प्रति साधकों की भावात्मक अनुभूति का क्रमवद्ध इतिहास वेदों तथा उपनिषदों से लेकर आज तक भारतीय साहित्य का आवश्यक अंग रहा है। यही कारण है कि इतिहास में ज्ञानाश्रयी शाखा के भक्त कहे जाने वाले सन्त-ज्ञानी कवियों को भी काव्यगत अनुभूतिमयी प्रेरणाओं को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा, क्योंकि ज्ञान-सिद्ध विषय हमारी बुद्धि-वृत्ति को तृप्ति दे सकते हैं पर हृदय को स्पर्श करने की उनमें क्षमता नहीं होती। हृदय-वृत्ति की स्मरणीयता के ही लिए, निर्गुण ब्रह्म की सारी ज्ञान-गरिमा के साथ कबीर को अन्त में ‘राम की बहुरिया’ बनना ही पड़ा। सच तो यह है कि अनुभूति के आधार के बिना काव्यात्मक अभिव्यक्त का कोई अस्तित्व नहीं होता, वस्तुतः ज्ञान के अद्वैत को काव्य का विषय बनने के लिए गुणों का आरोप सहना पड़ा और अपनी लम्बी डाढ़ी के साथ कबीर गा उठे—‘दुलहिनी गावहु मंगलचार, राजाराम मोहि मिले भतार।’ वास्तव में ‘मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना काव्य का सहज सोपान बना।’

यह मधुर व्यक्तित्व प्रतीक के रूप में सामने आया। विशुद्ध ज्ञान के लिए ब्रह्म निर्गुण और अव्यक्त ही बताया गया है, पर उपासना के लिए उसका सगुण और व्यक्त रूप ही अनिवार्य है। क्योंकि जहाँ ज्ञाता और ज्ञेय का मतभेद नहीं, उपास्य तथा उपासक में भिन्नता नहीं, वहाँ उपासना की कल्पना व्यर्थ है इसलिए उस व्यापक मधुर सत्ता को एक प्रतीक ('प्रति' मतलब अपनी ओर, और 'इक' का अर्थ झुकाव) मानकर उस आस्था का आरोप किया गया। इस प्रकार देखने से पता चलता है कि मानव का स्वाभाविक विकास पार्थिव पूजा से मानसी उपासना की ओर उन्मुख हुआ। फलस्वरूप भय, श्रद्धा और विस्मय का आधार अव्यक्त स्नेह के माध्यम से हृदय के अधिक समीप पहुँच गया। ज्ञानी, अपने चिन्तन के बल से ब्रह्म के जिस अज्ञेय स्वरूप का निरूपण करके तटस्थ हो जाता था, भावुक उसीस्वरूप को अपने हृदय की भाव-मग्नता में स्थानांतरित करके उसमें अपने सारे व्यक्तित्व को समाहित कर देने लगा। ज्ञानी की जानकारी एक रागात्मक अनुभूति में बदल गई, भावक्रान्ति का आविर्भाव हुआ। यहीं से बुद्धिव्यवसायात्मक ज्ञान को अपूर्ण मान कर भावुक साधकों का एक समूह, इस विषय में बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति का समर्थन करने लगा और इस समर्थन के समक्ष ज्ञान तथा दर्शन का अव्यक्त एवं व्यापक ब्रह्म सोपाधि रूप से काव्य में भी प्रतिष्ठित हो गया और कवि विजयोन्माद में गा पड़ा—'मैं मरीजे-होश था मस्ती ने अच्छा कर दिया।' सम्भवतः इसीलिए उपासना की इस पद्धति का निरूपण दर्शन और काव्य दोनों में है। कहने का आशय यह है कि कण-कण में व्याप्त व्यापक सत्ता का मानव ने एक रागात्मक अथवा रसात्मक स्वरूप निश्चित किया। शास्त्रज्ञानसम्पन्न होकर भी जिन्होंने अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के उत्थान में हृदय की भावनात्मक अनुभूतियों का सहारा लिया उन्होंने रूप और भाव का ऐसा सामंजस्य कर दिया कि वह ज्ञानी-अज्ञानी सबकी सहज ममता और आकुल आकर्षण का अनन्य आधार बन गया।

यह बताया जा चुका है कि अनुभूति की तीव्रता के प्रतिफल के लिये किसी व्यक्त प्रतीक की आवश्यकता होती है, चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक। ऋग्वेद की एक ऋचा इस प्रकार है 'योषा जारमिव प्रियम्' इसका आशय यही है कि ईश्वर के प्रति मानव के प्रेम का आवेग परकीया के उपपत्ति के समान होना चाहिए। स्त्री-पुरुष के इसी आकर्षण को साहित्य में रतिभाव और साधना में मधुर भाव कहते हैं। रहस्यवादी कवि इसी मधुर भाव का आश्रय स्वीकार करता है। दो, का एक, में लय होने की क्रम-व्यवस्था में ही इस भाव के आनंद की मूल प्रेरणा निहित है, क्योंकि प्रेम का प्रधान लक्षण एकाधिपत्य की कामना है (शासकों

की नहीं है साधकों की) उपासनात्मक प्रेम की यही पराकाष्ठा और सर्वात्म समर्पण की पूर्णतम अभिव्यक्ति इसी भाव में संभव है। लौकिक दृष्टिकोण से भी पत्नी, पति के सम्पूर्ण प्रेम की अधिकारिणी है। वस्तुतः इस परम भाव को सभी भावों का रासायनिक सम्मिश्रण माना गया है, इस लौकिक जीवन को आलौकिक आधार देने के लिए सभी रहस्यवादियों को लौकिक प्रणयोद्गार का माध्यम ग्रहण करना अनिवार्य हो उठा। बुद्धिगम्य विषय को भाव-गम्य बनना पड़ा। दास्य-भाव के अनन्य उपासक महाकवि तुलसी को भी—‘कामिहि नारि पियार जिमि’ को मधुर भावना में ही हृदय की पूर्ण तृप्ति का आधार स्वीकार करना पड़ा। कवीर ने तो इस आस्था के बल पर यह तक कह डाला है कि इसे चाहे कोई समझे या न समझे—‘अपनी राह तू चले कवीरा।’ महादेवी ने भी इससे कम नहीं कहा—‘मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।’ ठीक भी है—‘प्रेमाः पुमर्थो महान्’ प्रेम ही परम पुरुषार्थ है। यही व्यक्ति की पूर्णता तथा अमरता का प्रतीक है, प्रतीक से चल कर प्रतीक बनने तक की साधना की चरम सफलता है क्योंकि अमरता तथा पूर्णता समय सापेक्ष नहीं वरन् व्यक्ति (भाव) सापेक्ष है—जिस समय वह अमरता का अधिकारी बन जाता है। कवीर ऐसे ही भाव-योगी कलाकार थे। यह ईश्वरीय दिव्य प्रेम केवल अनुभवगम्य है, इसको गूँगे का गुड़ भी कहा गया है। वास्तव में यह प्रेमानुभूति दार्शनिक विवादों से परे, बौद्धिक तर्कों से ऊपर, पुस्तकी विद्या से अगम्य केवल भावसाध्य है, अनुभूति का विषय है। ऐसी स्थिति केवल साधक और साध्य की पारस्परिक ज्ञेयता पर निर्भर है, साधक उसे जानता है वह साधक को। कवीर का यह पद परीक्षणीय है—

जन की पीर हो राजाराम जाने कहूँ काहि को मानै ।

नैन का दुख बैन जाने बैन का दुख श्रवनां ।

पिंड का दुख प्राण जाने प्यास का दुख नीर ।

भगत का दुख राम जाने कहत दास कवीर ॥

अस्तु, व्यक्ति की इस अनुभूतिपूर्ण उपासना का नाम काव्य में रहस्यवाद पड़ा। प्रत्येक व्यक्ति का जीवन कुछ ऐसे ही रहस्यमय तत्वों से निर्मित है, जिनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति सहज सम्भव नहीं। फिर व्यक्ति की एकान्तिक अनुभूतियाँ तो और भी रहस्यमय होती हैं। यह कला-सत्य का दार्शनिक निरूपण न होकर उसका अनुभूतिमय स्थापन है। यह स्मरण रखना होगा कि यह रहस्यवाद नाम बहुत पुराना नहीं, यद्यपि अभिव्यक्ति की यह प्रथा बहुत पुरानी है तथापि इसे इस नाम से आधुनिक युग ही ने अभिहित किया है, सम्भवतः रवीन्द्र की गीताञ्जलि के बाद।

सुभ श्री महादेवी ने काव्य की इसी प्रवृत्ति को अपनाया है। उन्होंने विस्तृत-प्रकृति के रूप में अपने को स्वरूप-विस्तृत-गुण के सामने निवेदिन किया है। इन पाव के अन्य साधकों की भाँति स्मृति, विभ्रम, वेदना और विरह महादेवी की काव्योपासना के प्रसाधन हैं, किन्तु इनके विनाश में उनकी कुछ मौलिक धन है, विनोदः उन्हीं का यहाँ उल्लेख होगा। महादेवी की कविताओं में निराल प्रकृति का मानवीय जीवन के साथ एक ऐसा भाव-साम्य हो गया है, जो सर्वत्र बोधगम्य है। उन्होंने इस काव्यानुशीलन से अपनी संकुचित सीमा को पार करके जीवन के प्रवाह का प्रवाह धरातल पा लिया है। वास्तव में ऐहिक मनुष्य तो जीवन का एक माध्यम मात्र है, उसके भीतर की शाश्वत गति का जो तत्त्व प्रतिष्ठित है वह सीमित न होकर निरतगव्याप्त है। वही भावगम्य तथ्य इन पंक्तियों में पुलकित हो उठा है—

'उमड़ता मेरे दृगों में वरसता घनश्याम में जो,

अवध में मेरे खिला नव इन्द्रधनु अभिराम में जो;

'बोल्ता मुझ में वही जग मौन में जिसको बुलाता।

सुभग में उतनी मधुर है

मधुर जितना प्रातः,

सजनि में उतनी सजल

जितनी सजल वरसात !

'नीहार' (प्रभात) से लेकर 'दीपशिखा' (सायंकाल) तक प्रकृति के विस्तृत अंगन में वनदेवी की तरह गीत गाने वाली महादेवी का निसर्ग सुन्दर संसार उनकी अनुभूतिमयी विजन व्यापकता से परिपूर्ण है। यह कौन नहीं जानता कि व्यवित का दिन-रात का रोना-धोना उसके जीवन के साथ समाप्त हो जाता है किन्तु सृष्टि का क्रम नहीं टूटता, मानों पार्थिव जीवन की सीमित इकाई से मनुष्य जीवन के इस अज्ञात अचेतन क्रम को समझने की चेष्टा करता है, सत्य को चीन्हने का प्रयास करता है। उपनिषदों के अनुसार पार्थिव जीवन की ससीमता और अपार्थिव जीवन की अससीमता के विस्तृत आवरण में स्थित जड़-चेतन के निरन्तर परिवर्तन तथा पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति में सामञ्जस्य का बोध सत्य के ही ज्योतिर्मय एवं सात्त्विक स्वरूप का केन्द्र है और इस समन्वय का बहुत ही निखरा हुआ रूप महादेवी की काव्य-साधना में प्रतिफलित हुआ है—

'सेतु शूलों का वना बाँधा विरह वारीश का जल ,

फूल सी पलकें बनाकर प्यालियाँ बाँटा हलाहल ,

दुःखमय सुख, सुख भरा दुख

कौन लेता पूछ जो तुम ज्वाल जल का देश देते ?'

मनुष्य का सारा ज्ञान-विज्ञान इसी सत्य के पाने का प्रयास है, किन्तु कवि का यह प्रयत्न उसका गान है। अपने गीतों में कवि सहज सजल होकर उस अनन्त के स्वरूप को अपनी सीमा में उसी प्रकार प्रतिभासित करता है जिस प्रकार सिन्धु अपने में अनन्त आकाश को। वह ज्ञान द्वारा उसे समझने की अपेक्षा ज्ञान द्वारा उसे अपने हृदय में स्थापित करता है, ज्ञानी न बनकर प्रेमी बनता है—‘हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाने कोय।’ महादेवी का हृदय भी ऐसा ही प्रेमी है।

अत्यधिक आध्यात्मिकता अत्यधिक प्रकाश की भाँति प्रेम की इस स्थिति में चकाचौंध न पैदा कर दे, इसी हेतु महादेवी के इस अलौकिक प्रेम ने लौकिक प्रणयरूपकों को ग्रहण किया है, किन्तु अन्य सभी ऐसे साधकों से भिन्न उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने आराध्य को किसी व्यक्ति अथवा वस्तु रूप की अपेक्षा केवल भाव रूप में ही स्वीकार किया है—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा,
‘विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।’

इसकी आराधना के लिए उन्होंने कभी जीवन और जगत से दूर वैराग्य अथवा मोक्ष का अनुसंधान नहीं किया। उनका कहना है—

सूँद पलकों में अचंचल, नयन का जादू भरा तिल,
दे रही हूँ अलख अविकल को सजीला रूप तिल-तिल;
आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।

क्योंकि उनका विश्वास है कि—

खोज ही चिर प्राप्ति का वर,
साधना ही सिद्धि सुन्दर,
शलभ जलकर दीप बन जाता निशा के शेष में।

वे जीवन और जगत के असंख्य बन्धनों के बीच महानन्दमय मुक्ति का उपभोग करना चाहती हैं—‘वन्दिनी बनकर हुई मैं बंधनों की स्वामिनी सी।’ एक प्रकृतिस्थ पथिक की भाँति सुदूर अनन्त के पथ की ओर चलना उनका ध्येय है। उन्होंने साधना के संतोष के साथ लिखा भी है—

‘अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे।
‘डुख ब्रती निर्माण उन्मद,
यह अमरता नापते पद,
बाँध देंगे अंक संसृति से तिमिर में स्वर्ण वेला।
पन्थ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।’

यह स्पष्ट हो चुका है कि मनुष्य देह नहीं देही है, असीम की एक सीमित माप है, किन्तु साधारण प्राणी अपने प्राणत्व को भूल कर देह की ही गव-गुच्छ गमयने लगता है। महादेवी का कवि इस मिथ्या से नहीं उलझा, क्योंकि उन्होंने शरीर और चेतन, देह और देही के साक्ष्यत सम्बन्ध को इन प्रकार स्पष्ट किया है—

‘वन रहे आराध्य चिन्मय मृण्मयी अनुरागिनी में,
रजकणों में खेलती कित विरज विधु की चाँदनी में।’

अथवा

‘क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार,
रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।’

वस्तुतः इस मृण्मय शरीर में जो अविनाशी चेतन के रूप में व्याप्त है, वह आराधनीय है, वह किसी एक देह में, एक देग में तथा एक काल में सीमित नहीं है, वह तो असीम होकर चारों ओर हमें रिसा-गिरा रहा है। अपने में उसका आभास पाकर कवि क्षण-भर को मिल्न-गुप्त से पुलकित हो उठता है और जब वह अपने को भूल कर, उसे कहीं बाहर से ग्रहण करना चाहता है तब उसकी असीमता एवं अप्रत्यक्षता के प्रति विरह हो उठता है। महादेवी का यह विरह मिलन है, पार्थिव जीवन में अपार्थिव के आभास का संकेत है, साकारता में निराकारता की प्रतिष्ठा है—

विश्व में वह कौन सीमाहीन है
हो न जिसका खोज सीमा में मिला,
क्या रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो?

इस प्रकार महादेवी ने व्यक्तिगत अस्तित्व तथा सुख-दुःख के छोर को पकड़ कर सर्वात्मा के चिदानन्दमय उस छोर को भी करतलगत कर लिया है, जहाँ उनकी व्यष्टि दिव्य समष्टि का स्वरूप बन गई है। इस चरम अनुभूति की परिणति में इस परम सत्य की तदाकारता में आसीन होकर कवि अपने आराध्य की उपासनामयी समता का अधिकारी बन जाता है और प्रियतम के सम्पूर्ण गुण उसमें उद्भासित हो उठते हैं—

फैलते हैं सान्ध्य नभ में भाव ही मेरे रंगीले,
तिमिर की दीपावली है, रोम मेरे पुलक गीले।

अपने ससीम व्यक्तित्व को आराध्य के असीम व्यक्तित्व में लय करके साधक में कौन सा अभाव और कौन सी अपूर्णता शेष रह जाती है? बिन्दु सिन्धु से

मिलकर स्वयं सिन्धु है। फिर क्यों वह प्रिय की सदय करुणा के लिए दैन्य भाव दिखलावे ? जिस प्रकार प्रिय की अधर से छलकती मुस्कान में प्रकृति के नित नव उल्लास का आवास है और जिस भाँति उसका क्षणिक विषाद चराचर की वेदना का उत्स-स्थान है, उसी भाँति क्या कवि के भावों की परिव्याप्ति संसृति के आवर्तन-परिवर्तन में व्याप्त नहीं है ? अवश्य है, इसी कारण महादेवी को अपने निजत्व का स्मरण है, आत्मचेतना का आग्रह है। प्रिय के मिलन-क्षण की निलयता में उनका निजत्व लय हो जाय और समता का सारा भाव ही समाप्त हो जाय, यह महादेवी को नहीं भाता—

मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से यजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिक्ता में सलिल-कण,

किन्तु

सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।

महादेवी के साधक को मालूम है कि विरह की तपस्या से ही प्रिय का मिलन सम्भव हुआ है, फिर उसका परित्याग कैसे किया जाय ? उन्होंने साफ शब्दों में कहा—

‘तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा’

आराध्य के प्रति आत्म-भाव भरी निजता का इतना मधुर चित्र अन्य किसी कवि में नहीं मिलता। साहित्य को यह केवल महादेवी की देन है। विरह और वेदना से मनुष्य अपने अभीष्ट तक पहुँचने में समर्थ होता है और इन्हीं तथ्यों से मानवीय जीवन का परिष्करण भी होता है। महादेवी ने इसी आध्यात्मिक तथ्य के सहारे अपने गीतों का संसार गुंजरित किया है। उनके काव्य के उपादानों के साथ हमारे सामने साधक ज्ञानियों का स्वरूप उपस्थित हो जाता है, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि वे साधक नहीं आराधक हैं, ज्ञानी नहीं गायक हैं। साधकों की उपासना यत्नसाध्य होती है, इनकी सहज स्वाभाविक। वे साधक क्रियात्मक थे, किन्तु महादेवी भावात्मक। महादेवी की एक विशेषता बहुत बड़ी है और वह यह कि उन्होंने भावतन्मयता में अपने कवि को शिशु की स्थिति में रखकर इस प्रत्यक्ष जगत में ही बहुत से अप्रत्यक्ष सत्त्यों का स्थापन किया है, जो उतना ही सरल और मनोहर है, जितना तत्त्वों के कठिन जगत में नव किसलयों का अस्तित्व। न तो वे पार्थिव ज्ञान से नीरस और निराश हैं और न दार्शनिकता से जटिल ! यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार वाल्य-भाव साधक परमहंसों के लिये शोभन है उसी प्रकार वह कवि का भी शृंगार है—

‘पहुँच न पातीं जग की आँखें,
राह न पातीं मन की पाँखें,
जीवन को उस ओर स्वप्न शिशु पल में पहुँचाता है;
बिना पय ले जात लाता है।’

अन्त में यह कह देना अनुचित न होगा कि नारी-हृदय की सार्वभौम कण्ठा और सर्वव्यापी स्नेह-शक्ति तथा अडिग आत्म विश्वास को लेकर महादेवी ने विश्व के लिये चिर प्रेममय मंगल की आराधना बड़े ही मौलिक ढंग से की है। उन्होंने चिर सुन्दर प्रियतम की पूजा में स्वयं आरती की ली की भाँति जल-जल कर भारती मन्दिर में उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण किया है। विश्व के कण-कण में व्याप्त पूर्णताप्राप्ति के क्रन्दन का समवेदनात्मक उद्घाटन किया है। और इसरो उनको सन्तोष भी है। विश्व-जीवन की आध्यात्मिक विपन्नता के बीच में भी वे विश्वास के साथ कहती हैं—

‘जग अपना भाता है
मुझे प्रिय पय अपना भाता है।’

क्योंकि—

‘चिर बन्धु पय आप, पग चाप संलाप
दूरी क्षितिज की परिधि ही रही नाप,
हर पल मुझे छाँह हर साँस आवास
सब का चरण लिख रहे स्नेह-इतिहास।’

गति का यह निश्चित क्रम और गन्तव्य के प्रति यह अटल धारणा, उनके पथ को प्रशस्त करने में सफल है, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की चरम साधना, विकास की सीमातीत भावना का वह स्वर बहुत ही स्पष्ट और सजीव है, जो युगों से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एक मात्र साधन रहा है और कला की, काव्य की यही चरम सार्थकता है।

महादेवी का काव्य-दर्शन

मानव-जीवन वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का

—‘प्रसाद’

जीवन की धारा में विरह-मिलन के इस ज्वार-भाटे को इस नैसर्गिक स्वरूप से ग्रहण करने में ही काव्य का स्वरूप निहित है। हम जीवन को ‘अहम्’ अर्थात् ‘मैं’ से मुक्त पाते ही हैं, पर ‘मैं’ की संज्ञा को छोड़कर और क्या है—इस विषय में मनुष्य सदैव अनिश्चित रहा है। हाँ, सौन्दर्यबोध की प्रतिभा के द्वारा कलाकार एक ऐसी अवस्था में अवश्य पहुँच जाता है, जहाँ से उसे पार्थिव सौन्दर्य की सीमा पार करके कुछ उस पार के सौन्दर्य की विद्युच्छटा दीखने लगती है—जैसा कि फ्रांस के सौन्दर्य-शास्त्री प्लावर्ट ने कहा है—‘कलाकार पार्थिव सौन्दर्य की चोटी पर खड़ा होकर अपने दिव्य-चक्षुओं से इस पार्थिव के परे के सौन्दर्य की तस्वीर खींचने लगता है; उसकी भावनाओं की पृष्ठभूमि पर इस परम् सौन्दर्य के चित्र प्रथम धुँधले से स्पष्ट और फिर स्पष्ट से अलौकिक होने लगते हैं।’ इसी सौन्दर्यसाधना का चित्रण या स्वरूप-निर्दर्शन इटली का प्रसिद्ध कवि इस प्रकार करता है:—

“तुम्हारे सौन्दर्य को छू कर मेरी आत्मा किसी अद्भुत रहस्य से क्यों अभिभूत हो जाती है; तुम्हारी छाया का प्रभाव मेरी प्रचेतना पर यह अनोखा आलोक लेकर क्यों मँडराया करता है। मैं रो पड़ती हूँ—तुम क्यों मेरे आँसू पोछ कर मुझे हँसाते-हँसाते हला देते हो। मैं प्यासी आँखों में बार-बार क्यों एक परिचित सी रोशनी पाती हूँ—वह रोशनी, जिसमें तुम मेरा स्वरूप धारण करके आलोक वितरण किया करते हो।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य-साधना के इस अलौकिक प्रस्तर पर कलाकार की वृत्तियाँ रहस्योन्मुख हो जाती हैं। कलाकार के नेत्र संसार के सभी अपूर्ण सौन्दर्य को सम्पूर्ण सौन्दर्य की अपार्थिव इकाई से एकाकार कर देना चाहते हैं। आत्मा की इसी पूर्ण सौन्दर्य-दर्शन-लालसा और तज्जनित विरह-भावना की अभिव्यक्ति को आलोचकों एवं दर्शनशास्त्रप्रणेताओं ने रहस्यवाद की संज्ञा दी है। इस अपूर्ण और संपूर्ण के सम्मेलन की साध को अनुभव करने वाला कलाकार

निरंतर अपनी आत्मा में विछोह की वेदना अनुभव करता है—उसमें मिलन की उत्सुकता का हृदयरसगी ध्वनन गुंजित होता रहता है—

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात !

वेदना में जन्म करुणा में मिला आयात ;

अधु चुनता दिवस इसका अधु गिनती रात ;

जीवन विरह का जलजात !

देवी जी की इन प्रकार की जीवन के अलौकिक रहस्य से भरी-पूरी पंक्तियाँ काव्यगत दर्शन की बड़ी मार्मिक विशेषताएँ हैं। मनःशास्त्रविज्ञ 'डान' ने भी इसी महाविरह का अनुभव किया था :—

'तुम आई और मेरे जीवन की उर्वर घाटी में वायलेट के वे पंखों में गुंज रहा है।' उनकी तन्मयता एवं भाव-विदग्धता सराहनीय है। विश्व-साहित्य में तथा भारतीय साहित्य में विशेष कर वेदना एक करुणा के जितने भी विदग्ध सजल और कोमल भाव हैं, वे सब देवियों के ही कोमल कण्ठ से निःसृत हुये हैं। वर्जिल ने एन्ट्रोमेकी की प्रशंसा में सच ही लिखा है—'तुम जान्तिमय कोमलता की अनन्त सरिता हो, जिसकी माधुरी प्रत्येक गताब्दी की ललनाओं के कण्ठ का वरदान बना करती है। तुम जीवन के कोमल स्वर की उद्भूत वीणा हो, जिसका स्वर प्रत्येक कुमारी के मोहन-स्वर का जन्मदाता है।'

देवी जी की काव्यवाणी वर्तमान गताब्दी में वर्जिल के इस अमर वाक्य को चरितार्थ करती है।

मीरा की स्वर-लहरी में बहती हुई पुनीत गोमुखी गंगा हिन्दी काव्य-प्रदेश की असंख्य उपत्यकाओं में से बहती चलती आ रही थी—देवी जी की कविता के मर्मस्थल में झँकने मात्र से ही ऐसा प्रतीत होता है मानों वह सँकरी गंगोत्री धारा समभूमि का व्यापक हृदय पाकर अपनी व्यापकता में विस्तार पा गई हो। हिन्दी की सन्धि-सन्धि में प्रवेश करके इस पुनीत धारा ने जीवन की उच्छृंखल भावनाओं एवं विपन्न मनोवृत्तियों में जीवन की सात्विक गहराई और आत्मा की चिरन्तन ऊर्ध्वमुखरता सींच दी है, जीव और प्रकृति, जड़ और चेतन दोनों रागात्मक सहानुभूति के स्पर्श से करुणा की समानता में एकाकार हो गये हैं :—

सजनि मैं इतनी करुण हूँ

करुण जितनी रात

सजनि मैं उतनी सजल

जितनी सजल वरसात ।

जिस तरह 'आल्पस्' पर्वत की उत्तुंग-प्रस्थिता करुणा के चरणों में 'पेट्रार्क' विह्वल हो चेतनाशून्य हो गया था; और उसके मुख से निकल पड़ा था:—

“हे आत्म-विभूतिमय करुणा ! तुम्हारे उस महान कलेवर से विह्वड़ा मेरा यह आँख से टपकता आँसू भी तो है ! क्यों नहीं इसे अपनी महानता के साथ एकात्म कर लेती हो।”—उसी प्रकार देवी जी की अन्तरात्मा भी महान विभूति हिमालय की पुतीत स्पर्शता से मुखरित हो उठती है:—

मेरे जीवन का आज सूक,

तेरी छाया से हो मिलाप।

तन तेरी साधकता छू ले,

मन ले करुणा की थाह नाप।

प्रत्येक धर्म की संस्थापना और विकास के मूल में जीवन की अन्तर्भूत वेदना की सचेतन शक्ति है। प्राणी मात्र की वेदना के सजल स्वरों को छूकर करुणालय शाक्य मुनि की आत्मा-सत्ता काँप उठी; जीवधारियों का चोला पहने हुए जब असंख्य आत्मार्पित अपनी चेतना में कलुषित हो रहे थे तब ईसा का बूँद-बूँद रक्त बलिदान की साधना के लिए मचल उठा था—इस वेदना की अनुभूति में ही जीवन की उच्चता, आत्मा की विजय छिपी है। इसके वास्तविक एवं आन्तरिक रहस्य को जानने वाला साधक जानता है कि इस वेदना में जलाने वाली ज्वाला नहीं है; वरन् आत्म-गहनता की शीतलता है:—

दीप सी जलती न जो तो

सजलता रहती कहाँ ?

‘ट्रेजेडी’ के जन्मदाता महान् नाटककार ने इसी भाव को इन शब्दों में बड़े ही काव्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है:—

मैंने विष की इस अमरता का प्याला पी लिया है,

इसका एक-एक घूंट मेरे होठों पर—

संसार की नश्वरता में चिरन्तन काल तक

संजीवन भरने वाली

अमर रागिनी का स्वर

छोड़ गया है—

जिसकी मधुरता से आज ‘एस्काइलस’ मधुर है,

यूनान सजल है, विश्व सत्य है!”

देवी जी का जीवन-दर्शन अपने निरपेक्ष स्वरूप में भगवान बुद्ध की अनन्त करुणा की भावना से प्रस्फुटित होता है। बुद्ध की करुणा में प्राणी मात्र की आत्मा

का क्रन्दन-स्वर है। देवीजी ने इसको अपनी सीमित परिधि में अवतरित करके काव्यगत वेदना का असीमित स्वरूप दिया है। वास्तव में देवी जी का यह दर्शन जीवन की इस रूप में व्याख्या की अनन्त सत्ता का स्पर्श नहीं करता है, किन्तु उसमें काव्य की चेतना ने आकर कोमल माधुर्य की सरसता को जितनी गहराई तक सींचा है, वह इतनी गुलभता से कहीं प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसा होना आवश्यक एवं स्वभावतः भी था; क्योंकि आध्यात्मिक जीवन का दर्शन अपनी ज्ञान प्रचेतना से परिपूर्ण रहता है; और काव्यमय जीवन का सौन्दर्य एवं दर्शन अपनी अनुभूति और भावना प्रचेतना में—अतः कवि के दर्शन में माधुर्य की जो व्यापक लहर पाई जाती है, वह अध्यात्म-दर्शन की सुन्दर सड़क से अधिक मनोहारिणी एवं सुखद होती है। 'रश्मि' की भूमिका में देवी जी ने दुःख के विषय में स्वयं ही अपने विचार प्रकट किए हैं:—

“दुख मेरे समीप जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य गुल चाहें हमें मनुष्यता की पहिली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर अधिक उर्वर बनाये दिन नहीं गिर सकता।” दुःख विषयक अपनी इसी दार्शनिक धारा में देवीजी की कविता की नीका प्रवाहित है—जिसमें भावना की कोमलता प्रतिभा का आत्म-वेदनामय प्रकाश है:—

रजत रश्मियों की छाया में धूमिल घन सा वह आता
 इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता
 उसमें मर्म छिपा जीवन का
 एक तार अगणित कम्पन का
 एक सूत्र सब के बन्धन का
 संसृति के सूने पृष्ठों पर करुण काव्य वह लिख जाता

दुख के इस अनन्त दुकूल में, जिसमें जीवन अवगुंठित है, सुख का भी एक अपना स्थान है—पर एक ऐसा स्थान है, जिसको 'वज्रिल' के शब्दों में 'मदिरा के उन्माद' का-सा क्षणिक अवसर कह सकते हैं। देवी जी ने इस भाव को बड़े ही अर्थपूर्ण शब्दों में प्रकट किया है—

मृग-मरीचिका के पथ पर
 सुख आता श्वासों के पग धर

इस विश्व-परम्परागत दुःखवाद के अतिरिक्त देवी जी ने दुःख को एक और भी रूप में चित्रित किया है—यही उनके जीवन-दर्शन की विशेषता है। इस

विशेषता के अनुसार परमात्मा भी वेदना को अधिक दुलराता है, वनिस्वत सुख और वैभव के। विश्व-कवि टैगोर ने ठीक ही कहा है :—

आज मुझे अनुभव हुआ कि तुम मेरे इतने क्यों
निकट हो—

मुझे मालूम हो गया :—

तुम मेरी वेदना को प्यार करने आये हो !

बालक की निर्दोष आँखों के

मोती तुम्हें इतने प्यारे लगते हैं—

मुझे तो सचमुच अभी तक

नहीं ज्ञात था—जानता न था !

देवी जी की काव्य-वीणा से भी इसी स्वर का नाद वज रहा है :—

करुणामय को भाता है

तम के परदे में आना,

हे नभ की दीपावली,

क्षण भर को तुम बुझ जाना।

वस्तुतः महादेवी जी के दर्शन-सिद्धान्त के अनुसार जीवन में दुःख की स्थिति ही अधिक स्थायी एवं व्यापक है; और मानव की आत्मविरक्ति दुःख की सीमा में ही निवास करती है। किन्तु उनका मानव-जीवन में सुख का स्वरूप-निदर्शन भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वियोग की व्यापकता और उसकी विकसित स्थायी सत्ता मानव मनोवृत्तियों को अमर साधना की ओर मोड़ देती है; जैसा कि शेख 'सादी' ने एक स्थल पर लिखा है :—

'तुम्हारे विरह की पीड़ा में कितना सुख था

उसी के घूँट पी-पीकर तो मैं जी रहा था

इस अमर उन्माद को आज तुम छीन रहे हो

तो—यह बताते जाओ मैं सुखी कैसे रहूँगा ?'

विरह अपनी आन्तरिक अनुभूति जब प्रेमी के हृदय-पट पर खींच देता है तब वह प्रेमी की सबसे प्रिय वस्तु हो जाती है। देवी जी ने इसी भाव का बड़ी सुन्दरता से चित्रण किया है :—

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि मधुर मधु की यामिनी सी !

सजनि अन्तर्हित हुआ है आज मैं धुँधला विफल कल

हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह से मिल

आज है निःसीमता लघु प्राण की अनुगामिनी सी !

अथवा

विरह का युग आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
सुख दुःख में कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा

मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।

भावना के जगत में आत्म-सत्ता के विकास के लिए तीन प्रमुख सोपान हैं—
पहला मानव-प्रेम, दूसरा विश्व-प्रेम और तीसरा सर्वात्म-प्रेम। देवी जी ने अपनी
उपर्युक्त कविता में इस मध्यवर्ती सीढ़ी का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। इस
विश्व-प्रेम की घाटी के उस पार की भूमि पर सर्वात्म-प्रेम की झंकी है, जहाँ पहुँचने
के लिए एक बार अपनी तन्मयता में 'निराला' का हृदय उत्क्रान्त हो उठा था :—

हमें जाना है जग के पार
जहाँ नयनों से नयन मिलें
ज्योति के रूप सहस्र खिलें
बहती है जहाँ सदा नवरस धार
हमें जाना है जग के पार—'परिमल'

यह तो एक स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है कि मनुष्य अपनी भावनाओं के अनुकूल ही
संसार का स्वरूप अपने मन में स्थिर करता है; फिर कलाकार तो प्रतिक्षण साँसों
में ही नहीं बरन् भावनाओं में जीता है; अतः उसके लिए ऐसा करना और भी
उचित है—स्वाभाविक है। सत्य में असत्य, सुख में दुःख, प्रकाश में अन्धकार की
जो प्रक्रियायें मनुष्य जीवन में देखता है, वे सब उसके चंचल मन की अस्थिर द्विविधा-
मयी प्रवृत्ति के ही फल हैं—अन्यथा सृष्टि की आन्तरिक परिस्थिति में, जगत
के मूल रूप में तो सुख-दुःख एक ही वस्तु के दो नाम मात्र हैं। मानव-जीवन की
साधना यहाँ पहुँच कर 'सुखदुःखे समे कृत्वा' वाली हो जाती है। देवी जी ने
इसी को इस प्रकार चित्रित किया है :—

चिन्ता क्या है निर्मम
बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अंधेरा।

हो गई आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले
आज वर दो मुक्ति आवे बन्धनों की कामना ले।

और

रंगमय है देव ! दूरी

छू तुम्हें रह जायगी यह चित्रमय क्रीड़ा अधूरी,
 दूर रह कर खेलना पर मन न मेरा मानता है;
 सो रहा सब विश्व पर प्रिय तारकों में जागता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देवी जी की काव्यधारा अपने अन्तराल में जीवन के गम्भीर तत्वों से अनुप्राणित संगीत छिपाये हुए है, जो एक आत्मसाधना के स्वर का ही श्रीफल हो सकता है—जो केवल ऐसी ही रागिनी हो सकती है, जहाँ आत्मा के 'सम' में जीवन का तार-तार डूब-सा जाता हो। सब से बड़ी महत्वपूर्ण बात इसमें यह है कि हमारी सांस्कृतिक दार्शनिक विचार-धारा का अपने समयानुकूल नवीन रूप में बड़ा ही मार्मिक निदर्शन करती है। इसी से हम कह सकते हैं कि देवी जी की कविता आधुनिक काल में आर्य सांस्कृतिक क्षेत्र की एक भावधारा निर्दिष्ट करने वाली है और उसमें उतनी ही अमरता है, जितनी हमारे अतीत-कालीन सन्तों की वाणियों में थी।

“हमारी संस्कृति के हिमालय से जीवन-दर्शनी सरिताओं के अनेक पुनीत स्रोत उद्भूत हुए हैं, महादेवी का दर्शनस्रोत भी उनमें से एक है।” उनके काव्य का प्रत्येक पाठक इसको अपनी हार्दिक अनुभूति से कह सकता है; क्योंकि उनकी कुछ पंक्तियाँ तो उस सत् चित्, आनंद की उज्ज्वल स्पष्ट झाँकी-सी प्रतीत होती हैं, जिनके द्वारा संसार भर को उपासना का सोपान सुगमता से सुलभ हो सकता है। काव्य की भव्य भावनाओं की अभिव्यक्ति भाषा की मधुरिमा में और भी प्रभामयी हो उठती है, फिर देवी जी ने तो काव्य में भावों के संगीत के साथ-साथ भाषा में भी संगीत-स्वर का सामंजस्य स्थापित किया है। इन्हीं गुणों तथा विशेषताओं के कारण देवी जी की कविताएँ सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक स्वरूप पाती जा रही हैं और कवित्व की यही व्यापकता एवं सार्वभौमिकता ही किसी कवि-कृति का सफल साधन, सुफल और सौन्दर्य है।

विचार-गाम्भीर्य, मधुर-संगीत, कोमल शब्द-विन्यास, भावुकता तथा मार्मिकता एवं सत्य की सनातन खोज उनकी कविताओं के प्रमुख प्रसाधन हैं।

महादेवी की साहित्य-साधना

महादेवी जी आधुनिक हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद की एक मात्र सफल कवयित्री हैं। आध्यात्मिक अनुभूतियों की मधु-स्निग्ध रसमयी सजल अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है। सौन्दर्य इसका साधन और सत्य इसका साध्य है। इस काव्यादर्श का चरम उत्कर्ष हमें महादेवी जी के गीतों में प्राप्त होता है। यों तो रहस्यवाद का मूल रूप हमें वैदिक काल में मिलता है, परन्तु उसका आधुनिक रूप कई दृष्टियों और वृत्तियों से अधिक मनोरम एवं मर्मस्पर्शी है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों का आधार-विषय रहस्यमय परमतत्त्व की उपलब्धि ही है, पर जहाँ वैदिक रहस्यवाद अपने क्षेत्र-विस्तार के लिए चिंतन तथा तर्क-बुद्धि का सहारा लेता था, वहाँ आधुनिक रहस्यवाद भावना और अनुभूति का सम्बल ग्रहण करता है।

परमतत्त्व के आध्यात्मिक चिंतन और तर्क-बुद्धि की नीरसता से अवगत हो कर और उससे ऊँच कर ही उपनिषदों के दार्शनिकों को कहना पड़ा होगा—

“नेषामतिः तर्केणापनीया”

अद्वैतवाद भारतीय वेदान्त-दर्शन का सब से मान्य सिद्धान्त है। इसके अनुसार ब्रह्म ही एक परम सत्ता है। जीव और ब्रह्म में कोई तात्त्विक भेद नहीं। जो भेद हमें दिखाई पड़ता है, वह मायाजन्य मूलक है। माया का जब ज्ञान से निराकरण हो जाता है, तब जीव स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है। उपनिषदों ने जब इस ज्ञान-गम्यतत्त्व के बोध में भावों तथा अनुभावों की प्रतिष्ठा की तभी से भावात्मक रहस्यवाद की नींव पड़ी, जो अपनी सम्पूर्ण दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ काव्य का विषय बन कर हमारे हृदय-राग का भी अधिकारी बना। ज्ञान-विज्ञान का प्रायः प्रत्येक निर्णय हमारे अनुभव की स्वीकृति लेता चलता है, अन्यथा वह हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं बन पाता। दर्शन का संबंध मस्तिष्क से और अनुभव का हृदय से होता है। इसीलिए भावात्मक रहस्यवाद में उस परमतत्त्व की अभिव्यक्ति अनुभूतिमूलक होती है। कहना न होगा कि महादेवी जी का रहस्यवाद भी अनुभूतिमूलक ही है—

आकुलता ही आज, हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य, द्वैत क्या कैसी बाधा

खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं,
प्रिय पथ के वे शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं।

दीपशिखा की भूमिका में महादेवी जी ने लिखा है—“हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है, जो इन्द्रियज्ञान-जन्य ज्ञान-सा अनायास पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार पर सत्य की तुलना उस आकाश से की जा सकती है, जो ग्रहण-शक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्द गुण नहीं व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस संस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देने वाला सौन्दर्य-बोध भी सहज कर देता है।

“जैसे रूप, रस, गंध आदि की स्थिति होने पर भी करण (इन्द्रिय) के अभाव या अपूर्णता में कभी उनका ग्रहण सम्भव नहीं होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किए जाते हैं, वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के संस्कार की माया और उससे उत्पन्न ग्रहण-शक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहने वाले युग के सामने यही निश्चित तर्क क्रम से स्वतंत्र ज्ञान रहा।”

इसी आत्मानुभूति के बल पर कवयित्री ने साहस के साथ कहा है—

जग अपना भाता है।
मुझे प्रिय पथ अपना भाता है!
ये साँसें दे हँस कर सोते,
वे दीपित दृग निशिभर रोते,
तारों से सुकुमार दृगों का
कब टूटा नाता है?
हास में आँसू ढल जाता है।



यह सागर का चंचल छौना,
नाप शून्य का फोना फोना,
पढ़ भू का संकेत
धूलि में मोती बन जाता है।
रूप का अम्बर फैलाता है।



पहुँच न पातीं जग की आँखें,
राहत पातीं मन की पाँखें,

जीवन को उर ओर
स्वप्न-शिशु पल में पहुँचाता है।
बिना पय ले जाता लाता है।
मुझे प्रिय पय अपना भाता है!

स्पष्ट है कि अनुभूति की इस व्यापकता को हमारा मन, हमारी इन्द्रियां और हमारी बुद्धि सम्पूर्णतया कदापि नहीं स्पर्श कर सकती। हमारे स्वयं जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है। इसी कारण काव्य में कला का उत्थान इस सीमा तक सम्भव हो सका, जहाँ से वह ज्ञान को सहायता और भाव को विस्तार देने में सहज ही सफल हो सकी। आशय यह कि काव्य में बुद्धि हृदय (भाव) से अनुशासित रह कर ही सत्रियता पाती है। इसीलिए कवि का दर्शन न तो कभी किसी प्रकार की बौद्धिक तर्क-प्रणाली का शिलान्यास करता है और न किसी विशेष विचार-पद्धति की ही स्थापना करता है। कवि का दर्शन जीवन के प्रति उसकी अडिग आस्था का ही स्वरूप होता है। महादेवी जी ने जैसे अपने ही काव्य को लक्ष्य कर के लिखा हो—‘कवि का वेदान्त ज्ञान जब अनुभूतियों से रूप, कल्पना से रंग और भाव-जगत से सौंदर्य पा कर साकार होता है तब उसके सत्य में जीवन का स्पन्दन रहेगा, बुद्धि की तर्क-शृंखला नहीं। अतः कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवन-व्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते हैं।’

मानवेतर प्राणियों की अभिव्यक्ति देह धर्म को ले कर चलती है, किन्तु मानव ने उसे अपने मन की ओर उन्मुख कर दिया है। यह प्रक्रिया उसकी मानवीयता का प्रथम सोपान है। इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के पाषाण से अन्तर की गंभीरतम जिज्ञासा के स्फुरण से मनुष्य ने अनुभव किया कि वह केवल व्यक्तिगत प्राणी ही नहीं, वह विश्वगत प्राणियों का एकात्मक भी है। वस्तुतः अपनी व्यक्तिगत इकाई में वह विश्वगत सत्ता का प्रतिनिधि भी है। इस बोध से वह सहज ही अपनी दैहिक-भौतिक सीमा से आगे बढ़ कर मानसिक एवं आत्मिक सीमा के प्रदेश में प्रवेश करता हुआ वृहत् मानवी भूमिका में उपस्थित होता है। यहाँ पहुँच कर उसे आभास होता है कि वह प्रकृति तथा स्वभाव, प्राण और आत्मा, व्यक्ति और समष्टि का एक ऐसा सामंजस्य है, जो पृथ्वी का पुत्र और स्वर्ग का उत्तराधिकारी दोनों है। इसका फल यह होता है कि आत्मप्रकाश करने की प्रत्याशा और प्रयास में और संकल्प में वह किसी प्रकार की सीमा स्वीकार नहीं करना चाहता। जीवन को समग्र रूप से देखने तथा ग्रहण करने की यह आन्तरिक प्रेरणा मानवीय व्यवितत्व की आत्मप्रतिष्ठा तथा उसके उत्थान का स्वाभाविक लक्षण है। आत्मविश्वास का यह स्वर महादेवी जी में अत्यन्त प्रखर है—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
 घरे ले छाया अमा बन,
 आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन,
 और होंगे नयन रूखे,
 तिल बुझे औ पलक सूखे,
 आर्द्र चितवन में यहाँ
 शत विद्युतों में दीप खेला !

अन्य होंगे चरण हारे,
 और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
 दुखव्रती निर्माण उन्मद
 यह अमरता नापते पद
 बाँध देंगे अंक-संसृति—
 से तिमिर में स्वर्ण बेला ।

दूसरी होगी कहानी,
 शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी,
 आज जिस पर प्रलय विस्मृत,
 मैं लगाती चल रही नित,
 मोतियों की हाट औ'
 चिनगारियों का एक मेला ।

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला ।

श्री विनयमोहन शर्मा ने ठीक ही लिखा है—

“छायावाद युग ने महादेवी को जन्म दिया और महादेवी ने छायावाद को जीवन । यह सच है कि छायावाद के चरम उत्कर्ष के मध्य में महादेवी ने काव्य-भूमि में प्रवेश किया और छायावाद के सृजन, व्याख्यान तथा विश्लेषण द्वारा उसे प्रतिष्ठित किया । छायावाद को उनसे अधिक समर्थ अधिकारी आलोचक आज तक नहीं मिल पाया, इसमें सन्देह नहीं । छायावाद और रहस्यवाद की चर्चा करते हुए उन्होंने लिखा है—

“छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिए, जो प्राचीन काल से विम्व-प्रतिविम्व के रूप में चला आ रहा था और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान पड़ती थी । छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई । अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जल कण

और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघु तृण और महान वृक्ष, निविड़ अंधकार और उज्ज्वल विद्युत रेखा, मानव की लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न हो कर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर हैं। जब प्रकृति की अनेकरूपता में, परिवर्तन-शील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका, एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके ससीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक-एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व होकर जाग उठा। परन्तु इस संबंध से मानव-हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी। क्योंकि मानवीय संबंधों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव नहीं दूर होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन करना इस काव्य का (छायावाद का) दूसरा सोपान बना, जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।”

वस्तुतः छायावाद बाह्य जगत् और व्यक्ति के आन्तरिक जगत् में एक ही चेतना के साम्य को स्थापित कर के शान्त हो जाता है, जब कि रहस्यवाद जगत् के और अपने चेतन को एक ही अखण्ड असीम चेतन का अंश मान कर उससे तादात्म्य की सख्यभाव की, परम ऐक्यभाव की स्थापना करता है। रहस्यवादी सारी गोचर प्रकृति को समस्त विश्व को एक ही अखण्ड असीम चेतन सत्ता ब्रह्म का प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हुए उससे एक आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ता है। प्रकृति के साथ तादात्म्य की भावना का अभिव्याजन महादेवी जी की कविता में बहुत ही मार्मिक ढंग से हुआ है—

हे चिर महान !

यह स्वर्ण रश्मि छू श्वेत भाल,

बरसा जाती रंगीन हास,

सेली बनता है इन्द्रधनुष,

परिमल मल मल जाता बतास,

पर रागहीन- तू हिम निधान !



दूटी है तेरी कब समाधि,

झंझा लौटे शत हार-हार,

बह चला दृगों से किन्तु नीर,

सुनकर जलते कण की पुकार,
 सुख से विरक्त दुख में समान !
 मेरे जीवन का आज सूक,
 तेरी छाया से हो मिलाप,
 तन तेरी साधकता छू ले,
 मन ले कण्ठा की थाह नाप,
 उर में परबत दृग में वितान ।

हिमालय के साथ इस तादात्म्य की भावना से स्पष्ट है कि रहस्यवादी कवि प्रकृति तथा अपनी आत्मा को एक ही परम चेतन सत्ता का अंशभूत मानता है। 'प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन' में भी तादात्म्य की मनोरम अभिव्यक्ति है।

प्रकृति के साथ मानव का चिरकालिक साहचर्य उसे नाना प्रकार की प्रेरणायें देने में समर्थ है। महादेवी जी तो उसे अपनी सखी-सहचरी के रूप में देखती हैं। प्राचीन कवियों ने प्रकृति को माया का प्रतीक माना है। किन्तु महादेवी उसे ब्रह्म-मिलन में बाधक न मान कर सहायक ही मानती हैं। कभी वह उन्हें मनाने आती हैं, तो कभी उनके प्रियतम का सन्देश ले आती हैं—

नव इन्द्रधनुष-सा चीर, महावर अंजन ले,
 अलि गुंजित मीलित पंकज, नूपुर खनझुन ले,
 फिर आई मनाने साँझ, मैं बेसुध मानी नहीं।



जाने किस जीवन की सुधि ले
 लहराती आती मधु बयार ।

महादेवी जी के प्रकृति-चित्रण की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह अपने और उसके बीच सख्यभाव प्रकृति प्रेम के कारण उसमें एकात्मभाव से तल्लीन दिखाई पड़ती है। चूँकि दोनों ही प्रिय-वियुक्त विरह-व्यथिता हैं, वस्तुतः दोनों में सहानुभूति भी अनिवार्य-सी हो उठी है। दोनों में जैसे कोई अन्तर नहीं रह गया—

फँलते हैं सांध्य नभ में भाव ही मेरे रंगीले,
 तिमिर की दीपावली है, रोम मेरे पुलक गीले ।

वियोगिनी पंकज कली का चित्र देखिये—

पंकज कली ।

मधु से भरा विधुपात्र है,
 मद से उनींदी रात है,
 किस विरह में अवनत मुखी

लगती न उजियाली भली।

पंकज कली । पंकज कली।

महादेवी जी के काव्यानुशीलन से पता चलता है कि सर्वादात्मक प्रकृति-चित्रण में उन्हें सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि वह उनकी भावनाओं के अनुकूल पड़ती है। ऊषा, सन्ध्या, प्रभात, रात, वसंत, वर्षा, वादल, विजली, आकाश, धूल आदि सभी उनके काव्य में जैसे सजीव व्यक्तित्व से स्पन्दित हो उठे हैं।

उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति होने के कारण महादेवी जी के काव्य में जगत को पर्याप्त प्रतिष्ठा मिली है। मध्ययुगीन रहस्यवाद में संसार को क्षण-भंगुर, माया तथा मिथ्या कह कर उपेक्षित किया गया था। परन्तु महादेवी जी के रहस्यवाद में अस्तित्व मात्र के प्रति ममता और सौहार्द्र का सहज स्वाभाविक निदर्शन पाया जाता है—

सब आँखों के आँसू उजले सब के सपनों में सत्य पला।

नीलम मरकत के सम्पुट दो

जिनमें बनता जीवन मोती,

इसमें ढलते सब रंग-रूप

उसकी आभा स्पन्दन होती,

जो नभ में विद्युत मेघ बना वह रज में अंकुर हो निकला।



क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार,

रहने दो हे देव अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।

अब हम कवयित्री की मूल भाव-भूमि में प्रवेश करने का प्रयत्न करेंगे। महादेवी जी ने केवल गीत ही लिखे हैं और गीत कवि की व्यक्तिगत अनुभूति पर आश्रित होता है। इसलिए उसे अपनी संवेदनीयता के लिए व्यक्ति की भाव-भूमि की चरम अपेक्षा रहती है। अपने गीतों के विषय में उन्होंने लिखा है—

“मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गीतों की धरती पर पले हैं। काव्य की ऊँची-ऊँची हिमालय श्रेणियों के बीच में गीत-मुक्तक एक सजल कोमल मेघ-खण्ड है जो न उनसे दब कर टूटता है और न बँध कर रुकता है, प्रत्युत हर किरण से रंग-स्नात हो कर उन्नत चोटियों का शृंगार कर आता है और हर झोंके पर उड़-उड़ कर उस विशालता के कोने-कोने में अपना स्पन्दन पहुँचाता है।” वास्तव में उनके गीत ऐसे ही हैं।

रहस्यवाद जैसी आत्म-निष्ठ काव्यधारा के लिए गीत का रचना-विधान ही उपयुक्ततम है। इन गीतों का मूलाधार आत्मानुभूत अखंड परम-चेतन है, पर

वह कवयित्री की प्रणय-प्राण मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियों से इस प्रकार घुल-मिल गया है कि उसकी उच्च अलौकिक स्थिति भी लोकमान्य हो गई है। निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का ऐसा सन्तुलन इन गीतों में पाया जाता है कि हृदय खिल उठता है। प्रेमियों का सूक्ष्म-कोमल संबंध-पट विशेषतः सुकुमार भावना-सूत्रों के ताने-वाने से ही बुना जाता है, जिसके कारण उसमें अपार्थिव मृदुता और आलोकपूर्ण स्निग्धता का समावेश हो जाता है।

गीत हिन्दी-साहित्य के लिए कोई नई वस्तु नहीं। हमारे साहित्य में गीतों की एक सुव्यवस्थित परम्परा बहुत पहले से चली आती है। वेद-गीतों से ले कर सन्तकाव्य और विद्यापति से लेकर मीरा तक गीतों की शृंखला हम जोड़ सकते हैं। भारतेन्दु ने भी गीत-रचना की है, पर महादेवी तक पहुँच कर गीतों ने अपने विकास की चरम सीमा छू ली है। इसे आचार्य शुक्ल तक ने स्वीकार किया है।

“गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई है वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रवल प्रवाह और कहीं मिलता है, न हृदय की ऐसी भाव-भंगी, जगह-जगह ऐसी ढली हुई और ऐसी अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।” गीता का भावना ऐक्य, तीव्र अनुभूति, भाव गाम्भीर्य, संगीतात्मक प्रवाह, मनोज्ञता और मनोरमता आदि सभी गुण महादेवी जी के गीतों में घनीभूत हो उठे हैं। वास्तव में काव्य, संगीत और चित्रकारी महादेवी जी की गीत-त्रिवेणी में अवगाहन से प्राण, मन और आत्मा पुलक से भर जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं। जैसे उन्होंने अपने गीतों के ही विषय में लिखा हो—

मेरा पग पग संगीत भरा,
 स्वासों से स्वप्न पराग झरा,
 नभ के नव रंग बुनते डुकूल,
 छाया में मलय वधार पली,
 मैं नीर भरी दुख की बदली।

सौरभ भीना झीना गीला,
 लिपटा मृदु अंजन सा डुकूल,
 चल अंचल से झर झर झरते,
 पय में जुगनू के स्वर्ण धूल,
 दीपक से देता बार बार
 तेरा उज्ज्वल चितवन विलास।
 रूपसि तेरा घन केश पाश।

गीतों के कला-सीष्ठ और भावों के मार्दव का मनोहारी मिश्रण महादेवी जी के संगीत-विधान में मिलता है। ध्वनियों के लयात्मक संगठन से उद्भूत संगीत महादेवी जी के गीतों की निजी विशेषता है। ध्वनियों का ऐसा संगठन अत्यन्त दुर्लभ है :

शृंगार कर ले री सजनि।
नव क्षीर निधि की उर्मियों से
रजत झीने मेघ सित,
मृदु फेन मय मुपतायली से
तैरते तारक अमित
सखि। सिहर उठती रश्मियों का
तुहिन अवगुंठन अवनि।
हिम-स्नात कलियों पर जलाये
जुगनुओं ने दीप से,
ले मधु पराग समीर ने
वन-पथ दिये हैं लीप से
गाती कमल के कक्ष में
मधुगीत मतवाली अलिनि।



कनक से दिन मोती सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।

इन कलात्मक गीतों के पीछे कवयित्री की वह रसात्मकता काम कर रही है, जो किसी भी विरहणी प्रेमिका के लिए सहज ही उपलब्ध है। महादेवी जी के प्रायः सभी गीतों का विषय उनके अर्न्तजगत का प्रणय-संकल्प और उससे प्रस्फुटित भावनायें हैं। प्रेम जीवन की सब से सरस, व्यापक तथा तीव्र वृत्ति है। रहस्यवाद का प्रमुख ध्येय प्रसुप्त आत्मज्योति को जगाना है। इसको जगाने वाला प्रमुख तत्व प्रेम है। यह प्रेम एक ही जन्म की साधना से नहीं जगता, इसके लिए जन्म-जन्मान्तर की साधना अपेक्षित है। रहस्यवादी का प्रियतम सगुण-निर्गुण दोनों रूपों में अपनी उपस्थित देता है। निर्गुण इस अर्थ में कि लोक में वह उस रूप में प्रतिष्ठित नहीं होता, जिस रूप में रहस्यवादी उसे जानता या मानता है। सगुण इसलिए कि वह रहस्यवादी के हृदय में भूर्तिमान है। वस्तुतः रहस्यवादियों का निर्गुण उपास्य भावमय होने के कारण प्रेम करने योग्य, प्राप्त करने योग्य, सजीव और वैयक्तिक होता है। काव्य में रहस्यवाद के उपास्य की निर्दिष्ट विशेषताएँ ये हैं—

१. वह निर्गुण होते हुए भी—
२. प्रेम करने योग्य है
३. प्राप्त करने योग्य है
४. सजीव है
५. वैयक्तिक होता है।

रहस्यवादी का भाव-प्रवण कोमल हृदय सौन्दर्यप्रिय होता है और वह प्रकृति के सौन्दर्य को देख कर उसके स्रष्टा परम सौन्दर्यवान के प्रति आकर्षित होकर उसके प्रेम में डूब जाता है। इसीलिए सौन्दर्य और प्रेम दोनों की रहस्यवाद में परम प्रतिष्ठा है, इस सौन्दर्य की साधना बहिर्मुखी प्रक्रिया से परिचालित होती है क्योंकि उसी निर्गुण का सौन्दर्य जीवन और प्रकृति में परिव्याप्त है, परन्तु प्रेम की साधना अन्तर्मुखी होती है। रहस्यवादी को इन दोनों प्रक्रियाओं का पथ पार करना पड़ता है। एक से वह सारे संसार में एकात्मता का अनुभव करता है और दूसरी से वह उस रहस्यमय सत्य की अनुभूति करता है। महादेवी जी के काव्य में इन दोनों का रासायनिक समन्वय हो गया है। सौन्दर्य का एक चित्र अवलोकनीय है—

तेरी आभा का कण नभ को
देता अगणित दीपक दान,
दिन को कतक राशि पहनाता
विधु को चाँदी सा परिधान,
तेरी महिमा की छाया-छवि
छू होता वारीश अपार,
नील गगन पा लेता घन सा
तम सा अन्त हीन विस्तार।

सुषमा का कण एक खिलाता
राशि-राशि फूलों के बन,
शत-शत झंझावात प्रलय—
बनता पल में भू-संचालन

संसार में शक्ति और सौन्दर्य का विधान उसी की परमचेतन शक्ति और आभा का प्रतिदान है। उसकी महिमा कण-कण में व्याप्त है। देवता अपना अमर लोक उसके चरणों पर निछावर कर देते हैं, रवि-शशि अपनी आभा उसकी आराधना में अर्पण कर देते हैं, उसके दिव्य चरणों पर अखिल सुषमा के साज लोट रहे हैं। करुणा के कोमल कपोलों पर मंदिर लालिमा उसी की देन है, उसका सहासमुख ही

अरुणोदय है। विश्व का सारा सौन्दर्य उसी का है। इसी परम तथा चिर सुन्दर के प्रति प्रणय-निवेदन महादेवी जी की काव्य-सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु है।

‘नीहार’ उनकी प्रथम काव्य-रचना है। उसकी प्रथम कविता से ही महादेवी जी की इस अलौकिक प्रणयानुभूति का पता मिलने लगता है।

निशा की धो देता राकेज
चाँदनी में जय अलकें रोल,
कली से कहता था मधुमास
वता दो मधु मदिरा का मोल।

झटक जाता था पागल वात
घूलि में तुहिन कणों के हार,
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार।

वसंत ऋतु की चाँदनी रात का चित्र है। जब चन्द्रमा ने निशा के कोश (अंधकार) को चाँदनी से धो दिया, चाँदनी फैल गई, वसंत (प्रेम का प्रेरक) कलियों में मधु मदिरा का (मस्ती का) उन्माद भर रहा था। उसी समय (वसंत की चाँदनी रात में) जीवन का संगीत (प्रेम) सिखाने वह प्रिय (परम चेतन) इस पार आया। इस गीत में प्रथम प्रणयानुभूति का आभास स्पष्ट है। प्राकृतिक सुपमा दर्शन तथा प्रकृति की समस्त सौन्दर्यमयी विभूतियों में परस्पर मधुर व्यापारों की प्रत्यक्षानुभूति से कवयित्री के हृदय में प्रणय-संवेदना की जो अनुभूति हुई, उसी का संकेत इस गीत में है।

अभिज्ञान शाकुंतल में महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त से कहलाया है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुकाशच निशम्य शब्दान्पर्युत्सुकी
भवति यत्सुखितोपिजन्तुः।

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्व भावास्तिराणि
जननान्तर सांहृदनि।

सुन्दर रमणीय दृश्यों को देखकर, मीठे शब्दों को सुन कर जब सुखी लोग भी उत्सुक या उदास हो उठे तब यह समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्म के प्रेमियों के जो संस्कार अर्न्तमन में बैठे हैं, वे अपने-आप जग पड़े हैं। वस्तुतः प्रकृति के मधुर व्यापारों के माध्यम से उसके कारण और उसके स्रष्टा परम सौन्दर्यवान के प्रति आकर्षण और प्रेम की प्रवृत्ति संस्कार संयुत और स्वभाविक ही है। वसंत की मंद और मन्त्रिण वयार के स्पर्श से जीवन तथा प्रकृति में निहित प्रेम-तत्व के सहसा मुकलित होने की बात सर्वमान्य है। अन्दर की प्रेम-स्रोतिस्विनी कब और

कैसे फूट पड़े, इसका कोई निश्चित विधान या विज्ञान नहीं। यों भी हमारे जीवन की मार्मिक प्रेरणाएं अन्तर्जगत से प्राप्त होती हैं और यह जगत एक ऐसी गहन गुफा के समान अज्ञात और रहस्यपूर्ण है कि उसके भीतर की अनंत व्यापकता और गहराई की नाप बाहर के सीमित इन्द्रिय-ज्ञान से सम्भव नहीं। इसी जगत के सत्य को व्यक्त करने के कारण काव्य-सत्य की व्यापकता और अधिक बढ़ जाती है। काव्य का सत्य मानस-सत्य है। क्योंकि वह मानव-हृदय की अनुभूतियों, भावों और विश्वासों को लेकर चलता है, अस्तु अविश्वास एवं विश्वास स्वयं सिद्ध है। हृदय में सुख-दुख, हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा, आशा-निराशा का उदय उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार प्राची में सूर्योदय। काव्य की वास्तविक, कसौटी यही भाव या प्रभाव है, इनके उद्भावक तथ्यों, व्यक्तियों, वस्तुओं और घटनाओं की ऐतिहासिक या वैज्ञानिक वास्तविकता नहीं।

मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि हमारे परिचित चेतन अनुभव तथा ज्ञान-विज्ञान के मूल में अनंत अवचेतन शक्तियाँ क्रियाशील हैं। जीवन को विकास एवं गति को व्यापकता देने वाले नितान्त गंभीर, नवीन और क्रान्तिकारी अनुभव, अभिनव सौन्दर्य का आकलन, शाश्वत सत्य का उद्घाटन इसी अन्तर्जगत के गर्भ से होता है।

महादेवी जी का काव्य आन्तरिक अनुभूतियों का उद्घोष है, मनुष्य की आत्मिक अभिव्यक्ति का उत्कर्ष और ऐश्वर्य है। उनकी आस्था है कि प्रत्येक वस्तु या प्राणी केवल प्रकृति का अंग ही नहीं, वरन् अपने आध्यात्मिक प्रभावों के कारण वह एक विराट और व्यापक चेतना का स्फूर्ति भी है। उसके इन दोनों रूपों को हृदयंगम किए बिना हम उसकी वास्तविक स्थिति का पता नहीं पा सकते।

वैज्ञानिक दृष्टि से पुष्प केवल पंखुरी, पराग, सौरभ तथा रस का समुदाय है, परन्तु हमारे अनुभव में वह सुन्दर भी है और हमारी भावनाओं का उत्प्रेरक भी। मनुष्य का अनुभव केवल ज्ञान तक ही सीमित नहीं, उसमें उसकी कल्पना, सौन्दर्य-बोध, भावना तथा आह्लाद, आनंद का भी समावेश रहता है, जो उसके जीवन का निकटतम तथा अभिन्न अंग है। यदि जीवन भावना शून्य हो जाय तो सारा संसार आकर्षण-विकर्षण शून्य निर्जीव आकृतियों का आजायबघर बन जायगा, इसमें सन्देह नहीं। अस्तु सत्ता की सम्पूर्ण उपलब्धि के लिए उसके दार्शनिक स्वरूप तथा उसके आध्यात्मिक प्रभाव का अध्ययन अनिवार्य रहेगा। इसी दृष्टिकोण के कारण पुष्प का सौन्दर्य हमारे जीवन को इस प्रकार रंग देता है, रसमय कर देता है कि यह नन्हा सा प्राकृतिक पदार्थ हमारे अक्षय आनंद का कारण और आधार बन जाता है। यही आनंद हमारी आत्मा का शाश्वत स्वरूप है, क्योंकि इसी आनंद-

भावना के अनुशीलन, मनन, भावन तथा अनुभव से हम आत्मा के स्वरूप को समझने में सफल होते हैं।

कहते हैं कि छद्मवेशी महादेव ने तपस्विनी पार्वती के पास उनकी परीक्षा लेने के अभिप्राय से जब शंकर के रूप, गुण और वय की निंदा की तब उमा ने उत्तर दिया—“ममात्र भावैक रसं मनः स्थितम्”। उनके प्रति मेरा हृदय एकमात्र भावों के रस में अवस्थित है। प्राकृतिक दृश्यों और व्यापारों में हमारे भावों को उद्दीप्त करने की आश्चर्यजनक क्षमता है। बुद्धि की तार्किक सूक्ष्मता के स्तर पर पहुँचने के पहले वैदिक ऋषियों की काव्य-शक्ति प्रबुद्ध हुई और वे असीम में, अनंत में विश्व के रहस्य का अन्वेषण करने लगे। अपनी उस भावात्मक स्फूर्ति में उन कवियों ने विश्व की सभी विभूतियों को एक ही सूत्र में ग्रथित पाया। आकाश में बिखरे हुए असंख्य तारों के पुंज, संसार पर उत्साह का अभिषेक करने वाली, नेत्रों को आनंद देने वाली, जागरण का सन्देश सुनानेवाली स्मितवदना उषा, अनंत आकाश को नापने वाले सूर्य, अगाध निर्मल जलराशि, वर्षा, आँधी, तूफान, मेघ-गर्जन, विजली की चमक-दमक आदि सब में उन्हें एक ही नियन्त्रण तथा नियम का अनुभव हुआ। दिन और रात, ऋतुओं के चक्र में उपस्थित होने वाले निश्चित वार्षिक परिवर्तन, पत्रों, पुष्पों एवं फलों के रूप में वनस्पतियों का नियमित विकास-क्रम देख कर उन्होंने अनुभव किया कि प्रकृति-नटी का कार्य-कलाप नियमित और निश्चित रूप से चलता है और इसमें एक व्रत का पालन करने की प्रकृति परिलक्षित होती है। धरती और आकाश के इस नियमित, अटूट और अडिग संबंध में सम्पूर्ण सृष्टि की आन्तरिक एकरूपता ने उन्हें यह भाव-बोध दिया कि सारे विश्व में एक निश्चित और व्यापक व्यवस्था है। कोई कुप्रबन्ध नहीं है, कोई अव्यवस्था नहीं है, वरन् एक नियमबद्धता है, नियमन है। सभी देवता इस नियम का बड़ी सावधानी से और बिना किसी प्रमाद के पालन करते हैं। विश्व की इस व्यवस्था को ऋग्वेद ने ‘ऋत’ की संज्ञा दी है। व्यवस्था से आगे बढ़ कर व्यवस्थापक की खोज में उन्होंने आदित्य ब्रह्म की अभिव्यक्ति की और मनुष्य की शरीरबद्ध अन्तरात्मा को उसी का अंश मूल माना।

वस्तुतः यह अनुभूत सत्य है कि आदि युग से लेकर आज तक बाह्य जगत्, सम्पूर्ण प्रकृति रात-दिन हमारे मन को नाना इंगितों, रूपों और भावों से स्पर्श करती रहती है, जिसके फलस्वरूप हमारे मन की रागिनी विभिन्न भावों के माध्यम में ध्वनित होती रहती है। मन के भीतर संचित अव्यक्त भाव ही किसी सुअवसर का आश्रय ले कर गीतों में संचरित हो उठते हैं—भावनालोक में ऐसी चेष्टाओं का अन्त नहीं, चेतन विज्ञान की यही सनातन भूमिका है—

जिस दिन नीरव तारों से, बोलों किरणों की अलकों,
 सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकों।
 जब इन फूलों पर मधु की पहली बूंदें बिखरी थीं,
 आँखें पंकज की देखी रवि ने मनुहार भरी थीं।
 दीपकमय कर डाला जब जलकर पतंग ने जीवन,
 सीखा बालक मेघों ने नभ के आँगन में रोदन।
 उजियारी अवगुंठन में विधु ने रजनी को देखा,
 तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ उनके चरणों की रेखा।

जिस दिन मौन तारों से किरणों की अलकों ने कहा कि तुम्हारी कोमल पलकों
 रात भर जगने से अलसाई हैं, अब तुम सो जाओ; जब फूलों पर मधु की पहली
 बूंदें बिखरी थीं, जब सूरज ने कमल की विनय-विमुग्ध आँखों को स्नेहभरी दृष्टि से
 देखा; जब रात भर जल कर पतंग दीपकमय हो गया; जब बालक की भाँति वादल
 ने रो दिया और जब चाँदनी के घूँघट के साथ चन्द्रमा ने रात को प्रेमपूर्वक देखा,
 तभी से मैं भी अपने प्रिय को खोज रही हूँ। इन्हीं परस्पर प्रीतिमय दृश्यों को देख
 कर कवयित्री के हृदय में अपने प्रिय को पाने की भावना जाग्रत हुई। तब से बराबर
 कवयित्री इस वियुक्त अन्तरात्मा की प्रेममयी व्यथा तथा इस व्यथा की मधुरता
 का चित्रण अपने गीतों में करती जा रही है। प्रेम की प्रायः समस्त अंतर्दशाओं और
 मनोभावों की मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हमें महादेवी जी के गीतों में मिलती है।

प्राकृतिक दृश्यों और उनके प्रेम-व्यापार की अनुभव-परिधि के भीतर कवयित्री
 को सुख-दुख दोनों ही दिखाई पड़े। एक ओर प्रकृति की चिर यौवन-सुषमा, जिसमें
 नीले कमलों पर हँसते हुए हिम-हीरक, सौरभ पी कर मदमस्त पवन, पराग और
 मधुपूर्ण वसंत, मकरंदपगी परियाँ, किसलय पर झूलते हुए अलि-शिशु, जल की कल-
 कल में घुलता हुआ विहगों का कलरव, चतुर्दिक् फैली अम्लान हँसी है। दूसरी ओर
 मुरझाई पलकों से गिरते आँसू, दुख का घूँट पीती ठंडी आहें, सन्तापों से झुलमते
 पतझर, शरीरपिंजर में बद्ध प्राणों का शुक, चिंता और आँसुओं का कोप लिये
 जर्जर मानव-जीवन। इस द्वन्द से प्रभावित कवयित्री का जीवन विह्वल हो उठा।
 वेदना के इस प्रारम्भिक रूप ने सहानुभूति को जन्म दिया और विश्व के दुखी प्राण
 स्वयं कवयित्री के प्राणों की प्रतिकृति से लगने लगे—

किरणों को देख चुराते, चित्रित पंखों की माया,
 पलकों आकुल होती थीं तितली पर करने छाया।
 जल मेघों को रोता था जब चातक का बालक मन,
 इन आँखों में करुणा के घिर-घिर आते थे सावन।

आत्मीयता और सहानुभूति ने उनके हृदय को एक स्वच्छ पारदर्शिता दे दी, उसे दर्पण की भाँति निर्मल बना दिया। उसे सभी के सुख-दुख अपने लगने लगे, इसी से दूसरों का आह्लाद भी विना मुग्ध किए न रह सका—

गर्जन के द्रुत तालों पर चपला का वेसुध नर्तन,
मेरे मन बाल शिखी में संगीत मधुर जाता बन।



स्मित ले प्रभात आता नित दीपक दे सन्ध्या जाती
दिन ढलता सोना बरसा निशि मोती दे मुस्काती।

लोक-जीवन और प्रकृति के साथ तादात्म्य करने के पश्चात् उन्हें आन्तरिक बोध तथा अनुभव हुआ कि यह सारा संसार उसी अज्ञात प्रियतम से उद्भूत हो कर भूलता-भटकता, साधना की विभिन्न सीढ़ियों पर चढ़ता अन्त में उसी में लीन हो जाता है—

सिन्धु की जैसी तप्त उसाँस दिखा नभ में लहरों का लास,
घात-प्रतिघातों की वह चोट अश्रुवन फिर आ जाती लौट।
बुलबुले मृदु उर के से भाव रश्मियों से कर कर अपनाव,
यथा हो जाते जलमय-प्राण उसी में आदि वही अवसान।

इस प्रकार अपने प्रियतम के पूर्ण परिचय से आश्वस्त कवयित्री अपनी अनंत युगव्यापी विरह-साधना में तल्लीन हो जाती हैं। इस अलौकिक प्रेम और अनुभूति पर आक्षेप करने वालों की धारणा पर आश्चर्य प्रकट करते हुए महादेवी जी ने जो उत्तर दिया है, वह पर्याप्त होना चाहिए—

जो न प्रिय यह जान पाती।

दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विधुता सी तरल बन ?
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिये हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?



मेघ पथ में चिह्न विद्युत वे गए जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सन्देश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती ?

मेरा विचार है कि काव्य के लिए कवि का साक्ष्य ही सर्वाधिक विश्वसनीय माना जाना चाहिए, न कि आलोचक की अपनी धारणाओं का आरोप।

जो भी हो महादेवी जी के रहस्यवाद में एक उनकी अपनी नयी उपलब्धि है, जो किसी भी प्राचीन तथा अर्वाचीन रहस्यवादी कवि में नहीं मिलती। प्राचीन काल से लेकर मध्ययुगीन रहस्यवाद तक उस परम सत्ता के प्रति साधकों ने, कवियों ने जो दीनता प्रकट की है, वह महादेवी जी में नहीं। उस परम तत्व की प्रणयिनी के अनुरूप उनमें आत्म-सम्मान और आत्मदीप्ति भी है—उन्होंने प्रिय के साथ प्रेयसी, असीम के साथ ससीम की महत्ता की अभिव्यक्ति भी की है—

उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन
उनमें अनंत करुणा है, मुझमें असीम सूनापन !
जिसकी विशाल छाया में जग बालक सा सोता है,
मेरी आँखों में वह दुख आँसू बन कर खोता है।
मेरी लघुता पर आती जिस दिव्य लोक को ब्रीड़ा,
उनके प्राणों से पूछो, वे पाल सकेंगे पीड़ा ?

यह स्वाभाविक ही है कि विरह-तप्त विरही के काव्य-चित्र भी दीप्तिवान् हों। अपनी वेदना में भी महादेवी जी उदात्त और गरिमाययी हैं—

मैं बनी मधुमास आली।

आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यासिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड़ आई री दृगों में सजनि कालिन्दी निराली।
रजत स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख-पिक ने अचानक मंदिर पंचम तान ली,
बह चली निश्वास की मृदु वात मलय-निकुंज पाली।



घिरती रहे रात।

न पथ रुंधतीं ये गहनतम शिलाएं,
न गति रोक पातीं पिघल मिल दिशाएं,
चली मुक्त मैं ज्यों मलय की मधुर वात।
न आँसू गिने औ न काँटे सजाये,
न पग चाप दिभ्रान्त उच्छ्वास खोये,
मुझे भेंटता हर पलक पात में प्रात।



और कहेंगे मुक्ति कहानी
मैंने धूलि व्यथा भर जानी

हर कण को छू प्राण पुलक बंधन में बँध जाता है।

मिलन उत्सव वन क्षण आता है।

मुझे प्रिय पथ अपना भाता है।

केवल इतना ही नहीं वे अपना अस्तित्व खोकर उस परम प्रियतम तथा चरम आराध्य में मिल कर अपने अस्तित्व को खोना नहीं चाहती—

मिलन मंदिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,

में मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिक्ता में सलिल कण,

सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानीनी में ?

इससे पता चलता है कि कवयित्री की विरह वेदना उसके अहं को आक्रान्त न करके उसे ओजपूर्ण दर्प से महिमान्वित कर देती है।

काव्य-प्रतीकों में दीपक महादेवी जी को सर्वाधिक प्रिय है। दीपक को लेकर 'दीपशिखा' में कुछ गीत अत्यन्त सुन्दर और प्रभावी बन गए हैं। महादेवी जी के कवि-कलाकार को दीपक की लौ का बहुत बड़ा सम्बल सहज ही प्राप्त है—

दीप मेरे जल अकम्पित,

घुल अचंचल ।

पथ न भूले एक पग भी,

घर न खोये लघु विहग भी,

स्निग्ध लौ की तूलिका से

आँक सब की छाँह उज्ज्वल ।

जलने की विवशता के साथ इस कविता में दीपक की उदार भावना तथा उसके शील का स्थायित्व स्वयं कवयित्री के व्यक्तित्व का परिचायक है। इस प्रकार गीत-सृष्टि में महादेवी जी सहज ही अद्वितीय हैं। महाप्राण निराला की ये पंक्तियाँ महादेवी जी में पूरी सार्थकता पा लेती हैं—

हिन्दी के विशाल मंदिर की वीणा वाणी,

स्फूर्ति, चेतना, रचना की प्रतिमा कल्याण!

एक बात और—महादेवी जी बहुत प्रौढ़ गद्यकार और सफल चित्रकार भी हैं। दीपशिखा के इक्यावन कलात्मक चित्रों की पीठिका पर गीतों का चित्रांकन हुआ है। चित्र और गीत दोनों एक-दूसरे में इतने घुल-मिल गए हैं कि चित्रों ने गीतों के स्वरों को रंग दिया है और गीतों ने चित्रों की रेखाओं में स्वर भरने की सफलता पायी है। इस प्रकार के पारस्परिक आदान-प्रदान से गीत सजीव हो उठे हैं और चित्र सस्वर। महादेवी की यह सफलता अपने-आप में अद्वितीय है।

‘दीपशिखा’ की भूमिका रूप में ‘चित्तन के कुछ क्षण’ में जिस स्वच्छ, किन्तु ओजपूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं, वह हिन्दी-गद्य का गौरव है। काव्य की मूलभूत प्रवृत्तियों और उनके विकास के विविध स्वरूपों पर इस तरह की अधिकारपूर्ण लेखनी से आज तक कोई दूसरा निबंध नहीं लिखा गया, इसे सभी मानते हैं। काव्य की व्याख्या, ग्रथार्थ और आदर्श, व्यक्ति और समाज, पुरुष तथा नारी, जीवन और जगत, सामयिक और शाश्वत आदि पर इस प्रकार विश्लेषण-विवेचन किया गया है कि पाठक एक क्षण को सोचने लगता है कि कवि-महादेवी बड़ी हैं कि विदुषी महादेवी।

अपनी कविताओं में महादेवी जी एक प्रणयिनी की भूमिका में प्रतिष्ठित हैं, पर ‘अतीत के चलचित्र’ तथा ‘स्मृति की रेखाएँ’ में वे माँ के रूप में, बहन के रूप में, सजग सामाजिक व्यक्ति के रूप में, जीवन के कण-कण के प्रति अगाध करुणामयी के रूप में भी स्पर्दित हैं। अपने ‘विवेचनात्मक गद्य’ से हिन्दी समालोचना को एक व्यापक नया घरातल देने का भी श्रेय उन्हें प्राप्त है। महादेवी जी के विचारक का रूप ‘शृङ्खला की कड़ियाँ’ में देखने को मिलता है। इस प्रकार उनके सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी रहस्यमयी आत्मिक अभिव्यक्ति उनके गीतों में और उनकी यथार्थवादी अभिव्यक्ति उनके गद्य में अपने चरमतम रूप में संरक्षित है। इतना सब जान लेने के पश्चात् हम उनके इस कथन का विश्वास करने के लिए जैसे विवश हैं—“विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।” इसी भावबोध की तीव्रतम गतिमयता ‘दीप-शिखा’ का अंतिम गीत संभाले हुए है—

अलि मैं कण कण को जान चली

सब का क्रन्दन पहचान चली।

जो दृग में हीरक जल भरते,

जो चितवन इन्द्रधनुष करते,

टूटे सपनों के मनकों से,

जो सूखे अधरों पर झरते,

जिस मुक्ताहल से मेघ भरे,

जो तारों से तृण में उतरे,

मैं नभ के रज के रस-विष के

आँसू के सब रंग जान चली।

दुःख को कर सुख आख्यान चली।

जो जल में विद्युत प्यास भरा,
जो आतप में जल जल निखरा,
जो शरते फूलों पर देता,
निज चंदन सी ममता बिखरा,
जो आँसू से धुल-धुल उजला,
जो निष्ठुर चरणों का फुचला,
में मर उर्वर में कसक भरे,

अणु अणु का कम्पन जान चली।

प्रति पग को कर लयवान चली।

महादेवी जी अभी अपने साधना-पथ पर गतिशील हैं। 'नीहार' के धुंधलेपन में 'रश्मि' के स्पष्ट प्रकाश पर जो 'नीरजा' मुकलित हुई थी वह 'सान्ध्य गीत' की ध्वनि से मुखरित, 'दीपशिखा' तक पहुँच चुकी है। अब कवयित्री के साथ हम सब को भी आत्मबोध के उस प्रसन्न प्रभात की प्रतीक्षा है, जब हम उनके साथ एक स्वर से गा सकें—

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का ताज,
सुभग हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज,
बीती रजिन प्यारे जाग।



महादेवी की काव्य-रचनाएँ

नीहार :

मानवजीवन के सभी साधनों का उत्कर्ष जीवन में सन्निहित भिन्न-भिन्न भावों की स्वाभाविक तथा सात्विक निरूपणा में है। काव्य में इन्हीं अनुभूतिमय भावों की अभिव्यक्ति संवेदनशील सूक्ष्म दृष्टि से होती है, जिसके कारण सहज ही उसमें सर्वजनीनता आ जाती है। कवि के भाव उसकी समकालीन परम्परा में पल कर भी अनुभूतिजन्य सर्वकालीनता लिये रहते हैं। जहाँ कवि के भाव, पात्र एवं समय की निश्चित परिधि से ऊपर उठ कर सभी समय की मानव-प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं, वहाँ कवि शाश्वतता का स्पर्श करने लगता है। नैसर्गिक मानव प्रवृत्तियों की आदर्शात्मक रेखाओं से खींचे चित्र इसीलिए कभी पुराने नहीं पड़ते, वे तो नित-नवीन रहते हैं।

आदि काल से आत्मोत्सर्ग, धर्मपरायणता, त्याग तथा आत्मबोध की अतीव अन्वेषणा मानवता के मँजे हुए गुण माने जाते हैं। वर्वर से वर्वर युग में भी कभी इनकी अवहेलना करना श्रेयकर नहीं माना गया, वरन् जब-जब किसी ने इनकी व्यवहारिक उपेक्षा की है तब-तब उसका सामूहिक विरोध किया गया है। यह बात सभी समयों, सभी व्यक्तियों तथा सभी साहित्यिकों के लिए समान रूप से मान्य है। आत्मबोध की स्थापना के साथ-साथ हमें ब्रह्म तथा जीव की ओर भी उन्मुख होना पड़ता है, क्योंकि दर्शन का अन्तिम उद्देश्य ईश्वर की खोज में पूर्ण होता है। मानव-जाति के इतिहास से पता चलता है कि मानव-प्रवृत्ति सदैव स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरन्तर बढ़ती रहती है, इसी का परिणाम है कि इस विज्ञान के युग में हमारी बौद्धिक तथा तार्किक शक्तियों के साथ हमारे हार्दिक गुणों की व्यापकता भी बढ़ती जाती है। एक ही युग में हम अहिंसा का अटल विश्वास लिए महात्मा गांधी तथा योरोपीय प्राणघातक रणोन्मत्त व्यक्तियों का साथ ही देखते हैं, इसका क्या कारण है? केवल यही कि मनुष्य की आत्मशक्ति शारीरिक पशुता के आवरण में कुछ समय के लिए छिप भले ही जाय, किन्तु उसका सर्वथा अभाव असम्भव है। जब मनुष्य का निर्माण ही शरीर और आत्मा को ले कर हुआ है, तब उसके रूप और गुण मानवीय प्रकृति से बाहर जा भी कैसे सकते हैं? हमने अनेक बार देखा है कि

सामाजिक नियम संसार की व्यवहारिकता के अनुकूल बदलते, बढते और घटते रहते हैं, किन्तु जन्मजात मानव-प्रवृत्तियाँ नव में सब समय समान रूप से पायी जाती हैं। सत्य का रूप इसीलिए नाश्वर्य होता है, उसकी विवेचना में अन्तर पड़ सकता है, परन्तु उसका स्वरूप निश्चित रहता है।

मानव-सम्भ्रता और संस्कृति तो उसके निदानों के प्रयोग मान है, इसकी परिवर्तनशीलता में भी उसकी प्रवृत्तियाँ उसके हृदय के अन्तर्गत छिपी रहती हैं यथा एक वैज्ञानिक अपनी प्रयोग-विधियाँ बदलने पर अपने को नहीं बदल देता वरन, इस प्रयोग-विधि की विविधता में भी उसका अपना अस्तित्व पूर्ववत् ही अधुण रहता है। अस्तु।

काव्य के उत्कर्ष के भी प्रधान गुण अब हम स्थापित कर सकते हैं। सर्वजनीनता तथा जीवन की अनेकरूपता का समन्वय और उसके प्रति कवि का अपना सन्देह एवं भावों की अनुभूतिमय मौलिक अभिव्यक्ति से ही कोई भी काव्य सर्वभौमिकता का सफल श्रेय पा सकता है। काव्य की इस उपयुक्त परिभाषा से वह स्वभावतः शरीर तथा बुद्धि की अपेक्षा हृदय एवं भावना के अधिक समीप पड़ता है। अपनी हार्दिकता और भावात्मकता से आध्यात्मकता का भी वह अधिकारी है।

देवी जी की इन प्रथम रचना 'नीहार' में अध्यात्म की आकुल अभिव्यक्ति है, एक जिज्ञासा है, एक विस्मय है और एक विदग्ध हृदय की करुणा है। सृष्टि-निर्माण के समय में ही विद्व की पलकों में सुख-दुःख की भाँति अनेक द्वन्द्वात्मक स्वप्न भर दिए गए थे, प्रत्यक्ष दिन-रात तो उसी के स्थूल रूपक मात्र हैं। उसी गप्टा की भाँति कवि अपनी अनुभूति-भावनाजन्य अश्रु हासमयी सृष्टि की रचना करता है। जीवन में दोनों की स्थिति भी स्पष्ट है। कवि की इष्ट-साधना में दोनों सोपान का कार्य करते हैं सम्भवतः वहीं पहुँच कर दोनों का समन्वय भी होता है। जिस प्रकार एक सरिता अथाह आराध्य सागर से मिल कर अपना सारा क्रन्दन-कलरव भूल जाती है, उसी प्रकार विद्व-आत्मा भी अपने आराध्य तक पहुँच कर सुख-दुःख की सीमा को भूल जाती है, क्योंकि फिर तो वह स्वयं अपने अस्तित्व को अपने आराध्य में आरोपित कर देती है। साधना की इस चरम परणति के पहिले आत्मा का अहर्निश आकुल-व्याकुल रहना स्वाभाविक है, क्योंकि वह अपनी उस अनन्त सत्ता से अलग हो कर एक सीमित सत्ता में उतर आती है। उसकी अपने उस महा-अस्तित्व की याद स्वप्नों की अस्पष्ट झाँकी की भाँति बराबर बनी रहती है, अतएव अपनी वर्तमान वियोग-अवस्था पर दुःख तथा भविष्य मिलन की साधना उसके निरन्तर प्रयत्न का प्राण है। महादेवी वर्मा जी के काव्य का यही प्रथम चरण है, इसमें उन्होंने एक स्नेही की साधना, एक दार्शनिक की तन्मयता तथा एक विरागी

की करुणा की मार्मिकता का सम्मोहन दिया है। इस रचना से हम उनके भावों में दीपक की लौ की सजलता तथा सरिता के शाश्वत प्रवाह की शीतलता का सहज ही में आभास पा लेते हैं। हम तो इसे पीड़ित मानवता के लिए स्नेह एवं सहृदयता का आध्यात्मिक आश्वासन कहेंगे, क्योंकि इसकी वेदना विनाशकारी न हो कर नव-निर्माण की सहायक है। आत्मबोध की उत्कण्ठा रखने वाले काव्य में भी चकोरों के लिए यह अविरत जलन भी आध्यात्मिक क्षुधा की तृप्ति का ही काम करेगी, ऐसा विश्वास है।

अतीत काल में प्रथम-प्रथम जब मानव का निर्माण हुआ था, उसी समय से वह सुख-दुख के अकाट्य एवं सुदृढ़ पाश में आबद्ध कर दिया गया। उसकी जीवन-तरी भवसागर में छोड़ दी गई, जो सुख-दुख के दोनों तटों को सदैव स्पर्श करती है। वह कब और कितने समय तक किस तट पर लगी रहेगी, यह उसके वश में नहीं है, यह तो वायु के प्रबल वेगों पर निर्भर करता है। विश्व-वीणा के तारों में आनन्द का मधुर स्वर भी है और विरह का करुण क्रन्दन भी, इसीलिए कवि की हृत्तंत्री का स्वर विश्व-वीणा के स्वर में अनायास ही मिल जाता है और यही कारण है कि कुछ हमारे स्वर आनन्द की मधुरता से युक्त रहते हैं और कुछ विरह की विकलता से, फिर भी दोनों का लय एक ही अनन्त में होता है।

“हाथ में लेकर जर्जर बीन
इन्हीं बिखरे तारों को जोड़
लिए कैसे पीड़ा का भार
देव ! आऊँ, अनन्त की ओर ?”

महादेवी जी की हृत्तंत्री में वेदना के तार झंकृत होते हैं। उन्होंने कवित्व-शक्ति के बल पर एक संसार का, एक अनोखे संसार का निर्माण किया है, जिसमें कसक है, संघर्ष है, विरह है और विदग्धता है। देवी जी ने इन्हीं विमूर्तियों को लेकर हिन्दी-संसार में पदार्पण किया है। इन्हीं कारणों से उनकी अनुभूति में ऐसी सरसता एवं मधुरता है, जो हृदय को वरबस प्रभावित करती रहती है। ऐसा ज्ञात होता है कि देवी जी का जीवन वेदनामय है।

‘नीहार’ को आद्योपान्त पढ़ जाने पर ऐसा अनुभव होता है कि कवि त्रि. आत्मा का अपने प्रियतम से वियोग हुआ है। इस विछुड़न में इतनी वेदना है और इस वेदना में इतनी तीव्रता है कि उसका जीवन विरहमय हो गया है। वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए विह्वल है। मिलन के मनुहारों की सीमा समाप्त हो चुकी है फिर भी मिलन की सम्भावना नहीं दीखती। निरन्तर इस प्रकार के कार्य-कलाप को करते-करते कहना पड़ता है—

“गये तब से कितने युग बीत,
हुए कितने दीपक निर्माण,
नहीं पर मैंने पाया सीख
तुम्हारा सा मनमोहन गान।”

कवि को अपने प्रियतम से बिछुड़े कितने युग व्यतीत हुए, इसका कहना असंभव है। उसकी अगवान्नी में कितने दीपकों का निर्माण हुआ, इसकी गणना भी कठिन है। उसके स्वागत में अनेक गीत गाये गए, किन्तु उसने अभी तक लीटने का नाम तक नहीं लिया। वह गाते-गाते थक कर मौन हो जाती है—

“नहीं अब गाया जाता देव।
थकी अंगुली हूँ ढीले तार,
विश्व-बीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार।”

रहस्यवादी कवि आज ही के जीवन में नहीं किन्तु विगत अनादि युग में भी अपने अस्तित्व का अनुभव करता है। इसीलिए तो उसके जीवन का स्वर करुणामय है। अनेक युगों के व्यतीत होने के पश्चात् भी कवि के हृदय में उस मूक-मिलन की वात अब भी उसी प्रकार नवीन है और उसका स्मरण उसी प्रकार वेदना की आग को भड़काने में समर्थ है—

“कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की वात ?
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू उनके हास।”

कवि उस मिलन की वात को भूल भी कैसे सकता है। वह स्वप्न की वात कैसे हो सकती है, जब कि उसकी याद उसी प्रकार से ताज़ी है। इस निराशा में भी आशा की धूमिल रेखा का यदा-कदा दर्शन हो ही जाता है। यदि आशा की इस धूमिल रेखा का भी लोप हो जाय तो उसका जीवन ही असम्भव हो जाय, फिर भी कवि को आत्मनिवेदन की मान्यता मालूम है, अपनी साधना पर विश्वास है तभी तो उसके ये शब्द उपालम्भ के रूप में सम्भव हुए हैं—

“चिन्ता क्या है रे निर्मम !
बुझ जाये दीपक मेरा !
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा !”

इसमें कितनी सरस तथा आकुल उदासीनता है। इन पंक्तियों को कहने में

कितनी करुणा है। आराध्य की निर्ममता पर यह एक विह्वल आघात है, उसे मना लेने का एक सरस साधन है। कवि को अपनी लगन पर, अपनी खोज पर और सब से बढ़ कर अपनी साधना पर विश्वास है। अन्त में उसे अपने को उसी आराध्य में आत्मसात कर देना है, यह उसका निश्चित निश्चय है। ये पंक्तियाँ विश्वास की साँसों में ही तो जीवित हैं—

“जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल।
देखोगे तुम देव ! अमरता
खेलेगी मिटने का खेल।”

इस आध्यात्मिक मिलन में कितना सुख होगा। जब असीम से ‘लघु सीमा का मेल’ हो जायेगा, तब नश्वरता अमरता से खेलेगी और आत्मा-परमात्मा का संयोग होगा। कैसी होगी वह मनमोहक मिलन-वेला। उस परम पुरुष की प्राप्ति के लिए ही तो कवि की आत्मा व्यग्र है। फिर भी वह दया की पात्र नहीं बनना चाहती—वह नहीं चाहती कि उससे मरने और मिटने का अधिकार छीन लिया जाय। वह तो अमरता को स्पर्श करते हुए भी नश्वरता में विहार करना चाहती है।

क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार ?

“रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार।”

कवि के मानस-मंदिर में सर्वदा ही सुधि का एक दीपक जला करता है। विश्व के दीप भले ही बुझ जायँ, किन्तु उसके हृदय में निरन्तर दीपक-ज्योति प्रज्वलित रहती है। उसने अपने जीवन का प्रकाश अपनी विरह-वेदना से जलते रहने में देखा है। इस प्रकार का नष्ट हो जाना ही जीवन को अन्धकारमय बना देना है और यही अन्धकार तो मरण है—

“आलोक यहाँ लुटता है
बुझ जाते हैं तारा गण,
अविराम जला करता है
पर मेरा दीपक सा मन।”

इस वियोग में कितनी तीव्रता है, कितनी विह्वलता है और कितनी व्यापकता है। आराध्य की आराधना में कवि की विकल आत्मा तन्मय है। जगत के दीप भले ही बुझ जायँ, किन्तु अन्तरंग में कवि का दीपक-सा मन अविराम जला करता है। उसके मानस में कैसी प्रखर ज्वाला है और दुख की कैसी विराट कल्पना है। यही तो करुणा के कलित गायन हैं।

यह असिल संसार दुख के सुदृढ़ चित्तान से आच्छादित है और इसी की छाया में विश्व अवोध बालक की भाँति विध्राम कर गया है। इसीलिए तो इस विश्व में विरह है, व्याकुलता है, कसक है और ज्वाला है। 'बालक' शब्द का इस कविता में प्रयोग कर के देवी जी ने कर्ण यात्रालय का कितना मोहक दिग्दर्शन कराया है। हृदय में असीम सूनापन भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है:

“उसमें अनन्त कसका है

इसमें असीम सूना पन।”

देवी जी जिस मनोहर एवं तरंग लौक की कल्पना करती हैं, उसका आभास उसकी एक झलक इस लोक में भी—इस भौतिक लोक में भी मिलती है। इसी के बल पर ही तो वह विराट लोक की कल्पना करती है। उस लोक के सभी उपकरण इस लोक में भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु घिरे रहते हैं धार्मिक सुन्दरता एवं नश्यरता की सीमित परिधि में। फिर भी यही समर्थ होते हैं हमारी दृष्टि को उस शाश्वत लोक की ओर प्रेरित करने में, जहाँ—

“सभी में है स्वर्गीय प्रकाश !

वही कोमल कमनीय प्रकाश !”

इस लोक की लघुता ही तो उस लोक की महानता का स्मरण दिलाती है। एक के सम्पूर्ण उपकरण दूसरे में पाए जाते हैं। अगर ऐसा न होता तो उस लोक का किसी भी प्रकार अनुमान नहीं हो सकता। चन्द्रमा की शीतल चाँदनी से ही हमें प्रेरणा होती है उस लोक के विशाल चन्द्र की शीतलतर चाँदनी में अपने सन्तप्त हृदय को शान्त करने की। एक पुष्प को देख कर उसकी मादक सुन्दरता पर हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। किन्तु दूसरे ही क्षण उसी पुष्प का नाश इन्हीं नेत्रों के सम्मुख होता है। उसे देख कर हृदय में एक वेदना होती है। हम सोचते हैं कि क्या ही अच्छा होता यदि पुष्प क्षणभंगुर न होता। साथ ही साथ हम यह भी कल्पना करते हैं कि उस विराट लोक में उसका कभी नाश नहीं होगा। वहाँ वह कितना मोहक होगा, उसमें कितना आकर्षण होगा। इस लोक के प्रकाश को देख कर ही हम उस महान प्रकाश की कल्पना करते हैं। इन्हीं उपकरणों को देख कर ही तो कवि के अन्तर्जगत में उस प्रकाशपूर्ण लोक का, उस अक्षय अमृत लोक का निर्माण हो जाता है।

सुख और दुख दोनों ही उस लोक तक पहुँचने के साधन हैं। इसीलिए तो वह परमात्मा दुखियों के दुख से करुणामय है और सुखियों के सुख से सच्चिदानन्द। एक का ही दो रूप हो गया है, साधना के कारण, फिर भी इन रूपों में भिन्नता नहीं है। देवी जी संसार को दुःखमय देखती हैं, क्योंकि उनके हृदय में पीड़ा है और इसी वेदना के बल पर वह 'करुणामय' को पाना चाहती हैं। उस करुणामय की झलक

इसीलिए तो उन्हें विश्व के प्रत्येक कार्यकलाप में मिलती है। कलिका के खिलने में अपने प्रियतम की मृदुल मुस्कान का आभास मिलता है, सरिता की कलकल ध्वनि में उसका गान ध्वनित होता है, इसी प्रकार विश्व के अंगप्रत्यंगों में उसे हंसते, खेलते, मुस्कराते, रोते, गाते और सोते-जगते वे पाती हैं, क्योंकि उनका आराध्य निराकार है, मीरा के देव की भाँति साकार नहीं।

विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ने केवल आत्मा को ही परमात्मा से मिलने के लिए व्यग्र नहीं बतलाया है, किन्तु परमात्मा को भी आत्मा से उसी प्रकार मिलने के लिए लालायित बतलाया है। उनके विचार में यह असम्भव है कि स्नेह-ज्वाला में दोनों एक रूप से सन्तप्त न हों। अपनी 'आवर्तन' शीर्षक कविता में लिखते हैं—

धूप अपना रे मिलाइते चाहे गन्धे।
 गन्ध से चाहे धूप रहिते जूड़े॥
 सुर आपनारे धरा दिये चाहे छन्दे।
 छन्द फिरिया छूटे जेते चाय सुरे॥
 भाव पेते चाय रूपेर माझारे अंग।
 रूप पेते चाय भावरे माझारे अंग॥
 असीम से चाहे सीमार निबिड़ संग।
 सीमा चाय हते असीमेर माझा हारा॥
 प्रलये सृजने न जानि ए कार युक्ति।
 भाव हते रूपे अविराम जा ओया-आशा॥
 बन्ध फिरिछ खूजिया आपन मुक्ति।
 मुक्ति माँगिछे बाँधनरे माझे बासा॥

कितनी सरस कल्पना है। सभी अपने को एक-दूसरे में लय कर देने के लिए व्यग्र हैं। धूप अपने को गंध में लय कर देना चाहती है और गंध अपने को धूप में। स्वर अपने को छन्द में विलीन कर देना चाहता है और छन्द अपने को स्वर में। भाव सौन्दर्य का अंग बनना चाहता है और सौन्दर्य भाव का। असीम ससीम का आलिंगन करना चाहता है और ससीम असीम का। प्रलय और सृष्टि का कितना मेल है। भाव और सौन्दर्य में अविराम विनिमय होता है। बन्धन अपनी मुक्ति खोजता है और मुक्ति अपना स्थान बन्धन में खोजती है। एक को बिना जाने दूसरे की कल्पना करना असम्भव है।

सत्य की महानता असत्य में है। विश्व में सभी कहीं यदि सत्य ही का साम्राज्य रहता तो हम उसकी श्रेष्ठता का अनुभव कैसे कर पाते। असत्य को देख कर ही तो सत्य का रूप निर्धारित किया जाता है। पाप पुण्य को जाँचने की कसीटी है।

अगर दुनिया से पाप का नाश हो जाए तो सत्य की मनोहरता ही नष्ट हो जाए, उसकी विशालता ही जाती रहे। इससे देवी जी संसार के नश्वर उपकरणों में ही उस अमर लोक की मधुर झलक देखती हैं।

जिस प्रकार उपासक अपने आराध्य को पाने के लिए भयंकर से भयंकर तपस्या करता है, अपने को मिटाकर भी उसकी प्राप्ति करना चाहता है, वह विलीन कर देता है अहम् को उस विराट् स्वरूप में, तब कहीं उसका प्रियतम मिलता है। उसी प्रकार महादेवी जी भी सभी कुछ मिटा देने की कितनी सरस कल्पना करती हैं यह सोच कर कि सम्भवतः इतने पर भी उनका आराध्य मिल जाए—

“विश्व होगा पीड़ा का राग
निराशा जब होगी वरदान,
साथ लेकर मुझाई साध
बिखर जायेंगे प्यासे प्राण।
उदधि नभ को कर लेगा प्यार
मिलेंगे सीमा और अनन्त,
उपासक ही होगा आराध्य
एक होंगे मतझार बसन्त !
प्रतीक्षा में मतवाले नैन,
उड़ेंगे जब सौरभ के साथ
हृदय होगा नीरव आह्वान
मिलोगे क्या तब हे अज्ञात ?

उस अज्ञात की प्राप्ति के लिए कितनी प्रबल तत्परता है। अपनी सम्पूर्ण सत्ता का विनाश कर के आध्यात्मिक मिलन यथोचित है। यही तो ‘अहम्’ को पूर्णरूपेण विनष्ट करने का दृढ़ संकल्प है, किन्तु साथ ही कितना हृदयस्पर्शी व्यंग भी है, क्या तुम तभी मिलोगे जब इन सब का नाश हो जायगा ? अगर तुम्हारी यही इच्छा है तो यही सही, मैं अपने को विनष्ट कर के ही तुमको पाने का प्रयत्न करूँगी।

‘ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद।’

देवी जी प्रकृति के प्रत्येक दृश्य में उस अदृश्य आराध्य को व्याप्त पाती हैं। उनकी दृष्टि में इनमें जो कुछ भी सौन्दर्य या उल्लास है, वह सभी उसी अदृश्य द्वारा लुटाई गई स्वर्गीय निधि है :

“जहाँ है निद्रामग्न वसन्त,
तुम्हीं हो वह सूखा उद्यान,
तुम्हीं हो नीरवता का राज्य
जहाँ खोया प्राणों ने गान।”

साथ ही साथ उन्हें यह भी अनुभव होता है कि प्राकृति दृश्य उन्हें बारम्बार अपनी ओर आकर्षित कर के कहते हैं कि जिसे तुम खोज रही हो, उसे मुझमें देखो, मुझमें ही उसका रंग-रूप निहित है—

“धूँधट-पट से झाँक सुनाते
ऊषा के आरक्त कपोल,
जिसकी चाह तुम्हें है उसने
छिड़की मुझपर लाली घोल।
कहते हैं नक्षत्र—‘पड़ी हम पर
उस माया की झाई’
कह जाते ये मेघ—‘हमीं
उनकी करुणा की परिछाई।’
वे मन्थर-सी लोल हिलोरे’
फँला अपने अंचल-छोर।
कह जातें—‘उस पार बुलाता
है हमको तेरा चित-चोर।’
यह कैसी छलना निर्मम!
कैसा तेरा निष्ठुर व्यापार,
तुम मन में हो छिपे, मुझे
भटकाता है सारा संसार।”

बाहर और भीतर, बाह्य जगत में और अन्तर्जगत में एक ही आराध्य का दिव्य आभास व्याप्त है। मन में वह निराकार वन के बैठा है और प्रकृति के दृश्यों में उसका साकार रूप द्योतित होता है। अपने आराध्य के लिये देवी जी के हृदय में कितनी विकलता है? वह पग-पग पर उसी की छाया का अनुभव करती हैं।

एक दिन मीरा ने भी अपने प्रियतम के लिए अपने हृदय में व्याकुलता का अनुभव किया था और कितने हृदय-विदारक शब्दों में उसने गाया था :

“हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विधः सोना होय?”

साधारण व्यक्ति कैसे उस दर्द का अनुभव कर सकता है, जो मीरा के हृदय में था। इसे तो कुछ महान प्राणी ही समझ कर उसकी सहानुभूति में दो आँसू बहा सकते हैं। एक साधारण मनुष्य अगर पूर्णरूपेण उसको स्पर्श नहीं कर सकता फिर भी उस विरह वेदना को पढ़कर उस दर्द का आभास मात्र तो प्राप्त कर ही सकता है। यही कारण है कि एक साधारण मनुष्य भी उस विछुड़न-व्यथा को पढ़कर अनुभव करने का प्रयत्न तो करता ही है।

देवी जी को विश्व की उन सभी विभूतियों के साथ सहानुभूति है, जो उन्हीं की भाँति वेदनाग्रस्त हैं। वे उनके साथ संवेदना प्रकट करती हैं और उनके त्याग की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं। वे दीपक को प्यार करती हैं, क्योंकि उनका मानस भी दीपक के समान ही जला करता है। वह अपने प्रियतम का पथ अपने को जला कर उसी प्रकार निरन्तर आलोकित करता है, जिस प्रकार कवयित्री का मानस, इसीलिए तो इनके हृदय में उसके लिए ममता है। वह अपने उर को भी तो दीपक की तरह जलाया करती है :

“मूक करके मानस का ताप
सुलाकर वह सारा उन्माद,
जलाना प्राणों को चुपचाप
छिपाये . . . रोता अन्तर्नाद
कहाँ सीखी यह अभ्युदय प्रीति ?
मुग्ध हे मेरे छोटे दीप।
चुराया अन्तस्तल में भेद
नहीं तुमको वाणी की चाह
भस्म होते जाते हैं प्राण
नहीं मुख पर आती है आह
मौन में सोता है संगीत
लजीले मेरे छोटे दीप।

मौन व्यथा का कैसा हृदयस्पर्शी वर्णन है। हृदय की ज्वाला प्राणों को जला रही है। प्राण भस्म हो रहे हैं। अपने प्रियतम की प्रीति की कैसी सुन्दर साधना है :

क्षार होता जाता है गात
वेदनाओं का होता अन्त
किन्तु करते रहते हो मौन
प्रतीक्षा का आलोकित पंथ

सिखा दो ना नेही की रीति
अनोखे मेरे नेही दीप !

दीपक का शरीर क्षण-प्रति-क्षण वियोग के भयंकर ताप से क्षार होता जा रहा है फिर भी उसी रूप से उस अदृश्य का पथ आलोकित करता जा रहा है। अटूट प्रेम का कैसा मनोहर चित्रण है। देवी जी इसी दीपक से प्रेम की दीक्षा लेना चाहती हैं क्योंकि उसी प्रकार वह भी अपने शरीर को क्षार कर देना चाहती हैं उस प्रियतम के प्रेम में। कितना महान त्याग है। कैसा अनोखा प्रेम है।

पड़ी है पीड़ा संज्ञाहीन
साधना में डूबा उद्गार
ज्वाल में बैठा हो निस्तब्ध
स्वर्ण बनता जाता है प्यार
चिता है तेरी प्यारी मीत
वियोगी मेरे बुझते दीप !

सोने की चमक अग्नि में तपने पर और भी निखर जाती है। उसी प्रकार दीपक अपने प्रेम को वियोग की आँच में तपा कर और भी अनुपम बना रहा है। देवी जी भी उसी प्रकार प्रेम को मानस की वेदना की प्रचण्ड ज्वाला में जलाकर निर्मल बनाना चाहती हैं।

‘अनोखे से नेही के त्याग
निराले पीड़ा के संसार
कहाँ होते हो अन्तर्ध्यान
लुटा अपना सोने सा प्यार
कभी आयेगा ध्यान अतीत

तुम्हें क्या निर्वाणोन्मुख दीप ?

दीपक के समान कवि की महान आकांक्षा है कि वह भी अन्त में अपना सर्वस्व लुटाकर उसी नेही में अन्तर्ध्यान हो जाय—आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाय। दीपक से यह प्रश्न है कि, ओ निर्वाणोन्मुख दीपक, क्या तुम्हें कभी अतीत का भी स्मरण आयेगा ? पीड़ामय संसार की भी कभी याद आयेगी, जहाँ उस नेही ने तुम्हें त्याग किया था। उस अपूर्व ज्योतिर्पूर्ण लोक में स्थान पाकर क्या कभी इस विरहमय विश्व का स्मरण होगा ? वह ऐसा अमरत्व नहीं चाहती। वह चाहती है कि उनका मरने-मिटने का अधिकार सर्वथा सुरक्षित रहे।

महादेवी जी को तो विश्व का यही चिरहास-रदनमय रूप ही प्यारा है, क्योंकि वह वेदना से सम्पूर्ण संसार को एक में बाँधना चाहती हैं। उनकी दृष्टि में तो

वेदना ही अखिल विश्व को एकाकार करने का साधन है। इसी वल पर मानव मानव के समीप आता है और पारस्परिक सहानुभूति का पात्र बनता है।

महादेवी जी ने लघुता, नश्वरता, वेदना एवं कष्ट—इन्हीं चारों उपादानों से कविमुल्लस एक संसार का निर्माण किया है। इसीलिये वह संसार के लिये विभिन्न विशेषणों का प्रयोग करती हैं:

“विश्वासों का नीड, निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के वन्दनवार,
तब वृक्षते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार
आँसू से लिख लिख जाता है ‘कितना अस्थिर है संसार।’

इस नश्वरता को छोड़कर भी उनके सम्मुख विश्व का अन्य रूप भी है। यद्यपि सुखकर है फिर भी उन सब में भी नश्वरता छिप कर भीषण खेल खेला करती है।

तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव से घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती हैं, कितना मादक है संसार॥

नश्वरता के साथ ही साथ जग में मादकता भी है। वह ऊषा के सुनहले अंचल को देखकर मुग्ध हो जाती हैं। जब लाल लहर पर दिनकर की किरणें मचलती फिरती हैं उस समय अनायास उनके मुँह से निकल पड़ता है कि यह संसार कितना मादक है, किन्तु

“अब इसमें क्या सार” मधुर जब गाती भौरों की गुंजार,
मरमर का रोदन कहता है, “कितना निष्ठुर है संसार।”

वही कलिका, जिसने प्रातःकाल की मोहक अठखेलियों को देखकर प्रसन्न हो पल्लव के सुकुमार घूँघट से, छलकी पलकों से जग की मादकता की मुग्ध कंठ से प्रशंसा की थी; आज विधि की विडम्बना से मुरझाकर पृथ्वी पर पड़ी हुई है। आज मधुप को उसकी चिन्ता नहीं है। चिन्ता भी क्यों हो, अब तो उसे वह सौरभ भी नहीं प्राप्त होता, जिसके लिये वह पागल बना था। कवि इस दृश्य को देखकर पागल हो जाता है और सोचता है कि यह संसार कितना निष्ठुर है।

दिवस की भीषण ज्वाला के पश्चात् सन्ध्या-सुन्दरी अपनी सहज शीतलता लेकर संसार में प्रवेश करती है। नभ में तारों की पंक्तियाँ जड़ जाती हैं और जगती में अनेक दीप जल उठते हैं। उसका वेदना-सन्तप्त हृदय कुछ शांत हो जाता।

है और पुनः इन दृश्यों पर मोहित हो उठता है—शायद इसीलिये देवी जी ने लिखा है—

बीते युग पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार
कितना परिवर्तन हुआ किन्तु अब तक विश्व का वही मनोहर रूप दृष्टिगोचर
होता रहता है और हृदय को मतवाला बनाया करता है।

स्वप्नलोक के फूलों से कर

अपने जीवन का निर्माण

अमर हमारा राज्य सोचते

हैं जब मेरे पागल प्राण,

आकर तब अज्ञात देश से जाने किस की मृदु शंकार,

गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार'।

विश्व का नश्वर चित्र देवी जी के सम्मुख सदैव आता और जाता रहता है। कोई कोई दृश्य तो इनके हृदय को पुलकित कर देते हैं, वह जग की सरलता एवं मनोहरता की कल्पना करने लगती हैं, किन्तु दूसरेही क्षण विश्व का नश्वर और निष्ठुर रूप भी दृष्टिगोचर होता है और वह इन रूपों का अनुभव कर शोकाकुल हो जाती हैं। उनकी आँखें सजल हो जाती हैं और वह सोचती हैं कि यह संसार कितना वैचित्र्य पूर्ण है।—

उन्हें विश्वास है

विकसते मुरझाने को फूल

उदय होता छिपने को चन्द्र

शून्य होने को भरते मेघ

दीप जलता होने को मन्द

यहाँ किसका अनन्त यौवन ?

अरे अस्थिर छोटे जीवन ।”

पुष्प मुरझाने के लिए ही खिलते हैं। चन्द्रमा का अनुपम आगमन केवल छिपने के लिए ही तो होता है। इसी प्रकार बादल अपने कोप को संसार की परितृप्ति के लिए बिखरा देते हैं, किन्तु इसका फल यही होता है कि वे सरसताशून्य हो जाते हैं। दीपक अपने प्रकाश से विश्व को आलोकित करता है, किन्तु उसका भी नाश शीघ्र ही हो जाता है। यहाँ किसी का भी अनन्त यौवन नहीं है। किन्तु ऐसी अवस्था में वह विश्व के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित करना चाहती हैं:

“शून्य में वन जाओ गम्भीर

त्याग की हो जाओ शंकार

इसी छोटे प्याले में आज
डुबा डालो सारा संसार

लजा जाये यह मुग्ध सुमन
वनो ऐसे छोटे जीवन !

सखे ! यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग
यहाँ मिलता काँटों में वन्धु !
सजीला-सा फूलों का रंग ;

तुम्हें करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन !

कवि-जीवन का वह कितना मधुर समय होगा, वह कितना हृदयहारी क्षण होगा, जब उसके प्रियतम का आगमन होगा। उसी विछुड़न के कारण ही तो उसका जीवन नीरस-सा हो गया है। यही तो रहस्यवादियों की कसक ज्वाला है।

जब जीवन-वाटिका में वसन्त का पुनर्जन्म होगा और इतने दिनों की पोषित विरह-व्यथा का अन्त हो जायगा—प्रिय से मिलने पर फिर विरह-व्यथा कैसी ?

जो तुम आ जाते एक बार !

कितनी करुणा कितने संदेश
पथ में विछ जाते वन पराग
गाता प्राणों का तार तार
अनुराग भरा उन्माद राग

आँसू लेते वे पद पखार !

हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद
छा जाता जीवन में वसंत
लुट जाता चिर संचित विराग

आँखें देतीं सर्वस्व दार

जो तुम आ जाते एक बार !

सचमुच वह कितनी मादक वेला होगी, जब दोनों मिलकर एक हो जायेंगे। फिर न तो जीवन में क्लेश रहेगा और न विषाद। जीवन के कण-कण में मधुमास छा जायेगा। वह जीवन कैसा मधुर होगा, कितनी उसमें सरसता रहेगी ?

‘नीहार’ में इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत की विभिन्न भावनाओं की रूपरेखा का निरूपण देवी जी ने किया है। उनकी यह प्रथम रचना होने के कारण अपने

काव्य-पथ में एक शिशु की सहज प्रकृति लिए हैं, किन्तु उनका आदर्श और उनकी साधना इसमें स्पष्ट है, इस विषय में सन्देह नहीं हो सकता।

रश्मि :

‘रश्मि’ देवीजी के काव्य-पथ का दूसरा चरण है। स्वभावतः प्रथम से अधिक समर्थ एवं साधनाशील है। किसी पथ-विशेष का सहसा अनुसरण करने लगना बात दूसरी है और उसमें समझ-सोचकर चलना बात दूसरी। ‘नीहार’ में देवी जी की आध्यात्मिक भावनायें अपने शिशु रूप में थीं, उनकी अभिव्यक्तियों में प्रौढ़ता की अपेक्षा अल्हड़ता ही अधिक थी। उनकी उस उत्सुकता में साधना की अपेक्षा साधनों का अधिक प्राधान्य था, वही शिशुसुलभ हठ, निराशा, आशा तथा वस्तुओं से सामयिक समझौता करने की बात एवं कल्पना की अतिरंजना ही उस समय की आधार-भूमि थी। अब ‘रश्मि’ नाम के अनुसार ही उस आध्यात्मिक लोक की वास्तव में एक प्रकाश-किरण है। इसकी सभी अभिव्यक्तियाँ अनुभूतिमय हैं। इसमें जीवन की हर एक गति का एक दार्शनिक दृष्टिकोण है, जो कवि की साधना से संयमित और सुसंचालित है। जहाँ कहीं भी कवि अपनी भावनाओं का आवेग चेतना के सूक्ष्म वन्धन से बाँध देता है, वहीं वह दार्शनिक बन जाता है, दर्शन से विवेचना की शक्ति बढ़ती है; भावना से आस्था की।

‘रश्मि’ में देवी जी ने चेतना तथा भावना का बहुत ही सुन्दर सम्मिश्रण किया है, चेतना से अपने काव्य-पथ की विवेचना तथा भावना से उस ओर बढ़ने की अटूट आकुलता उन्होंने ली है। उनके दर्शन ने जग-जीवन की नश्वरता को भी बहुत ही स्पष्ट स्वरूप दिया है, सम्भवतः इसमें देवी जी को अपने अध्यात्म के प्रति और ममता बढ़ गई हो। ‘नीहार’ की आँख-मिचौनी ‘रश्मि’ में आकर एक सुन्दर दृष्टि-बिन्दु बन जाती है। विकास-क्रम का यही सुफल है। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि ‘नीहार’ की अभिव्यक्तियों को ‘रश्मि’ में स्वरूप दे दिया गया है। इसी से ‘रश्मि’ में एकान्त भाव की आकुल आकांक्षा ही नहीं वरन एक सामूहिक चेतना की भी उद्भावना है, इसका जीवन अधिक विस्तृत एवं व्यापक और सर्वजनीन है। भावना और जिज्ञासा का एक दार्शनिक समन्वय है। स्थूल का शिव रूप सूक्ष्म की सतह से ऊपर उठ गया है। विश्व-वैषम्य की गतिविधि के साथ-साथ देवी जी का काव्य आत्मबोध की प्रवृत्तियों से क्रमशः अन्तर्मुखी होता गया है। गीत-काव्य ऐसा होता ही है। इसको कुछ लोग जीवन की वास्तविक पीड़ा से भगना कहते हैं, किन्तु यह उन लोगों का भ्रम है, क्योंकि किसी व्यक्ति की अपनी साधना का सामाजिक स्वरूप हो ही नहीं सकता। हाँ समाज या संसार

उस साधना के सामाजिक साधनों से प्रभावित हो सकता है, किन्तु वह तो केवल अतिरिक्त का विधान है। यदि कवि भी अपने को विश्व के इस कोलाहल में एक साधारण प्राणी की भाँति भुला दे तो फिर उसकी साधना का, उसकी प्रतिभा का मूल्य ही क्या रहा? वह तो कुरूप यथार्थ संसार में रहता हुआ भी एक सुन्दर आदर्श संसार की अवतारण का अग्रदूत बना रहता है। समाज के तथा साहित्य के यथार्थ में यही भेद है कि समाज का यथार्थ बहुत ही स्थूल तथा साधारण प्राणियों की सीमा की वस्तु है, किन्तु साहित्य का एक असाधारण प्राणी, कलाकार की अपनी अभिव्यक्ति है, ऐसा सब दिन हुआ है और होगा। साहित्य में सदैव हमें हृदय की भेंट मिलनी है न कि संसार के नग्न शारीरिक व्यवहारों की। हृदय का परिष्कार तन, मन तथा जीवन सभी को सुन्दर तथा मंगलमय बनाने की क्षमता रखता है। आत्मा के इसी अनुराग के काव्य के मौलिक स्वरूप को देवी जी ने 'रश्मि' में सँजोया है, यह ठेठ जीवन तो उसकी पृष्ठिका मात्र है। आप स्वयं लिखती हैं—“हमारा व्यस्त और वैयक्तिक प्राधान्य से युक्त जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिये संसार है।” ठीक भी है, क्योंकि हृदय आत्मा का अंश है और आत्मा सब की एक है, अस्तु किसी कवि की सच्ची आत्म-पुकार संसार के किसी जीवन की आत्मा की विह्वलता के समीप पड़ेगी, यथा सूर्यास्त होने का प्रभाव अन्धकार सभी जगह व्याप्त होता है। हाँ, भौगोलिक परिस्थितियों की विषमता से समय का अन्तर पड़ सकता है। इसी प्रकार काव्य में आत्मा के परिष्कार को लेकर समय का अन्तर पड़ सकता है, किन्तु अन्त में प्रकाश एवं अन्धकार की व्यापकता का अनुभव सब को समान रूप से करना ही पड़ता है।

‘रश्मि’ में देवी जी की बहुत ही सहज स्वाभाविक काव्य-प्रेरणा है। ‘नीहार’ के प्रश्न तथा शंकाएँ जैसे ‘रश्मि’ में अपना समाधान पा गये हों, साधना अधिक स्पष्ट हो गई है, काव्य-पथ परिमार्जित तथा भावनाएँ अधिक व्यापक एवं भव्य हो गई हैं। आराध्य की आकुल आराधना में कवि को एक विश्वास-सा हो गया है और इस विकलता के भी सुख का आभास उसे मिलने लगा है। काव्य के उपर्युक्त अन्तर्गत विकास के साथ-साथ काव्य का बाह्य स्वरूप भी अधिक आकर्षक तथा रमणीय-सा हो चला है। अस्तु हम कह सकते हैं कि देवी जी के जीवन तथा काव्य की साधना के श्रीगणेश का ‘रश्मि’ एक सुदृढ़ तथा सुन्दर शिलान्यास है। यहाँ से उनका पथ निश्चित है और उन्हें अपने प्रति विश्वास भी मिल गया है। ‘नीहार’ के बाद ‘रश्मि’ की प्रकाशमयी ज्योति देवी जी के काव्य की सहज सात्विकता की ही पोषक है।

काव्य जीवन का विवेचन है। कवि काव्य में उन्हीं परिस्थितियों का वर्णन

करता है, जिससे होकर उसकी जीवनसरिता प्रवाहित होती है। फिर भी वह किसी आदर्श तक पहुँचने के लिए लालायित रहता है और उस आदर्श को भी अपने काव्य में यदा-कदा चित्रित करता रहता है। भले ही वह काव्य चित्रकार के मनोहर रंग से रंजित किया गया हो, भले ही उस पर शिल्पकार के यंत्र का आघात पड़ा हो, फिर भी वह उसी की आत्म-कहानी है।

हम अपने दुःख में सभी को दुःखी पाते हैं, यहाँ तक कि निर्जीव पदार्थ भी हमारी सहानुभूति में रोदन-सा करता पाया जाता है। उसी प्रकार हम अपने सुख में सभी को सुखी देखते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि विश्व के कण-कण में उल्लास छा गया है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि हमारे हृदय में जो भी भाव उत्पन्न होता है उसी से हम विश्व के अंग प्रत्यंगों को अभिसिक्त पाते हैं। यही तो हमारे मस्तिष्क की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है। इसी प्रकार कवि भी अपनी कविता में उन सभी दृश्यों का वर्णन करता है, जिसका प्रभाव उसके हृदय पर स्थाई रूप से पड़ता है। किसी भी परिस्थिति से पूर्णतया प्रभावित होने पर ही कविता का जन्म होता है। कविता की उत्कृष्टता एवं श्रेष्ठता तो प्रभाव की गंभीरता पर निर्भर करती है।

‘रश्मि’ महादेवी जी की कविताओं का दूसरा संग्रह है। ‘नीहार’ की भाँति इसे भी हम वेदनाप्रधान काव्य कह सकते हैं। इसमें भी जीवन की विकल अनुभूति प्रदर्शित होती है, उनका हृदय किसी अभाव का अनुभव करता है और उसी को पाने के लिए वह विह्वल-सा बना हुआ है, किन्तु अभी तक उसकी आराधना पूरी नहीं हुई है; अभी तक आराध्य से मिलन नहीं हुआ है। फिर भी मिलन की चाह उसमें प्रबल है। उस चाह से उनकी हृत्तंत्री भी झंकृत हो चुकी है।

‘चाह की मृदु अंगुलियों ने छू हृदय के तार।

जो तुम्हीं ने छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार॥”

देवी जी का जीवन ही वेदनाप्रधान जीवन है। उनके कवि-जीवन में करुणा तथा वेदना का अनुपम सम्मिश्रण है। उसमें मीरा का प्रेम है, कृष्ण का संगीत है एवं बुद्ध की करुणा है। बाल्यकाल से ही बुद्ध के जीवन से प्रेम होने के कारण विश्व की नश्वरता का इनके हृदय पर स्थाई प्रभाव पड़ा है और इसी कारण इनका काव्य करुणाप्रधान हो गया है। उन्होंने वस्तुजगत के सुख-दुख से करुणा और वेदना लेकर उनको कल्पना की मनोहर तूलिका से रंचित कर दिया है और अपने भावजगत को एक अनुपम रूप दिया है।

‘नीहार’ और ‘रश्मि’ की कवयित्री में कोई विशेष भिन्नता नहीं पाई जाती। दोनों में ही दुःख एवं निराशा की भावना की अधिकता है। उनका कवि यहाँ

भी अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया है फिर भी उसे प्राप्त करने की उसके हृदय में व्याकुलता है। यहाँ भी वही 'मूक मिलन' और 'मूक प्रणय' का चित्रण मिलता है। 'रश्मि' में भाषा और भाव का क्रमशः विकास पाया जाता है। 'नीहार' और 'रश्मि' में एक विशेष भिन्नता है और वह यह कि हमें इसमें कवि के उपास्य का दार्शनिक दर्शन प्राप्त होता है।

“रजत रश्मियों की छाया में घूमिल घन सा वह आता ;

इस निदाघ से मानस में करुणा के स्रोत बहा जाता !

उसमें मर्म छिपा जीवन का

एक तार अगणित कम्पन का

एक सूत्र सब के वन्दन का

संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता !”

देवी जी को दुःख से स्नेह है। वह दुःख से ही अपना श्रृंगार करना चाहती हैं। उन्होंने इस पुस्तक के प्रारम्भ में 'अपनी बात' में अपने दुःखवाद का मार्मिक विश्लेषण किया है। उन्हीं के शब्दों में “सुख और दुख के धूप-छाँही डोरों से चुने हुए जीवन में मुझे दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या को सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार साधारणतः जिसे दुख और आभार के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित्त यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है। इसके अतिरिक्त वचन से ही भगवान बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फिलासफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था। अवश्य ही उस दुःखवाद को मेरे हृदय में एक नया जन्म लेना पड़ा, परन्तु आज तक उसमें पहले जन्म के कुछ संस्कार विद्यमान हैं, जिनमें मैं उसे पहचानने में भूल नहीं कर पाती।

“दुख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी नहीं पहुँचा सके, किन्तु हमारा एक बूँद आँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेला भोगना चाहता है, परन्तु दुःख सबको बाँट कर। विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।”

देवी जी इन्हीं कारणों से दुःखवाद का समर्थन करती हैं। इनके काव्य-जगत में दुःख का एक प्रमुख स्थान है और इसीलिए उनकी कविता में दुःख का प्रचुर रूप से समावेश मिलता है। उनको उन सभी वस्तुओं के साथ सहानुभूति है, जिनका जीवन वेदनाप्रधान है। वह उनसे समवेदना प्रकट करती हैं, जिनमें कसक है, पीड़ा है एवं निराशा है। इसीलिए प्रकृति उनके जीवन का एक अंग बन गयी है जिसके साथ वे सर्वदा हँसती, खेलती और गाती रहती हैं। उससे मधुर बातें होती हैं।

इस पुस्तक में 'पपीहा के प्रति' और 'अलि से' आप की प्रारंभिक कवितायें हैं, किन्तु इनमें भी उसी मधुरता एवं आकर्षण की सुन्दर झलक है। इस संग्रह की सबसे प्रथम कविता 'रश्मि' है। इसमें प्रभात का अनुपम चित्रण है। भावना एवं कला की दृष्टि से यथार्थ में इसका प्रथम स्थान होना भी चाहिये।

“चुभते ही तेरा अरुण वान।

वहते कन कन से फूट फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।

इन कनक रश्मियों में अथाह,
लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग;
बुद्बुद् से वह चलते अपार,
उसमें विहगों के मधुर राग;

वनती प्रवाल का मृदुल कूल
जो क्षितिज रेख थी कुहर-स्नान !

सौरभ का फैला केश-जाल
करतीं समीर परियाँ विहार
गीली केसर-मद झूम झूम
पोली तितली के नव कुमार;

मर्मर का मधु संगीत छेड़
देते हैं हिल पल्लव अजान !”

इस रचना में प्रभात का मनोहर रूप अंकित किया गया है। उपा की अरुण चितवन विश्व के सम्पूर्ण कण-कण पर पड़ते ही उसकी निस्तब्धता नष्ट कर देती है और उनमें एक अपूर्व संगीत भर देती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की हृत्तन्त्री भी उस संगीत के अनुपम स्वर से झंकृत हो उठती है। हृदय का कोना-कोना उस झंकार से गूँज उठता है। इसी भाव को लेकर देवी जी ने कितनी सुन्दरतापूर्वक इस कविता में अपनी प्रतिभा का दिग्दर्शन कराया है।

‘रश्मि’ में कवि को अपने आराध्य का दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है, अतः उसकी आत्मा को ठीक रूप से समझने के लिए ‘रश्मि’ यथार्थ में उसकी आत्मा की रश्मि है। यद्यपि वह दर्शन एक धूमिल छाया मात्र है, उसमें अभी स्पष्टता नहीं आई है और इसीलिए उनकी वेदना, कसक, निराशा की भी वही मात्रा है, उसमें अभी कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है।

कवि के लिए स्मृति का आना वसन्त के आगमन से किसी भी रूप में कम नहीं है। वसन्त के आने में प्रकृति की छटा निराली हो जाती है, सभी में एक नई शक्ति आती है और एक नवीन स्फूर्ति का संचालन होता है, उसी प्रकार किसी सुधि के आगमन से कवि में एक नवीनता आती है और एक नवीन रस का संचार होने लगता है। कभी-कभी भूले हुए स्नेह की सुधि हमारे जीवन में वरदान बन कर आती है, जिसके स्मरण मात्र से ही हमारा जीवन सरस हो जाता है। इसे अपने जीवन में किसी न किसी रूप में सभी अनुभव करते हैं। देवी जी अपनी ‘सुधि’ शीर्षक रचना में लिखती हैं—

किस सुधि वसन्त का सुमन तीर,
कर गया मुग्ध मानस अधीर !
वेदना गगन से रजत ओस
चू चू भरती मन कंज कोष
अलि सी मंडराती विरह पीर !
मंज्जरित नवल मृदु देह डाल,
खिल खिल उठता जब पुलक जाल,
मधु कन सा छलका नयन नीर !

अधरों से झरता स्मित पराग,
प्राणों में गूँजा नेह-राग

सुख का बहता मलयज समीर !

घुल घुल जाता यह हिम डुराव,
गा गा उठते चिर मूक भाव,

अलि सिहर सिहर उठता शरीर !

इस कविता में कितना मधुर संगीत है। इसकी एक-एक पंक्ति को पढ़कर हृदय नाच उठता है। हमारे जीवन में ऐसा समय अनायास ही आया करता है जब हमें किसी सुधि का किसी भी प्रकार स्मरण आता है। उस समय हमारा शरीर रोमांचित हो उठता है और हमारे सुप्त भाव जग उठते हैं। कुछ क्षण के लिए हमारा हृदय एक नये वातावरण में विचरण करने लगता है और हमारे

अधरों पर मृदु मुस्कान की एक रेखा अंकित हो जाती है। कभी-कभी तो उस स्मृति से हमारे हृदय की विरह-वेदना जागृत हो जाती है और कभी उससे हमारे मानस में एक उल्लास-सा छा जाता है। देवी जी ने इन्हीं भावों को लेकर 'सुधि' के चित्र को कितनी सफलतापूर्वक चित्रित किया है यह अनुभव करने की बात है।

प्रकृति महादेवी जी की जीवन-सहचरी है। उन्हें अपने जीवन के प्रत्येक कार्य-कलाप में उसका सहयोग प्राप्त-सा होता रहता है। उन्होंने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से ही एक सरस संसार का निर्माण किया है, जो शाश्वत है। जिन-जिन वस्तुओं की न्यूनता इस विश्व में है, उन्हीं की पूर्ति उस काल्पनिक संसार में है। उस संसार का एक-एक परिवर्तन, एक नूतन निर्माण का द्योतक है। ऐसा है देवी जी का कवि-संसार। इस स्थान पर अनायास ही प्रश्न उठता है कि क्यों कवि इस संसार के अन्दर एक दूसरे संसार का निर्माण करना चाहता है। इस संसार में क्या कमी है, जिसकी पूर्ति हम उस संसार में करने की चेष्टा करते हैं? यह तो सच है कि सभी संसार को एक रूप में देखना नहीं चाहते। सभी के दृष्टिकोण में भिन्नता है; किन्तु सभी विश्व की नश्वरता से व्यग्र हो उठे हैं। और इसीलिए अपनी कल्पना से इस संसार को रंजित करना चाहते हैं, जिसमें उन सभी वस्तुओं की पूर्ति रहती है, जिनका अभाव इस संसार में है। इसी प्रकार देवी जी ने भी एक काव्य-जगत की सृष्टि की है जो प्रकृति के समान ही चिर नूतन है। फिर भी यह संसार चर्मचक्षु से दृष्टिगत नहीं हो सकता—कोरे ऐहिक ज्ञान से समझा नहीं जा सकता, वह तो अनुभूति द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। इसीलिए देवी जी ने कविता में प्रकृति के साथ पारस्परिक आत्मीयता स्थापित की है। उनका संसार तो शब्दचित्र के समान ही अनुभव करने की वस्तु है जो उनके आत्म-भाव से रंजित है।

देवी जी को संसार के विभिन्न रूपों से स्नेह है। वे अपने जीवन में हास-रदन-मयी नाना प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण चाहती हैं। वे विश्व की नश्वरता से घबड़ा चुकी हैं—ऊब गई हैं, फिर भी वे इस अवस्था को छोड़ कर दूसरी अवस्था में जाने को तैयार नहीं हैं, वे तो अपना 'मिटने का अधिकार' सुरक्षित रखना चाहती हैं। वे नहीं चाहती कि उन्हें दया का पात्र बना दिया जाय, चाहे उन्हें 'अमरों का लोक' ही क्यों न मिल जाय—

“अमरता है जीवन का हास
मृत्यु जीवन का चरम विकास,”

पुनश्च:—

“सृष्टि का है यह अमिट विधान

एक मिटने में सौ वरदान,
नष्ट कव अणु का हुआ प्रयास
विफलता में है पूर्ति विकास!"

वह तो अपने जीवन को प्रकृति की भांति परिवर्तनशील होते हुए भी चिर न देखना चाहती हैं। वह नहीं चाहती कि उनका अभाव पूर्ण हो जाय:

"मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर।"

जीवन की तृप्ति के कण से भरना उनके लिए असह्य है, क्योंकि सम्भवतः से जीवन ही नीरस हो जाय। वह तो चाहती हैं कि वह अपने आराध्य को ती और खोती रहें। इसीलिए देवी जी ने कहा—

पाने में तुम को खोजूँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो जीवन
चिर तृष्णा हो मिट जाना!

देवी जी को सम्भवतः उपासना की प्रबलता के लिए विरह-जीवन ही मधुर जिसकी प्राप्ति के लिए वह पूर्ण रूप से प्रयत्नशील हैं। अगर मिलन हो जाता फिर तो जीवन ही नीरस हो जाता है, उसकी सभी सरसता ही जाती रहती है। देवी की यह कल्पना यथार्थ में बहुतेरों के लिए आश्चर्य का विषय है, फिर भी वह यों ऐसा चाहती हैं, उसका एक कारण है। जिस मधुर-मिलन की प्रतीक्षा में अनेक प सजाये गये, अनुपम पुष्प चयन किये गये, साधनामय शृंगार किये गये, यदि ही शीघ्र मिल जाय तो यह कार्यशील जीवन ही वेकार हो जाता है। जीवन की सभी उत्सुकता ही नष्ट हो जाती है। इसीलिए देवी जी अपने आराध्य को उस प में देखना नहीं चाहती जिस रूप में मिलन होना सम्भव है। वह इस 'चित्रमय मोड़ा' को अबूरी नहीं रहने देना चाहती। चिर मिलन हो जाने पर फिर तो मिलने की व्याकुलता ही नष्ट हो जाती है और उसी के साथ नष्ट हो जायगी प्रयोग की मधुर कसक।

'द्रुत पंखों वाले मन को
तुम अन्त हीन नभ होना;
युग उड़ जाये उड़ते ही
परिचित हो एक न कोना।

तुम अमर प्रतीक्षा हो मैं
 पग विरह पथिक का धीमा;
 आते जाते मिट जाऊँ
 पाऊँ न पंथ की सीमा।
 तुम हो प्रभात की चितवन
 मैं विधुर निशा बिन आऊँ;
 काटूँ वियोग पल रोते
 संयोग समय छिप जाऊँ।

वह इसी प्रकार अपने आराध्य के पास रहकर भी दूर रहना चाहती हैं, उसे पाकर भी खोना चाहती हैं और इसी भाँति खोते-पाते मिट जाना चाहती हैं।

जिस वस्तु को पाने के लिए हम इतने व्यग्र हैं—इतने लालायित हैं, फिर क्यों उसे पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं करना चाहते? क्यों हम चिर मिलन नहीं चाहते, यह आश्चर्य का विषय है। सत्य तो यह होना चाहिए कि उसकी प्राप्ति में ही, उसके मिलन में हमें परमानन्द प्राप्त हो। किसे अपने आकांक्षित लक्ष्य तक पहुँच कर उसी प्रकार प्रसन्नता नहीं होती जिस प्रकार उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए व्याकुलता होती थी। फिर भी इसका कारण है। हम स्वभावतः उस अवस्था से प्रेम करने लगते हैं, जिसमें हमें कुछ काल तक भी रहना पड़ता है, हम शीघ्र ही उसका परित्याग नहीं कर देना चाहते। हम अपने को इस अवस्था में रहने के कारण ऐसा ढाल लेते हैं कि यह जीवन ही हमें मधुर लगने लगता है। फिर हम इस जीवन को शीघ्र बदलने में असमर्थ होते हैं। परिस्थितियों के प्रति यह मानवीय ममता है।

कवि अपने आराध्य से विछुड़ कर व्यथामय बना हुआ है। उसका जीवन वेदनामय हो गया है। कितने युगयुगान्तर हुए जब इसका वियोग हुआ था फिर भी आज तक किसी भी प्रकार संयोग नहीं हो पाया। कवि की जीवनधारा एक साधना के रूप में बहती चली आयी है, उसमें कोई भिन्नता नहीं आई। इसीलिए तो कवि को अपने जीवन से इतना अनुराग हो गया है कि इसका त्याग करना उसके लिये असह्य है। जीवन में ऐसा भी समय आता है, जब हमें विपरीत परिस्थिति की वस्तु भी एक ही सी मादक, एक ही सी रोचक लगने लगती है। इसीलिये देवी जी को आराध्य की प्राप्ति तो मधुर है ही, किन्तु उसके साथ ही साथ वियोग की पीर भी प्रिय है। इसीलिये तो उन्होंने कहा है:

“प्रिय से कम मादक पीर नहीं।”

क्योंकि दोनों में अब कोई भिन्नता नहीं रह गई है। ऐसा इसलिए है कि हम जिन साधनों से एक मनोनीत साध्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, उन

साध्य के साथ ही हमें उन साधनों से भी प्रेम हो जाता है। हम अपनी दृष्टि में दे नों का एक ही मूल्य निर्धारित कर लेते हैं और इसीलिये हमें केवल वही अवस्था प्रिय नहीं लगती, जिसको पाने की हमारी आकांक्षा है, किन्तु हमें उस अवस्था से भी प्रेम हो जाता है, जिससे होकर हम उस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। अतः महादेवी जी के सम्मुख प्रिय से किसी भी प्रकार 'पीड़ा' का कम मूल्य नहीं है।

महादेवी जी ने जीवन की व्याख्या बहुत ही मार्मिक शब्दों में की है। जिस प्रकार रहस्यवादी अपना अस्तित्व विगत अनेक युगों में खोजने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार कवयित्री ने भी अपना अस्तित्व बीते हुए युगों में खोजने का प्रयत्न किया है। वह किस 'नक्षत्र लोक से टूट' कर शिव की रंगस्थली पर आई हैं, इसका उन्हें स्मरण नहीं है। इसीलिए वे अपना परिचय देने में असमर्थ हो जाती हैं, अतः इतना ही कह कर सन्तोष कर लेती हैं कि वह ओस की बूंद की तरह मोती का मादक स्वरूप धारण कर अज्ञात रूप से विश्व पर ढुलक गई हैं। फिर वह परिचय भी अपने जीवन का कैसे दें।

किन्तु एक बात का उन्हें निश्चय पूर्वक स्मरण है कि :—

किसी निर्मम कर का आघात
छेड़ता जब वीणा के तार,
अनिल से चल पंखों के साथ
दूर जो उड़ जाती झंकार।

जन्म ही जिसे विरह की रात
सुनावे क्या वह मिलन प्रभात ?

कवि अपने मिलन-प्रभात का किस प्रकार वर्णन करे, जब उसे जन्मकाल से ही विरह की भयंकर रात्रि में असहाय बन कर भटकना पड़ा है। उसे कभी भी सहवास सुख प्राप्त नहीं हुआ है। इतना ठीक है कि किसी के निर्मम करों ने उसकी हृत्तंत्री को संकृत कर दिया, किन्तु वह झंकार भी क्षण मात्र में ही नष्ट हो गई, उसे सदैव विरह की सघन रात्रि में जीवन बहान करना पड़ा।

रहस्यवादी मानता है कि उसके जीवन की एक भी चाह या तो पूर्ण ही नहीं हो पाई या शैशव काल की भाँति कुछ समय तक अपना रंग दिखाकर लोप हो गई है। विरह वेदना से ग्रसित जीवन में किसी भी आकांक्षा की पूर्ति होना असम्भव सा प्रतीत होता है और वास्तव में पूर्ति होती भी नहीं। अगर कोई चाह पूरी हो जाय तो फिर जीवन अभावमय क्यों हो। सम्भवतः कवि के जीवन की कोई भी साध पूरी नहीं हो पाई है। जिस प्रकार चंचल बालापन ने उसे धोखा दिया उसी प्रकार आकांक्षाओं से भी उसे निराश होना पड़ा। फिर कवि अपना पिछला

इतिहास कहे तो किस प्रकार कहे और किससे कहे ?

“सिन्धु को क्या परिचय दें देव।

बिगड़ते बनते बीच विलास,

क्षुद्र हैं मेरे बुद् बुद् प्राण।

तुम्हीं में सृष्टि तुम्हीं में नाश

मुझे क्यों देते हो अभिराम

थाह पाने का दुस्तर काम।”

लहर अपना परिचय सिन्धु को क्या दे। वे तो एक ही वस्तु के भिन्न रूप हैं। उनमें भिन्नता केवल नाम की ही है, नहीं तो उनका स्थूल शरीर एक है। उनका आधार एक है और उनका संचालक एक ही है। उसी प्रकार कवि किस प्रकार अपने आराध्य से अपना परिचय दे। प्रथम-प्रथम उसी विराट स्वरूप से ही तो उसका विच्छेद हुआ था। फिर भी इनमें केवल नाम की भिन्नता है, नहीं तो दोनों एक हैं। उसी से अलग होकर इस भूतल पर उसका जन्म है और इस जीवन के नष्ट होने के पश्चात् उसी में फिर एक बार मिल जाना है। फिर तो उसका थाह पाना महा कठिन है। वह नहीं चाहता कि उसे यह दुस्तर काम सौंपा जाय।

दर्शन के मतानुसार आत्मा और परमात्मा में केवल रंग और नाम का भेद है, नहीं तो दोनों एक हैं। आत्मा में अपनी कोई वास्तविक शक्ति नहीं है। वह तो परमात्मा की महान शक्ति से संचालित होती है। उसमें क्रियात्मक शक्ति का जो समावेश मिलता है वह उसकी स्वतंत्र शक्ति नहीं है, वह तो परमात्मा की महान शक्ति का क्षणिक आभास मात्र है। आत्मा का विच्छेद कुछ समय तक के लिये हुआ है किन्तु इस जीवन के पश्चात्—इस नश्वर जीवन के पश्चात्—वह पुनः उसी तत्व में मिल जायगी जिससे उसका जन्म हुआ था। इसी के आधार पर आत्मा को परमात्मा का एक रूप कहा जाता है और यही है महादेवी जी का दर्शन। फिर वह अपना परिचय किस प्रकार उसी को दें, जो इनके जीवन के कोने-कोने से परिचित है। अतः देवी जी अपना परिचय न देकर केवल इतना ही कह कर रह जाती हैं कि मैं तो सभी प्रकार तुम्हारी हूँ। फिर भी मुझे इस प्रकार क्यों विश्व में भटकने को छोड़ देते हो:

“जन्म ही जिसको हुआ वियोग

तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास,

चुरा लाया जो विश्व समीर

वही पीड़ा की पहली साँस!

छोड़ क्यों देते नारम्बार
मुझे तम से करने अभिसार।”

जिस प्रकार किसी कला को समझने के लिये केवल यह ही नहीं आवश्यक है कि हमें उस कलाकार का ज्ञान हो किन्तु उसको पूर्णतया समझने के लिए उस ज्ञान से कहीं बढ़कर यह आवश्यक है कि हम उस कला को भली भाँति समझने का प्रयत्न करें, तभी हम उस कला का रसास्वादन कर सकते हैं। उस कलाकार को समझने का सबसे सरल साधन है उसकी कला। किसी भी सफल कलाकार का अस्तित्व उसकी कला में समाविष्ट रहता है। उसी प्रकार उस महान कलाकार का सफलता-पूर्वक निरीक्षण करने के पूर्व हमें उसकी कला का अध्ययन करना होगा, तभी हम 'उसे' समझ सकते हैं। इसीलिए देवी जी ने कहा है—

“छिपा है जननी का अस्तित्व
रदन में शिशु के अर्थ विहीन,
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान
चित्र की ही जड़ता में लीन
दृगों में छिपा अश्रु का हार
सुभग है तेरा ही उपहार!”

जिस प्रकार भोले शिशु के सारहीन रदन में ही उसकी स्नेहमयी जननी का अस्तित्व छिपा रहता है, जिस प्रकार चित्रकार का परिचय उसके चित्र से ही प्राप्त है, उसी प्रकार उसके नेत्रों में उसके आराध्य का उपहार अश्रु के हार के रूप में छिपा है। इसीलिए तो वह सरस प्राकृतिक दृश्यों में उस प्रियतम की लाली खोजती हैं।

संसार में सम्भवतः ऐसा कोई भी प्राणी न होगा जो शैशव काल की मधुर स्मृति में विना दो-चार आँसू बहाये रह गया हो। वह जीवन-खण्ड भी भला भुलाया जा सकता है। अन्य प्राणी को उसका स्मरण भले ही न हो, लेकिन कोई भी कवि-हृदय उसे विना याद किये नहीं रह सकता, महादेवी जी भी उस दुःख को भूल न सकीं और उस काल के लिए यदा-कदा नयन-नीर वह ही गया। उस संसार के कौतूहल से प्रेम हो जाता है। जो वस्तु हमारे नेत्र के सम्मुख आती है वही उस समय सत्य दीखती है—वही सुन्दर लगती है और उसी में ही हम अपना मंगल देखते हैं। संसार का सभी सुख-दुःख अपना सुख-दुःख जान पड़ता है। इसीलिये कवयित्री ने कहा है—

“किस भाँति कहूँ कैसे थे
वे जग से परिचय के दिन!
मिश्री सा घुल जाता था

मन छूते ही आँसू कन !
 अपनेपन की छाया तब
 देखी न मुकुर-मानस ने ;
 उसमें प्रतिबिम्बित सब के
 सुख-दुख लगते थे अपने ;
 तब सीमाहीनों से था
 मेरी लघुता का परिचय
 होता रहता था प्रतिपल
 स्मित का आँसू का विनिमय !”

ऐसा था उनका उस काल का जीवन ; किन्तु यह जीवन भी बहुत दिनों तक नहीं रह सकता । अन्य जीवन के शैशव काल के समान इसका भी नाश हुआ और उसी प्रकार अनेक 'जग' के शृंगार नष्ट हो गये । वह भोलापन जाता रहा और उसका स्थान ले लिया चंचल जीवन ने ।

किसने अनजाने आकर
 वह लिया चुरा भोलापन ?
 उस विस्मृति के सपने से
 चौंकाया छूकर जीवन ।”

अब यौवन के मृदुल किन्तु क्षणिक संगीत से कवि की हृत्तंत्री झंकृत हो गई । उसका स्वच्छ अंचल अब बहुरंगी हो गया । यह सब हुआ किन्तु वह मादक सुख, वह निर्मल प्रेम जाता रहा । इस जीवन-नभ में संसार के संकट-धन मँडराने लगे और कवि का कोमल एवं सरस हृदय व्यग्र हो उठा ।

वह, जिसे वरदान समझ कर अपनाया था, वही उसके जीवन में अभिशाप बन बैठा । वही जीवन, जो उसके लिये मधुर था, जिसमें मादकता भरी हुई थी, जो दूसरों के लिए शृंगार बना हुआ था, आज विश्व की नश्वर तरंग से असहाय टकरा रहा है । इस भवसागर में उसे अभी तक कोई कूल दृष्टिगत नहीं हुआ । उसके नाविक ने उसकी इस असमर्थता को देखकर भी उस पर करुणा की दृष्टि नहीं डाली । उसने अपने सुदृढ़ करों से उसकी तरी का जीर्ण पतवार—जो सागर की थपकियों से नष्ट प्रायः हो गया है—आकर ग्रहण नहीं किया । वह उसके लिये असह्य हो उठा । जीवन ही उसे भार लगने लगा । उसे इससे वह अनुराग नहीं रहा, जो साधारणतः उसे होना चाहिए और वह व्यथित हृदय से चिल्ला उठा—

इसमें है स्मृतियों की कम्पन
 सुप्त व्यथाओं का उन्मोलन

स्वप्नलोक की परियां इसमें

भूल गई मुस्कान।

विगत जीवन की मधुर स्मृतियां देवी जी के हृदय में चिह्नलता पैदा कर रही हैं। स्वप्नलोक की विभूति के समान उनका मोहक जीवन विश्व की भयंकर व्यथा से घिर गया, उनमें वह मृदुल मुस्कान नहीं रही, उनका जीवन विश्व वेदना-मय हो गया और पूर्व मिलन की गुप्त व्यथा से उनके जीवन में हाहाकार मच गया।

विश्व का नवीन रूप, जो देवी जी के लिए सदैव मायवत् सा प्रतीत होता था— अब एक भयंकर रूप धारण कर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ। उन्होंने अपनी आंखों के सम्मुख नित्य प्रति का परिवर्तन देखा। सरल सुगम वही नेत्रों के आगे अपना अथाह वैभव दिखलाकर सदा के लिए नष्ट हो गये। विश्व में परिवर्तन हुआ, प्रकृति में परिवर्तन हुआ और देवी जी के जीवन में भी महान परिवर्तन हुआ। उनका इन्द्रधनुष का-सा जीवन नष्ट-विनष्ट हो गया और उनका संचित सुख वैभव आंसू बनकर ढुलक गया।

“इन्द्रधनुष सा घन अंचल में,
तुहिन बिन्दु सा किसलय दल में;
करता है पल पल पर देखो
मिटने का अभिमान !

सिक्ता में अंकित रेखा सा;
वात-विकम्पित दीपशिखा सा,
काल कपोलों पर आंसू सा

ढुल-जाता हो म्लान !”

विश्व की नश्वरता के साथ ही जीवन की क्षणभंगुरता ने अपना पूर्ण प्रभाव कवयित्री के सरल हृदय पर डाल दिया। वह हतबुद्धि हो गई, इस नृत्य को सदैव भयंकर से भयंकरतर होते हुए देखकर। विश्व का जो स्वरूप उन्होंने अपने मानस पर अंकित किया था, उसे निर्मम काल ने समय-तूलिका से विपरीत रंग में रंजित कर दिया। अनजाने ही उसने इस जीवन का मोल किया। इसे समझने में उन्हें विशेष विलम्ब हुआ फिर भी उन्हें विगत मानस-अंकित सुधि का स्मरण सहसा हो ही जाता है और यह जीवन को नीरस बना देती है।

कवयित्री के सम्मुख अब विश्व के दो रूप दीख पड़ते हैं। एक रूप तो वह है, जिसे उन्होंने अपनी सहज कल्पना के आधार पर निर्धारित किया है और दूसरा रूप वह है, जो नित्यप्रति उनके नेत्रों के सम्मुख चलचित्र के समान दृष्टिगत होता है। जगती के दो रूप, दो विभिन्न रूप उनके हृदय में एक संघर्ष पैदा कर देते हैं।

वह समझ नहीं सकती कि कौन रूप सत्य है और कौन असत्य है। वह कैसे मान ले कि उसके चर्मचक्षु के सम्मुख जैसी दुनियाँ दीख रही है वही सत्य है, वही भव्य है और वही ठीक है। इस रूप में तो वह मादकता नहीं, वह सरसता नहीं और न वह भव्यता ही है, जो देवी जी ने कविसुलभ हृदय पाकर अपने मानस पर न जाने कब से अंकित कर रखा है। उन्हें इसीलिए तो बारम्बार भ्रांति होती है और वह इस रहस्य के उद्घाटन में जी-जान से संलग्न हो जाती हैं। ऐसे ही संघर्ष-प्रस्फुटित जीवन की विकलता का समाधान साधना से प्राप्त होता है। इसी द्वन्द्वात्मक विश्व की छायात्मकता की स्पष्टता के लिये साधना का सोपान अपेक्षित है। आस्था इन अनिश्चित स्वरूपों की एक निश्चित स्थिति मात्र ही तो है। देवी जी ने स्वाभाविक साधना से अपने कवि को सदैव जागरूक रखा है, यद्यपि बीच बीच में सन्देह की संस्कारिता भी उनमें है। मानवीय विवशता का ही वह प्रभाव है, क्योंकि आगे चलकर उनके जीवन और काव्य की साधना की सफलता एक सहज स्वरूप पा गई हैं।

विश्व का कौन सा रूप सत्य है, यह एक समस्या बन गई है, इसीलिए वह प्रश्न करती हैं—

“कह दे माँ क्या अब देखूँ!

देखूँ खिलती कलियाँ या

प्यासे सूखे अधरों को,

तेरी चिर यौवन सुषमा

या जर्जर जीवन देखूँ!

देखूँ हिम हीरक हँसते

हिलते गीले कमलों पर,

या मुरझाई पलकों से

झरते आँसू कण देखूँ!

सौरभ पी पी कर वहता

देखूँ यह मन्द समीरण,

दुःख की घूँटें पीती या

ठंडी साँसों को देखूँ!”

कितनी व्याकुलता है कवि के इस चिन्तन में। उसकी समझ में नहीं आता कि वह किस रूप को शाश्वत समझें और किसको नश्वर। उसने प्रकृति के प्रांगण में खेलती हुई विभिन्न लताओं से पुष्पों का परिचय प्राप्त किया है। उसने अपने सरस जीवन को उनके मादक जीवन में मिला दिया है। इनके साथ सत्य-छाया

उसने अपनापन खो दिया है, इसीलिए उसकी सुपमा का किंचित मात्र भी ह्रास उसके लिए दुःखकर है। यह तो है ही, किन्तु इससे भी बढ़कर उसे काष्टकर है अपने जीवन में नित्यप्रति परिवर्तन का अनुभव करना। अब उस वसन्त-श्री का विनाश हो गया, जिसकी छत्रछाया में उसने अनेक मनमोहक रोल सेले थे। वह व्यथा अपनी सम्पूर्ण अन्तर्वेदना को समेट कर मार्मिक शब्दों में फूट पड़ी है:

खेळूँ परागमय मधुमय
तेरी वसन्त छाया में,
या झुलसे संतापों से
प्राणों का पतझर देखूँ !
तेरे असीम आंगन की
देखूँ जगमग दीवाली,
या इस निर्जन कोने के
बुझते दीपक को देखूँ।”

एक तरफ नभमण्डल में अनेक दीपक जगमगा रहे हैं, जो प्रसन्नता और उल्लास का द्योतक है और दूसरी ओर कवि के निर्जन मानस-प्रान्त में दीपक की ज्योति सदैव क्षीणतर होती जा रही है। उसका जीवन वियोग का जीवन है, वेदना का जीवन है और पीड़ा का जीवन है। अपने प्रियतम से मिलने की आशा, निराशा में परिणित हो गई है। विश्व के क्रन्दन से कवि-हृदय का कोना-कोना गूँज उठा है। उसने देखा है इन्हीं नेत्रों के सम्मुख अनेक वैभव-सुपमा का नष्ट होते हुए, उसने देखा है घन की पिपासा को शान्त करने के लिए अनेक क्षोपड़ियों को पदाक्रान्त होते हुए और उसने देखा है प्रिय से प्रियजन का वियोग होते हुए। विश्व का मूल ही विनाश के भयंकर कीटों से सेवित है; इसे उसने देखा है, सोचा है और अनुभव किया है। देवी जी दोनों रूप की तुलना करके इसी निष्कर्ष पर पहुँची हैं कि एक ओर विश्व का चिरनूतन, निरन्तर एवं उल्लासपूर्ण रूप है और दूसरी ओर जीर्ण-शीर्ण और नश्वर रूप। एक ओर मादक मोहकता है और दूसरी ओर जगती का भीषण क्रन्दन। एक को सोच कर जीवन उल्लासपूर्ण होता है, किन्तु दूसरे को सोच वेदनापूर्ण।

“तुझ में अम्लान हँसी है
इसमें अजन्त आँसू-जल,
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन. देखूँ।”

किसे सत्य मानें और किसे न मानें इस उलझन को सुलझाने के लिए देवी जी ने अनेक प्रश्न किये हैं।

अपनी 'स्मृति' शीर्षक कविता में महादेवीजी ने अपने पूर्व-जीवन का वर्णन किया है। इन्हीं के शब्दों में वह कहीं से भूल कर आई हैं। यह तो निर्विवाद ठीक है कि वह कहीं से भूल कर आई हैं, क्योंकि उनके इस जीवन से और पूर्व के जीवन में विशेष भिन्नता है। उनके अपने मंगलमय एवं सुखद जीवन की सुधि बारम्बार उनकी स्मृति को प्रज्वलित कर रही है—हृदय में एक कसक पैदा कर रही है।

“कहीं से आई हूँ कुछ भूल।

कसक कसक उठती सुधि किसकी ?

रुकती सी गति क्यों जीवन की ?

क्यों अभाव छाये लेता

विस्तृति सरिता के कूल ?”

इन पंक्तियों में अधीरता एवं कसक का कितना व्यापक रूप है। कवि का स्वरूप पहले क्या था और अब क्या हो गया है, इसका उसे पूर्ण रूप से स्मरण नहीं है। कुछ धूमिल छाया की भाँति उन्हें कुछ अनुभव होता है फिर भी उसे वह स्पष्ट नहीं कर पातीं।

“किसी अश्रुमय घन का हूँ कन,

टूटी स्वर लहरी की कम्पन,

या ठुकराया गिरा धूल में

हूँ मैं नभ का फूल।

दुःख का युग हूँ या सुख का पल,

करुणा का घन या मरु निर्जल,

जीवन क्या है मिला कहाँ

सुधि भूली आज समूल।”

कभी तो वह सोचती हैं कि वह नभ के अनुपम उपवन की पुष्प-श्री हैं, जो ठुकराकर इस जगती में फेंक दी गयी हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण अपने वेदनामय जीवन को देख कर सोचने लगती हैं कि सम्भवतः वह पीड़ामय घन का कण हैं या किसी टूटी स्वर-लहर की कम्पन हैं। वह समझ नहीं पातीं कि उनका यह जीवन सुतमय है या दुःखमय। उन्हें तो ऐसा ज्ञात होता है कि वह अपनी स्मृति सभी प्रकार भूल चुकी हैं। उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं रहा अपने पूर्व-जीवन का और अब तो जगती में उन्हें जो कुछ भी प्राप्त हो रहा है उसे, बिना उसकी प्रतित्रिया को सोचें, वह ग्रहण करती जा रही हैं। ऐसा करना कवि के लिए स्वाभाविक है क्योंकि

जब समय ही प्रतिकूल है फिर अब चिन्ता कैसी कि उसके प्याले में क्या है, वह तो सहर्ष उसे पान करना चाहता है, इसे छोड़कर वह कर भी क्या सकता है।

“प्याले में मधु है या आसव,
वेहोशी है या जागृति नव,
बिन जाने पीना पड़ता है
ऐसा विधि प्रतिकूल !”

‘प्रियतम’ का वियोग, सहानुभूति जगती की संगत एवं जीवन की सुपमा-श्री का नित्यप्रति ह्रास, ये परिस्थितियाँ कवि के सम्मुख वेदना के भयंकर से भयंकर-तर रूप धारण कर जीवन को विह्वल बनाने लगीं। कभी-कभी वह सोचने लगता है कि ‘प्रियतम’ से यदि मिलन हो जाय तो सम्भवतः यह प्रतिकूल वातावरण भी उसके लिये अनुकूल हो जाय। वह अपनी साधना के बल पर उसे प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न करता है फिर भी ‘प्रियतम’ का मिलना सम्भव नहीं दीखता। उसे निराशा पर निराशा होती जाती है।

“अलि कैसे उनको पाऊँ !
वे आँसू बन कर मेरे
इस कारण दुल दुल जाते
इन पलकों के बन्धन में
मैं बाँध बाँध पछताऊँ।”

हृदय की पीड़ामय खोज का कैसा मार्मिक वर्णन है। कवि को यद्यपि अपने प्रियतम का दार्शनिक दर्शन प्राप्त हुआ है फिर भी इससे उसे सन्तोष नहीं। वह तो उसका चिर मिलन चाहता है। कवि इस उत्सुकताजनित विह्वलता के बीच में भी अपने आराध्य का अनुभव करता है, किन्तु वह केवल विचार-बोध है, प्रत्यक्ष-बोध नहीं—

“वे चुपके से मानस में
आ छिपते उच्छ्वास बने
जिससे उनको साँसों में
देखूँ पर रोक न पाऊँ।

वे स्मृति बन कर मानस में
खटका करते हैं निशि-दिन,
उनकी इस निष्ठुरता को
जिससे मैं भूल न जाऊँ।”

उस प्राणी को, जिसे जल के शीतल स्पर्श का आभास तक नहीं मिला है,

जल-वंचित किये जाने पर, उसे उतना दुख नहीं होता जितना उसे होता है, जो एक बार उसे पान कर चुका है। कवि की भी यही दशा है। वह अपने प्रियतम की झलक देख चुका है, उसे किसी न किसी रूप में अनुभव कर चुका है और इसीलिए उसकी व्याकुलता और भी तीव्र हो गई है। वही कवि, जो खोना और पाना चाहता था, अब ऐसा न करके उसका चिर सहवास चाहता है। अब उसे विरह के तम को नाश करने के लिए आराध्य दिनकर की आवश्यकता है। जो कभी विरह और मिलन की धूपछाँही में खेलना सुखकर समझता था, वही अब एक रूप से मिलन-सुख प्राप्त करना चाहता है। इस रहस्य के खेल को खेलते-खेलते वह थक गया। वह तो अब प्रियतम की मृदु मुस्कान से अपनी हृत्तंत्री को संकृत करना चाहता है।

“विरह का तम हो गया अपार
मुझे अब वह आदान प्रदान
बन गया है देखो अभिशाप
जिसे तुम कहते थे वरदान।”

जिसे वरदान समझ कर उसने अपने जीवन में अपनाया था वही अब शाप बन बैठा। ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ कवि की वेदना तीव्र हो उठी है और वह किसी भी प्रकार उसको शान्त करना चाहता है। फिर भी यदा-कदा उसे प्रियतम आ आदेश प्राप्त हो जाता है और वह उसी पथ का अवलम्बन करना चाहता है।

“घन तम में सपने सा आकर,
अलि कुछ करुण स्वरोँ में गाकर,
किसी अपरिचित देश बुलाकर
पथ व्यय के हित अंचल में कुछ बाँध अभु के कण जाता।
सजनि कौन तम में परिचित सा सुधि सा छाया में आता?”

इस प्रश्न में कवि ने इसका उत्तर भी दे दिया है। इन कार्यों का कर्ता कौन है, वह भली भाँति जानता है, फिर भी प्रश्नसूचक शब्दों में छिपाना चाहता है। उसकी यह अवस्था किसने की है, वह अनुभव करता है और यदा-कदा उसको उलाहना भी देता है, फिर भी वह स्पष्ट शब्दों में कहना नहीं चाहता। ऐसा न करने का एक कारण भी है। वह कारण यह है कि वह उनको कौन सी संज्ञा दे, यह उतावला समझ में नहीं आता, क्योंकि उनके वैभव की चमक ने उसके नेत्रों को चकानोंय कर दिया है। वह सोच नहीं पाता कि किस प्रकार उसका मिलन होगा और इस उपकार का बदला किस रूप में उसका निर्धन हृदय चुका पायेगा।

चुका पायेगा कैसे बोल!
मेरा निर्धन सा जीवन तेरे वैभव का मोल?

पापाणों की शय्या पाता
उस पर गोले गान बिछाता
नित गाता गाता ही जाता

जो निर्झर उसको देगा क्या मेरा जीवन लोल ?”

फिर भी उसे एक बात को सोचकर रन्तोप है और अपने प्रियतम तक जाने का साहस है। वह समझता है कि वैभव युक्त होकर भी वे सदय होंगे और उसे वियोग की व्यथा से मुक्त करेंगे। यह कवि का दृढ़ संकल्प है।

“विश्व में वह कौन सीमाहीन है,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला ?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान हो ?”

प्रेम की यही तो अपार शक्ति है। उसके सामने महान से महान को भी शीश झुकाना पड़ता है। कवि को विश्वास है कि उसका प्रियतम भी उसी प्रकार उसके सम्मुख आवेगा।

देवी जी ने मृत्यु को ‘अंतिम पाहुन’ कह कर सम्बोधन किया है। इसी से स्पष्ट है कि उन्हें विकलतापूर्ण विह्वल क्षणों से मृत्यु अधिक मधुर लगती है।

कितने युग बीत गये निधियों का करते संचय,
तुम थोड़े से आँसू से इन सबको कर लेना क्रय,
अब हो व्यापार विसर्जन।”

विश्व की विपमता के कारण ही देवी जी यह कल्पना करने को बाध्य हुई हैं; किन्तु अब तक भी उनका लक्ष्य आराध्य तक पहुँचना और उसे प्राप्त करना है। उनकी आशा तो उसी प्रकार नवीन एवं अपूर्ण है:

“इस आशा में मैं उसमें
बैठी हूँ निष्फल सपने घोल,
कभी तुम्हारे सस्मित अधरों—
को छू वे होंगे अनमोल।”

‘रश्मि’ में अपने आराध्य का दार्शनिक दर्शन ही महादेवी जी का आध्यात्मिक विकास है और भाषा और कल्पना को उत्कृष्ट रूप देना साहित्यिक विकास है। देवी जी के काव्य में आध्यात्मिक विकास के साथ ही साथ सुन्दर साहित्यिक विकास भी निरन्तर होता जा रहा है और यह साहित्य के लिये बहुत ही मंगलमय होगा।

नीरजा :

‘नीरजा’ महादेवी जी का तीसरा काव्य संग्रह है। ‘नीहार’ की अपेक्षा ‘रश्मि’ में भावों की गठन अधिक है, इसी प्रकार ‘नीरजा’ में भावों की व्यापकता अधिक है। भावों को जो सौन्दर्य नीरजा में मिला है, वह पिछली दोनों कृतियों में नहीं। भावों का सहज प्रवाह अपने में आँसुओं की स्वच्छता तथा मार्मिकता लिये है। अपने वेदना-प्रधान भावनाओं को भी उन्होंने उसमें एक स्वाभाविक शृंगार दे दिया है, जिससे वे दुःख के नीरस आघातों के उपादान मात्र न होकर सुख का स्वप्न-सा बन गये हैं। महादेवी जी प्रधानतः अनुभूति की कवयित्री हैं, यही कारण है कि सामाजिकताजन्य प्रश्नों के साथ उन्हें अन्य बहुत से कवियों के साथ अपना काव्य-क्षेत्र बदलना नहीं पड़ा। भाषा तथा भावनाओं की परिमार्जित शैली के साथ उनके काव्य का आधार एक ही है। ऐसा होना उचित भी है, क्योंकि ठोस वास्तविकता को कल्पना की रंगीनी अपने में ढँक भी तो नहीं सकती। ‘नीरजा’ में उन्होंने एकविध तन्मयता पा लिया है, कहीं-कहीं तो उनकी भावप्रवणता ने उनके बाह्य ज्ञान को एकदम विस्मृत-सा कर दिया है—

सकुच सलज खिलती शेफाली,

हरसिंगार झरते हैं झर झर।

वसंत के समय शेफाली तथा हरसिंगार का दो अलग-अलग फूलों की भाँति वर्णन समय और वस्तु के रूप का उल्लंघन है। इसका कारण केवल भावों का आवेग है। अनुभूति के कवि को ऐसी विस्मृति होना सहज है। अनुभूति से विरल क्षणों की भावना को शब्दों में ज्यों का त्यों सजा लेना यदि एकदम असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है। अनुभूतियाँ भी कई थेंगी में विभाजित हैं, किन्तु स्वस्थ अनुभूति की अभिव्यक्ति सदैव सहज, सरस तथा मंगलमय होती है। ‘नीरजा’ की कवयित्री की अनुभूति इसी कोटि की है।

आज, क्या कवि क्या कोई कलाकार, क्या एक साधारण मनुष्य, मानसिक बोझों से दबा है। प्राचीन काल में इतना बोझ नहीं था। संसार और समाज की समस्याएँ इतनी जटिल नहीं थीं। इसका परिणाम यह होता था कि उनकी अनुभूति भी सहज बोधगम्य होती थी, पर ऐसा अब नहीं है। आज की अनुभूति तथा कल्पना किसी परम्परागत विश्वास पर नहीं टिकती वरन् वह अपने स्वरूप की चित्रोपमता की वास्तविकता को लालायित रहती है, इसीलिए सत्य होकर कुछ अदृश्य सी रहती है। रहस्यवादी अनुभूति के लिये ऐसा होना अधिक सम्भव है। कवि भी तो इसी भूमि-भाग का निवासी होता है, उसे भी संसार के संघर्ष का स्पर्श करना पड़ता है। वस्तुतः उसकी अपनी एकान्त अनुभूति भी कुछ खोई-खोई सी रहती

है। 'नीरजा' की निश्चित और गम्भीर अनुभूति भी शायद इसी कारण 'नीहार' की सहज सुपमा नहीं पा सकी। कुछ कलात्मकता भले ही बढ़ गई हो, पर हम उसे कृत्रिमता भी तो कह सकते हैं। यद्यपि ऐसी कृत्रिमता दोष नहीं गुण ही है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "सृष्टि के जिस अंश के साथ हमारे हृदय का संयोग है अर्थात् सृष्टि के जिस अंश से हमारे मन में सिर्फ ज्ञान का नहीं, बल्कि हृदय में भाव का भी संचार हो जाता है (जैसे फूल के सौन्दर्य और पर्वत के महत्व से वहिर्ज्ञान प्राप्त होता है, साथ ही एक भाव भी उदय होता है) उस अंश में न जाने कितनी निपुणता दिखलानी पड़ती है, कितना रंग ढालना पड़ता है और कितनी धूमधाम और आयोजन की आवश्यकता पड़ती है—फूल की प्रत्येक पंखुड़ी को न जाने कितने परिश्रम से सुगोल और सुस्निग्ध बनाना पड़ता है; और पुष्प तरु के मस्तक पर कितनी मनोज्ञ बंकिम भावभंगी के साथ उसे सुशोभित करना पड़ता है। ईश्वर ने अपनी रचना में जहाँ प्रेम, सौन्दर्य और महत्व प्रकट किया है, वहाँ उन्हें भी कारीगरी करनी पड़ी है; वहाँ उन्हें भी ध्वनि और छन्दों, वर्ण और गन्धों का बड़े परिश्रम के साथ विचित्र संयोग करना पड़ा है।" कवि भी अपनी सृष्टि में इन साधनों की सहायता लेता है। साधना का रहस्यवाद स्मरण तथा आस्था की सफाई से भी चल सकता है, किन्तु काव्य का उपादान लेकर वह कलात्मक अवश्य होगा। काव्य केवल कवि की ही नहीं बरन अखिल विश्वव्यापी जीवन की एक भव्य भावना है अस्तु उसकी अभिव्यक्ति नाना रूपकों तथा उपमाओं के माध्यम से ही अपनी व्यापकता को पकड़ सकती है।

'नीरजा' महादेवी जी के अन्तर्जगत का भावयोग है। शुक्ल जी से ठीक ही लिखा है—“जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है।” 'नीरजा' में हमें महादेवी जी के हार्दिक भावों का यही रस-परिपाक मिलता है। जल-तरंग से जल का हिल्लोलित हो उठना कला की इसी कमनीयता का संप्राण प्रमाण है।

मानव-हृदय जब विरह-वेदना से सन्तप्त हो जाता है तब उसका काव्य वेदना-प्रधान हो जाता है, किन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रहती। जब वेदना और निराशा की ज्वाला परिपूर्ण रूप से प्रज्वलित होती है तब वह एक प्रकार से पागल हो उठता है और इसी स्थिति में गीत का निर्माण होता है। महादेवी जी की यह पुस्तक भी गीतों का संग्रह है। यह आपकी कविताओं का तीसरा संग्रह है और साहित्यिकों के मतानुसार आपकी सर्वसुन्दर कृति है। इस कथन की पुष्टि में केवल इतना ही कहना यथेष्ट है कि इसी पुस्तक पर आपको हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा पारितोषिक दिया जा चुका है।

जिस लक्ष्य को देवीजी अपनी पूर्वकृतियों में ठीक रूप से नहीं समझ सकी थी, उसे 'नीरजा' में विशेष रूप से समझ पाई हैं। अभी तक वे 'नीहार' और 'रश्मि' के सन्धि काल के अन्धकार में पड़ी हुई थी और वहीं अपने लक्ष्य को टटोलती-सी जान पड़ती थीं। इसीलिए उनकी रचना भी स्पष्ट नहीं हो पाई थी। उन दिनों अस्पष्ट-सा आत्मबोध हुआ था, इसी कारण उनकी भावनायें भी इतनी स्पष्ट नहीं बन पायीं। उन्हें अनेक प्रकार के रूपक बाँधने पड़े, किन्तु 'नीरजा' में वे अपने भावों को स्पष्ट रूप से रखने में सफल हुई हैं और यह आपके क्रमशः विकास का लक्षण है। यह ठीक है कि आप सदैव आगे की ओर जा रही हैं, पीछे लौटने के शाप से वंचित हैं और यह साहित्यिक शुभ लक्षण है और यही कारण है कि सफल साहित्यिक महारथियों में आप की गणना की जाती है।

महादेवी जी एक करुण अनुभूतिप्रधान कवयित्री हैं। उनकी अनुभूति इतनी सजल है कि उनकी कल्पना की चंचलता उसमें ओतप्रोत होकर केवल लिपट-सी जाती है, उसमें ऊपर उठने की शक्ति नहीं है। इसीलिए देवी जी ने अपने जीवन के प्रथम प्रभात में जो कुछ भी चिन्तन किया है वह आज भी उसी रूप में उन्हें सत्य जान पड़ता है। यह दूसरी बात है कि इनकी भाषा में कुछ स्पष्टता आई है और भावों में गम्भीरता। उन्होंने अपने अटल विश्वास के बल पर अपने आराध्य का जैसा रूप निर्माण किया था वह रूप आज भी उनके सम्मुख सत्य है; उसमें भिन्नता नहीं आई है। विश्व की वास्तविकता कठोर से कठोर क्यों न हो, उन्हें अपने विश्वास से नहीं डिगा सकती।

अभी-अभी बतलाया गया है कि देवी जी अनुभूतिप्रधान कवयित्री हैं, उनकी अनुभूति सहज सिद्ध या स्वयं साधक है। उनमें अनुभूति की इतनी प्रधानता है कि उन्हें विशेष चिन्तन करने का अवकाश ही नहीं मिलता। यह भी हो सकता है कि आप सहज अनुभूति को चिन्तन के जाल में फँसाना नहीं चाहती। आपने इसके विषय में स्वयं ही कहा है, "याद नहीं आता, जब मैंने किसी विषय-विशेष पर, या वाद-विशेष पर, या विशेष पर सोचकर कुछ लिखा हो, इसीलिए आप अपनी कविता की अनुभूति से ही प्रारम्भ करती हैं और अनुभूति में ही अन्त करती हैं। किन्तु जहाँ कहीं भी आपने अनुभूति के साथ ही साथ चिन्तन भी किया है, वहाँ आप की भाषा जटिल हो गई है और भाव कुछ अस्पष्ट हो गये हैं। कवि के लिए बहुत अंशों तक यह आवश्यक नहीं है कि वह चिन्तन करे ही। देवी जी की कविताएं इसकी सत्यता का स्वरूप हैं।

महादेवी जी की कल्पना में मौलिकता है। उनकी कल्पना इतनी मधुर एवं सरस होती है कि हृदय अनायास ही उसकी ओर खिंच जाता है। वह उन सभी

आघातों को मधुर बनाती हैं, जिन्हें प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हमारा हृदय सह चुका है। वह विश्व की नश्वरता पर हमें खलाती हैं और विरह की असह्य वेदना पर हमारी सहानुभूति भी प्राप्त करती हैं; किन्तु उनकी दुख-भावना में भी एक मधुरता तथा शीतलता है। उनकी कल्पना में और अन्य कवियों की कल्पना में भिन्नता है। उनकी कल्पना केवल नभमंडल में प्रासाद बनाने में ही संलग्न नहीं रहती, केवल अपने चंचल मन को व्यर्थ यत्रतत्र चलायमान नहीं करती—किन्तु उतनी ही दूर तक जाती है, जहाँ तक जाना आवश्यक है और उसके पश्चात् पुनः इसी विश्व-रंगस्थली पर लौट आती है। सम्भवतः वह उतनी दूर जाना भी नहीं चाहती, जहाँ से विश्व का वास्तविक रूप दृष्टिगत न हो। वह कल्पना-जगत में विचरण करती हुई भी जग की वास्तविकता को स्पर्श करती रहती हैं और यही स्वाभाविक है। इसीलिए आपकी कविता का हृदय पर स्थाई प्रभाव पड़ता है।

“तुम्हें बाँध पाती सपने में

तो चिर जीवन प्यास बुझा

लेती उस छोटे क्षण अपने में !

पावस घन सा उमड़ बिखरती

शरद निशा सी नीरव घिरती

धो लेती जग का विषाद

ढुलते लघु आँसू कण अपने में।

शाप मुझे हो जाते वर सा,

पतझर मधु का मास अजर सा,

रचती कितने स्वर्ग एक

लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में।

साँसें कहतीं अमर कहानी

पल पल बनता अमिट निशानी

प्रिय ! मैं लेती बाँध मुक्ति

सौ सौ लघुतम बन्धन अपने में।”

कितना मार्मिक चित्रण है। यह कविता किसी को भी अपना बनाने में समर्थ है। कवि अपने प्रियतम को क्षण मात्र के लिए अपने में बाँधना चाहता है। इसमें कितनी व्यापक असमर्थता एवं अधीरता है। स्वप्न में भी अपने आराध्य को प्राप्त कर देवी जी अनेक स्वर्गों की रचना करने की मधुर कल्पना करती हैं। यदि यह कल्पना सत्य हो जाती तो अभिशाप भी उनके लिए वरदान बन जाता, नीरस पतझड़ भी सरस वसन्त की अनुपम सुषमा से ओतप्रोत हो जाता और वह न जाने

कितनी मुक्तियों को मिलन के उस लघुतम प्रहर में ही प्राप्त कर लेतीं। फिर उनके सम्मुख असीम और समीम में कोई भेद-भाव ही नहीं रह जाता, क्योंकि इस असीम-विस्तृत तारोंमय नभमंडल को तो वह अपने नेत्रों में छिपा लेने की शक्ति पा जातीं।

महादेवी जी की यह रचना पूर्व रचनाओं से अधिक सुखप्रद है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें अब व्याकुलता नहीं रही अथवा वह अपने लक्ष्य पर पहुँच गई हैं। इसका मतलब केवल यही है कि उन्हें लक्ष्य का पूर्ण ज्ञान हो गया है। अभी तक जो पथ तिमिर से आच्छादित था, वह अब कुछ साफ-साफ दीखने लगा है। दूरीसूचक शिलाखंड, जो अभी तक अदृश्य था वह अब दृष्टि-पथ में आ गया है; जिससे उनको कम से कम इतना अनुमान तो हो ही गया कि वह कहाँ है और उनका लक्ष्य कहाँ है। किसी भी भ्रान्त एवं श्रान्त पथिक के लिए वह शिलाखंड एक नवीन उत्साह और मधुर आशा के रूप में दीख पड़ता है, और उससे उस पथिक-विशेष की आत्मा को शान्ति मिलती है। उसी प्रकार महादेवी जी भी अपने आराध्य को विशेष रूप से अनुभव करने लगी हैं। इसीलिए उनका काव्य भी अब अधिक शान्तिप्रद होने लगा है। कवयित्री वसंत का आवाहन इसलिए करती है कि उसे किसी प्रकार ज्ञात हो गया है कि उसका 'प्रियतम' आने वाला है। उसका हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो गया है। यही नहीं, उसकी दृष्टि में तो विश्व के कण-कण भी उसकी अगवान्ती करने के लिए प्रस्तुत हैं। सुमधुर नूपुर-ध्वनि एवं किकिणि के मादक शब्द से विश्व गूँज उठा है।

“मर्मर की सुमधुर नूपुर ध्वनि,

अलि-गुंजित पद्मों की किकिणि,

भर पद गति में अलस तरंगिणि,

तरल रजत की धार बहा दे

मृदु स्मित से सजनी

बिहँसती आ वसन्त रजनी!

सिहर सिहर उठता सरिता उर,

खुल खुल उठते सुमन सुधा भर,

मचल मचल आते पल फिर फिर,

सुन प्रिय की पदचाप हो गई ,

पुलकित यह अवनी!

सिहरती आ वसन्त रजनी!

कितना अनुभवपूर्ण वर्णन है। अपने प्रिय का आगमन सुनकर अंग-प्रत्यंग का सिहर उठना, कम्पित हो उठना, कितना स्वाभाविक है। ऐसे सभी किसी न

किसी रूप में अवश्य ही अनुभव करते हैं। कवि ने उसी अनुभव के बल पर सिंह-रती हुई वसन्त-रजनी का आवाहन किया है। वह अवस्था ही ऐसी है कि सभी को उत्सुक बना देती है। साधक पागल-सा हो जाता है। यह पागलपन और भी बढ़ जाता है, जब बहुत दिनों के पश्चात् प्रियतम का मिलन होता है। विरह में एक-एक पल एक-एक युग के समान जान पड़ता है। समय काटे नहीं कटता। हृदय में एक ही इच्छा रहती है कि शीघ्र ही वह मंगलमय घड़ी आये और विरह और मिलन के मध्य का समय शीघ्र ही समाप्त हो जाय। इसीलिए देवी जी वसन्त-रजनी को प्रकृति की विभिन्न अकथ अनुपम सुपमाओं से सजाना चाहती हैं—जो कवि-हृदय और इससे भी बढ़कर नारी-हृदय पाकर उनके लिए स्वाभाविक ही है। इसीलिए तो वह इतनी मधुर कल्पना करने में समर्थ हुई हैं।

इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर आपने कितने मधुर स्वरों में गाया है:

“पुलक पुलक उर, सिंहर सिंहर तन,

आज नयन आते क्यों भर भर?

पिक की मधुमय वंशी बोली,

नाच उठी सुन अलिनी भोली;

अरुण सजल पाटल बरसाता

तम पर मृदु पराग की रोली;

मृदुल अंक धर, दर्पण सा सर

आज रही निशि दृग इन्दीवर!

आज नयन आते क्यों भर भर!

जीवन जल कण से निर्मित सा;

चाह इन्द्रधनु से चित्रित सा;

सजल मेघ सा धूमिल है जग

चिर नूतन सकरुण पुलकित सा,

तुम विद्युत बन, आओ पाहुन

मेरी पलकों में पग धर धर!

आज नयन आते क्यों भर भर?

कवयित्री ने प्रिय की मधुमय वंशी की मादक तान को कर्णगत कर लिया है और उस स्वरलहरी पर वह मुग्ध-सी हो गई है। इसीलिए उसका शरीर नव-जात तारु के समान कम्पित हो रहा है, किंतु उसका मानस आनन्द की मृदुल हिलोरो पर झूल रहा है। यह सिंहरन भी अभी-अभी होनेवाले मधुर-मिल-

विह्वलता की द्योतक है! मनोविज्ञान के पंडितों ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि दो ही अवस्था में नेत्र सजल होते हैं। एक दुःख की भयंकरता के कारण और दूसरे सुख की गम्भीरता के कारण, अतः कवयित्री के नयन सुख की गम्भीरता के कारण, भर-भर आते हैं। उसमें सुख की गम्भीरता क्यों न हो। जिसने, न मालूम कितने दिनों से (अपने आराध्य से) विछुड़ कर एक साधक समान अपना जीवन व्यतीत किया है, आज उसी की पदचाप सुनकर उसी की मधुर स्वरलहरी को श्रवण कर उसकी अगवानी में अपने शरीर को ही नहीं किन्तु सकल विश्व प्रात को भी अनुपम रूप से सजाना स्वाभाविक ही है। आज साधक के जीवन के विरह-तिमिर का अन्त हो रहा है और उसका स्थान ले रही है मिलन-उपा। फिर कवि उन्मत्त-हृदय हो क्यों न नाचने लगे। वह क्यों न अपने को अनुपम रूप से सुसज्जित करे। अपने 'पाहुन' के लिए देवी जी के हृदय में कितना उच्च स्थान है। उन्हें डर है कि यदि वह कहीं कठोर भूतल से होकर आयेगा तो सम्भवतः जगती के शूल उससे अठखेलियाँ करने लगे या उसके पाँव में छाले पड़ जायँ। इसीलिए वे उनसे अपने पलकों पर पग धर-धर कर आने का आग्रह करती हैं। इस कल्पना में भारतीय नारी-हृदय की कितनी महानता दीख पड़ती है। भले ही इस महानता को हम नवीन सभ्यता के पोषक कल्पना की क्रीड़ा कहें, किन्तु भारतीय परंपरा की साधना में निरत महादेवी जी के लिए वही आदर्श अब भी आदरणीय है।

कवयित्री ने इस पुस्तक से अपने जीवन में—अपने कवि-जीवन में एक नवीन धारा प्रवाहित की है, जो सुख और दुःख की मिश्रित धारा है। यह दुःख-सुख मिश्रित अनुभूति की नवीन धारा, जो 'नीरजा' के रूप में प्रवाहित हुई है, इस बात का द्योतक है कि देवी जी को आत्मानन्द प्राप्त होने लगा है। यह सत्य है कि यहाँ भी उसी प्रकार की विरह-वेदना का वर्णन मिलता है। फिर भी इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें अपने उपास्य की मृदुल झाँकी भी दीखने लगी है। इसीलिए अब वे उत्कंठित हो कर कुछ मिलन-बेला की प्रतीक्षा करने लगी हैं। यह परिवर्तन अत्यन्त मधुर एवं हृदय-आकर्षक है। तभी तो वह अनुभव करती हैं—

“एक करुण अभाव में विर-

तृप्ति का संसार संचित;

एक लघु क्षण दे रहा

निर्वाण के वरदान शत शत;

पा लिया मैंने किसे इस

वेदना के मधुर क्य में?

कौन तुम मेरे हृदय में?

गूँजता उर में न जाने
 दूर के संगीत सा क्या।
 आज तो निज को मुझे
 खोया मिला, विपरीत सा क्या।
 क्या नहा आई विरह-निशि
 मिलन-मधु-दिन के उदय में?
 कौन तुम मेरे हृदय में?

मूक सुख-दुख कर रहे
 मेरा नया शृंगार सा क्या?
 झूम गवित स्वर्ग देता—
 नत धरा को प्यार सा क्या?
 आज पुलकित सृष्टि क्या
 करने चली अभिसार लय में?
 कौन तुम मेरे हृदय में?

महादेवी जी की किसी भी पूर्व-रचना से इस रचना की तुलना की जाय तो सहज में ही अनुभव किया जा सकता है कि उनमें कितनी भिन्नता आ गई है। हृदय में अब पहले सी व्याकुलता नहीं है। अब भ्रान्त पथिक की भाँति वह व्यर्थ यत्र-तत्र घूमती नहीं दीखती। आज तो उन्होंने अपनी वेदना के नयुर क्रय में किसी को पा लिया है, जो उनके लिए अनेक स्वर्ग प्राप्त करने के समान है। आज उनकी हृत्तंत्री किसी दूर के संगीत से संकृत हो उठी है। यही नहीं आज उनकी विरह-रजनी मिलन-मधुदिन के उदय में स्नान करके आई है और उनके मौन दुःख-सुख आज नवीन रूप से उनका शृंगार कर रहे हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनका हृदय किसी भावी सुख का अनुभव कर रहा है। पहिले देवी जी अपने आराध्य का परिचय प्राप्त करने के लिए व्यग्र रहा करती थीं। आज उसकी अनुपम झाँकी देखकर आनन्द-विभोर हो गई हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि वह किस प्रकार उसका परिचय दें। उसे किस रूपक में बाँधें यह सोचने में वह असमर्थ रह जाती हैं, फिर भी उनकी हृदय-सरिता अनायास ही फूट पड़ती है और वह गाने लगती हैं—

“तुम मुझ में प्रिय फिर परिचय क्या।

तेरा मुख सहास अरुणोदय

परछाईं रजनी विषादमय
 यह जागृति वह नींद स्वप्नमय,
 खेल खेल थक थक सोने दो
 मैं समझूंगी सृष्टि प्रलय क्या

रोम रोम में नन्दन पुलकित
 साँस साँस में जीवन शत शत।
 स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित

मुझमें नित बनते-मिटते प्रिय
 स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या।'

जब किसी प्राणी के जीवन से किसी की घनिष्ठता हो जाती है, तब उसे वह 'अपना' कहने लगता है। वह उसका परिचय भी उतनी स्पष्टता पूर्वक नहीं दे सकता जितना कोई अन्य प्राणी दे सकता है। यदि किसी वस्तु को नेत्रों के निकटतम लाकर देखा जाय तो उसकी बुराइयाँ अथवा अच्छाइयाँ सभी लोप हो जाती हैं और वह एक रंग से रंजित दीख पड़ती है। इसीलिए जो अपना है उसे हम अपने-पन का केन्द्र समझने लगते हैं। उसी प्रकार महादेवी जी की आत्मा अपने आराध्य के निकट से निकटतर आती जा रही है, अतः स्वाभाविक है कि वह उसमें सभी कुछ अपना सा ही देखें, क्योंकि वह उसे अपना बना चुकी हैं। इसीलिए देवी जी संसार के अनुपम विशेषणों से अपने प्रियतम को विभूषित करना चाहती हैं। यही कारण है कि वह उसका परिचय देने में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकतीं और यही असफलता उनके लिए सफलता का चिह्न है; क्योंकि इसी अवस्था में उनमें नित्यप्रति अनेक निर्माण और प्रलय होते रहते हैं। इसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए वह स्वर्ग को भी ठुकराने के लिए तैयार हैं।

'नीहार' और 'रश्मि' में कवयित्री को जिस आराध्य की आराधना की आकुलता थी, उसका निश्चित स्वरूप कुछ अस्पष्ट-सा था। उसकी सार्वभौमिकता तथा सनातनता की अभिव्यक्ति तो थी, किन्तु उसका मधुर व्यक्तित्व निरूपित नहीं था। 'नीरजा' में उसकी स्पष्ट-सी एक झाँकी है, अस्तु महादेवी जी उपा की मृदुल हँसी को देखकर कल्पना करती हैं कि यह उनके आराध्य की ही हँसी है। रजनी के सघन अन्धकार को देखकर सोचने लगती हैं कि यह उसी की छाया है। वह अपने आराध्य की आध्यात्मिक हाला को पान कर अपने को मादकता से जीव-प्रोत कर देना चाहती हैं, क्योंकि यह सम्पूर्ण विद्व ही उन्हें उसली विशाल 'गुण-शाला'-सा दीख पड़ता है। उन्हें तो अब इतना भी सोचने का अवकाश नहीं है कि वह जो पान कर रही हैं, वह क्या है। अगर अमृत पान करती हैं तो अमर हो जाती

हैं और अपने प्रियतम को प्राप्त करने में समर्थ हो जाती हैं; और अगर विष भी पान करती हैं तो भी अपने को मिटाकर उन्हीं चरणों में लीन हो जाती हैं। इसीलिए उनके सम्मुख हार और जीत में कोई विशेष भिन्नता नहीं है :

“हारूँ तो खोऊँ अपना पन
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन
जीत वनूँ तेरा ही बन्धन
भर लाऊँ सीपी में सागर

प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या !”

अब तो दोनों का परिणाम एक है, कहने के लिए भले ही हार या जीत हो। दोनों में इतनी समता हो गई है कि विना इनके सहयोग के कोई कार्य होना असम्भव है। कवि और उसका प्रियतम तो अब काया-छाया के समान हो गये हैं। फिर एक को छोड़ दूसरा कहाँ जा सकता है। इस सम्मेलन की सफलता यथार्थ में सुखकर है। देवी जी ने इसीलिए सीपी में महान सागर को भरने की मधुर कल्पना की है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा का सहयोग ही ऐसा है। वे बेसुध-सी हो गई हैं। उस मादक सौन्दर्य को अवलोकन कर वह कुछ उद्भ्रान्त-सी हो गई हैं। उन्हें कभी-कभी तो स्मरण भी नहीं रहता कि वह क्या कह रही हैं। ठीक भी है—असल को पा लिया जिसने उसी का नाम पागल है।

महादेवी जी का काव्य इसी कारण कहीं-कहीं अस्पष्ट सा हो गया है। उन्हें कभी इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि वह जो लिख रही हैं—जिस भव्य भाव को अपने शब्द-तार में पिरो रही हैं, वह वास्तव में सर्वसाधारण के लिए सुगम है अथवा नहीं। इस अवस्था में अगर वह इसका प्रयत्न भी करतीं तो सम्भवतः सफल नहीं हो पातीं, क्योंकि वह उन दृश्यों का वर्णन करती हैं, जिसको सर्वसाधारण अभी तक पूर्ण रूप से समझ नहीं सका है। वह उन रूपकों से परिचित नहीं, जिसको एक रहस्यवादी कवि, जिसको अपने प्रियतम का अध्यात्मिक दर्शन प्राप्त है, अनुभव के बल पर बंध सकता है। देवी जी को इसका अनुभव होता है :

“मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !”

देवी जी की कविताओं में राजस और सात्विक अनुभूतियों का समान रूप से समावेश मिलता है। आसक्ति की प्रखरता के समय उनकी भाषा दुर्वोध और अस्पष्ट हो जाती है। उस समय उन्हें स्वयं भी स्मरण नहीं रहता कि वह क्या लिख रही हैं। यद्यपि इस अवस्था में भाषा अलंकारिक और भाराक्रान्त हो जाती है, इसीलिए सुबोध नहीं रहती। देवी जी को इसका ज्ञान रहता है, फिर भी ऐसा

न करने में असमर्थ हैं। सदैव उनकी इच्छा यही रहती है कि भाव सुगम हों और भाषा सरल, किन्तु वे अपनी भाव-सरिता के तीव्र वेग को रोकने में असमर्थ हैं। उस तीव्र धारा के साथ वह अपने को भी वहा देती हैं। अपनी भावना की अनुगामी बन जाती हैं। तन्मयता की यही तल्लीनता भी तो है।

“दीपक सा जलता अन्तस्तल,
संचित कर आँसू के बादल,
लिपटा है इसमें प्रलयानल,
क्या यह दीप जलेगा तुझसे
भर हिम का पानी
वतला जा रे अभिमानी।”

इन पंक्तियों को पढ़कर सहज में ही अनुमान किया जा सकता है, कि यहाँ भाव में क्लिष्टता आ गई है, क्योंकि यहाँ चिन्तन की प्रधानता है।

‘नीरजा’ में जहाँ कहीं भी अनुभूति की प्रधानता है—और विशेष कर उसकी प्रधानता है भी, वहाँ भाषा सरल हो जाती है और भाव सुबोध हो जाते हैं। ऐसे स्थान पर अनायास ही देवी जी की विह्वलता और विरह-वेदना का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। यह पीड़ा हमें अपना बना लेती है—यहीं हम कवि के साथ रोते और हँसते भी हैं। यह हँसी वेदना की अधिकता के कारण ही है, क्योंकि दुःख की चरम सीमा सुख है। कवि को इसमें विश्वास है और इसी आशा के बल पर वह आँसुओं का हार बनाया करता है।

यह पहले ही वतलाया गया है कि ‘नीरजा’ देवी जी की अन्य कृतियों से अधिक सुखप्रद है, क्योंकि इसमें आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। यहाँ हमें निराशा के साथ ही साथ आशा की ज्योतिर्मयी रेखा दृष्टिगत होती है। कवि अपने प्रियतम की पग-ध्वनि सुन चुका है और उसके स्वागत के लिए सभी प्रकार संलग्न है। उसका जीवन जो एक प्रकार उपासना का जीवन है, का सम्भवतः अन्त हो रहा है, तभी तो वह अपना शृंगार करना चाहता है, तभी तो वह विश्व के प्रांगण में वसन्त का चिर धौवनरूप देखता है और तभी तो उसके हृदय को उल्लास के मृदुल तरंग गुद-गुदा रहे हैं। हमें देवी जी को महान आत्मा का दर्शन यहीं प्राप्त होता है, जो विश्व के दुःख-तिमिर को अपने साधना-सुख की प्रखर किरणों से नष्ट कर देना चाहती हैं। यही उनकी महानता है।

अपने आराध्य का आना निश्चय जानकर विदुषी महादेवी वर्मा कवि महादेवी वर्मा को आदेश करती हैं कि तुम अपना शृंगार कर लो। अब उनका आना निश्चय है फिर तुम कब तक यह विह्वल रूप धारण किये रहोगी।

“शृंगार कर ले री सजनि !

तू स्वप्न सुमनों से सजा तन

विरह का उपहार ले ;

अगणित युगों की प्यास का

अव नयन अंजन सार ले !

अलि मिलन गीत बने मनोरम

नूपुरों की मंदिर ध्वनि।

शृंगार कर ले री सजनि।

आज अगणित युगों की पिपासा शान्त होने वाली है फिर क्यों न कवि अपना शृंगार करे। आज वह प्रियतम के निकेतन की ओर प्रस्थान करने वाला है, इस लिए शीघ्रातिशीघ्र सम्पूर्ण रूप से तैयार हो जाना चाहता है, क्योंकि उसे विदित है कि उसका निकेतन अब दूर नहीं है और पथ भी अब अज्ञात नहीं है। अपने को स्वप्न-सुमनों से सजाने और विरह का उपहार लेने की कितनी सरस कल्पना की गई है। ऐसी सुखद अनुभूति का चित्रण हमें प्रथम-प्रथम इसी काव्य-संग्रह में मिलता है।

अब भी देवी जी के उर में एक विकलता है यद्यपि अब प्रिय का मिलन प्रायः निश्चय है फिर भी वह नहीं चाहती कि विरह और मिलन के मध्य की दूरी विलग हो। उनकी एक मात्र इच्छा उससे शीघ्रातिशीघ्र मिलने की है। इसीलिए वह अपनी चिर मिलन-यामिनी से शीघ्र से शीघ्र आने का निवेदन करती हैं:

“आ मेरी चिर मिलन-यामिनी।

तममयि ! घिर जा धीरे धीरे,

आज न सज अलकों में हीरे

चौंका दे जग इवास न सीरे

हौले झरे शिथिल कवरी में—

गूँथे हर शृंगार कामिनी !

हौले डाल पराग विछौंने,

आज न दे कलियों को रोने,

दे चिर चंचल लहरें सोने,

जगा न निद्रित विश्व ढालने

विधु प्याले से मधुर चांदनी।

आ मेरी चिर मिलन यामिनी।”

आज कवयित्री अपनी हृत्तंत्री को विरह-रागिनी से झंकृत नहीं करना चाहती;

वह नहीं चाहती कि आज उसका हृदय करुणा-कंदन करे और न वह आज अपने नेत्रों को सजल ही करना चाहती है। आज उसकी मनोकामना सिद्ध होती जान पड़ती है, क्योंकि अब वह चिरविरहिनी नहीं कहलायेगी। आज तो विश्व का कण कण उन्हें चिरसोहागिनी कहेगा। यह कवि-जीवन का कैसा महान परिवर्तन है। एक समय था जब देवी जी को जीवन ही भार-सा बन गया था, किन्तु आज वही जीवन नूतन सरसता से प्लावित हो मनोरम बन गया है।

एक समय था जब कवयित्री सर्वदा नीरस पतझर का ही स्वप्न देखा करती थी। ऐसा इसलिये था कि उसकी हृत्तंत्री भी विरह की रागिनी से झंकृत थी। वह विरह-व्यथा की भयंकरता से ऊब चुकी थी। उसे क्षण मात्र के लिए भी यह विश्वास नहीं था कि उसे अपने आराध्य का कभी सहवास भी प्राप्त होगा, यद्यपि आशावादी के समान निराशा में भी वह आशा की झलक देखती थी। फिर भी सम्पूर्ण विश्व ही उसे नीरस जान पड़ता था। आज समय बदल चुका है—अवस्था बदल चुकी है, अतः उसके जीवन में भी महान परिवर्तन हो रहा है और यह परिवर्तन स्वाभाविक भी है। अब वह इसीलिए तो अपने जीवन को वसन्त की अनुपम सुषमा-श्री से ओत-प्रोत कर देना चाहती है।

“मैं बनी मधुमास आली

आज मधुर विषाद की घिर करुण आई यामिनी;

बरस सुधि के इन्दु से छिटकी प्रलय की चाँदनी;

उमड़ आई री दृगों में

सजनि कालिन्दी निराली।

रजत-स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली;

जाग सुख-पिक ने अचानक मंदिर पंचम तान ली;

वह चली निश्वास को मृदु

वात मलय निकुंज पाली।

मैं बनी मधुमास आली।”

आज सहसा कवयित्री के उर-मन्दिर में सुख-पिक ने पंचम तान छेड़ दी है, जिससे विश्व का कोना-कोना मनोरम रागिनी से झंकृत हो उठा है। आज भी मधुर विषाद की करुण यामिनी घिर आई है, फिर भी वह सघन नहीं होने पाई, क्योंकि उसकी गम्भीरता को नष्ट करने के लिए सुधि-चन्द्रमा की चाँदनी छिटकी हुई है। यह विरह और मिलन के मध्य का समय है इसलिये दोनों का प्रभाव रहना उचित है। फिर भी नित्य प्रति विरह-दुख की न्यूनता और मिलन-सुख की अभिवृद्धि बढ़ती जा रही है, जो स्वाभाविक ही है। आज वह आराध्य के स्वागत के लिये

अपने को सभी प्रकार से तैयार कर चुकी है। अब उसके रोम-रोम में मधु-स्नात पाँवड़े बिछे हुए हैं। इस अवस्था में तो उसकी एक मात्र यही मनोकामना है कि प्रिय की मादक राग वाली मुरली से उसका मानस गुँज उठे और वह अपने को बलिदान कर दे उस स्वर-लहरी पर। इसीलिए तो देवी जी प्रश्न करती हैं कि ऐसी अवस्था में भी क्या प्रिय की मुरली नहीं गुंजित होगी :

“क्या न अब प्रिय की वजेगी

मुरलिका मधुराग वाली ?”

अब ऐसा अनुमान होता है कि कवयित्री उस मादक स्वर-लहरी से अपनी हृत्तंत्री को झंकृत कर चुकी है। इसीलिये अब वह ‘मतवाली’ बन गई है और उसका प्रिय ‘अलबेला’ बन गया है। यह और भी सुखद अनुभूति है। अब देवी जी के जीवन में कहीं भी एकाकीपन का दर्शन नहीं होता। जब प्रियतम का आगमन हो रहा है फिर एकाकीपन कैसा।

“मैं मतवाली इधर उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है।

उसकी स्मित लुटती रहती

कलियों में मेरे मधुवन की;

उसकी मधुशाला में बिकती

मादकता मेरे मन की;

मेरा दुख का राज्य मधुर

उसकी सुधि के पल रखवाले;

उसका सुख का कोष, वेदना

के मैंने ताले डाले;

वह सौरभ का सिन्धु मधुर मधु की बेला सा है ?

मुझे न जाना अलि ? उसने

जाना इन आँखों का पानी;

मैंने देखा उसे नहीं

पग-ध्वनि है केवल पहचानी;

मेरे मानस में उसकी स्मृति

भी तो विस्मृति बन आती;

उसके नीरव मन्दिर में

काया भी छाया हो जाती;

क्यों यह निर्मम खेल सजनि ! उसने मुझ से खेला सा है।”

कितना मधुर वर्णन है। यद्यपि कवयित्री ने अपने प्रियतम का मादक

दर्शन प्राप्त नहीं किया है, फिर भी उसकी पग-ध्वनि उसने पहचानी है, और इसी-लिये उसके हृदय में आज तीव्र विह्वलता है। इसी व्याकुलता के कारण महादेवी जी के हृदय में प्रिय की स्मृति भी विस्मृति बन जाती है। कितना अनुभवपूर्ण वर्णन है। जब हम किसी वस्तु-विशेष को निर्निमेष नेत्रों से देखते रह जाते हैं तब एक ऐसी अवस्था आती है जब वह वस्तु-विशेष ही दृष्टिपथ से दूर चली जाती है। उस वस्तु को अपने सत्य रूप में नहीं देख कर विह्वल होना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि उसे चिन्तन की गम्भीरता के कारण अपने चर्मचक्षु के सम्मुख न देखकर हतबुद्धि हो जाती है।

इस नैराश्य अनुभूति के अन्तर्गत मिलन के चिन्ह विद्यमान हैं। कवयित्री ने इसे निश्चयपूर्वक जान लिया है और साथ ही साथ समझ भी लिया है। बिना आशा-निराशा के सहयोग के विश्व में किसी भी कार्य का होना असम्भव है। कोई कार्य उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक एक अनुपात में दोनों की शक्ति न लगाई जाय। देवी जी को विश्व की प्रत्येक वस्तु में प्रियतम की झलक दीखती है, सभी जगह उसकी आभा दीखती है, क्योंकि दोनों एक ही प्रकार की लाली से लाल हैं :

“मेरी आँखों में ढलकर

छवि उसकी मोती बन आई;

उसके घन प्यालों में है

विद्युत से मेरी परछाई,

नभ में उनके दीप, स्नेह

जलता है पर मेरा उनमें;

मेरे हैं यह प्राण कहानी

पर उसकी हर कम्पन में।”

उपासक और उपास्य का कैसा अनुपम सम्मेलन है। महादेवी जी की सजल आँखों में प्रिय की अनुपम छवि विद्यमान है और प्रिय के घन प्यालों में देवी जी की रूपरेखा छिपी है। एक ओर स्वप्न की हाट लगी है तो दूसरी ओर छाया का मेला लगा है। नभ में एक का दीपक जलता है, किन्तु उस दीपक को जीवनदान देने का श्रेय दूसरे को है, क्योंकि वही उसे अपने स्नेह से प्रतिक्षण आलोकित करता है। इस पद्य में सान्निध्य-सुख की कितनी मनोहर साँकी है। एक-दूसरे में मिल जाने की कितनी व्यापक तत्परता है। देवी जी जानती हैं कि बिना एक के सहयोग के दूसरे का कार्य नहीं हो सकता, इसीलिये वह सभी प्रकार से अपने को आराध्य में मिला देना चाहती है। यही नहीं प्रियतम भी सभी प्रकार उनमें लीन हो जाना चाहता है, इसी प्रकार तो ससीम और असीम का मयुर मिलन सम्भव है।

महादेवी जी अपने मानस रूपी दीपक को सर्वदा प्रज्ज्वलित रखना चाहती हैं। वह ऐसा इसलिये करना चाहती हैं जिससे उनके प्रियतम का पथ अन्धकारमय न हो जाय—उसे कहीं पथ में भटकना अथवा ठोकर खाना न पड़े। वह अपने उपास्य की रक्षा के लिये भयंकर से भयंकर सन्ताप झेल सकती हैं—भीषण से भीषण विपत्तियों का सहर्ष सामना कर सकती हैं, किन्तु उन्हें एक क्षण के लिये भी यह स्वीकार नहीं है कि उसे किसी प्रकार क्लेश हो। इसी संकल्प से उनकी महानता जानी जा सकती है। वह अपने मधुर दीपक को आदेश देती हैं—

“मधुर मधुर मेरे दीपक जल

युग युग प्रति दिन प्रति क्षण प्रति पल,

प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूम वन ,

मृदुल मोम सा घुल रे मृदुतन ;

दे प्रकाश का किन्तु अपरिमित

तेरे जीवन का अणु जल जल !

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर ,

सुभग न तू बुझने का भयकर ;

मैं अंचल की ओट किये हूँ

अपनी मृदु पलकों से चंचल !

सहज सहज मेरे दीपक जल !

कितना उच्च आदर्श है। प्रियतम के पथ को प्रकाशवान करने के लिये देवी जी अपने मृदुल शरीर को मोम के समान गला देना चाहती हैं। अपने जीवन के कण-कण से वह ज्योति का अपरिमित सिन्धु बहा देना चाहती हैं, जिससे युग युगान्तर तक प्रियतम का पथ आलोकित होता रहे। इस कविता का अन्तिम छन्द तो और भी मनमोहक है। ‘अंचल की ओट’ लिखकर वास्तव में देवी जी ने नारी-हृदय की करुणा तथा सरसता का परिचय दिया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि भयंकर से भयंकर झंझावात क्यों न हो उनके सहज अनुराग का दीपक बुझने का नहीं। अगाध स्नेह से लवालव दीपक का बुझना यों ही कठिन है, फिर जब वह अंचल की ओट में छिपाया गया हो।

महादेवी जी को कभी-कभी ऐसा भ्रम-सा हो जाता है कि उनका प्रियतम आकर लौट गया है। ऐसा भ्रम होना स्वाभाविक भी है। उन्होंने सम्पूर्ण विश्व में उसी प्रिय की सभी कहीं प्रतिछाया देखी है और उसे हृदयंगम भी किया है।

इसीलिए अगर किसी भी स्थान पर उन्हें उसकी छवि का दर्शन होता है तो वह समझने लगती हैं कि वह आया था और उस छवि के नष्ट हो जाने पर सोचने लगती हैं कि वह आकर चला गया। विश्व का वातावरण उनके अनुकूल ही बन जाता है। यह सोचकर उनके हृदय को क्लेश होता है तब वह दूसरी कल्पना करने में असमर्थ हैं।

“प्रिय गया है लौट रात !

सजल धवल अलस चरण

मूक मंदिर मधुर करुण,

चांदनी है अश्रु स्नात !

किसके पद-चिन्ह विमल,

तारकों में अमिट विरल,

गित रहे हैं नीर जात !

किसकी पदचाप चकित

जग उठते हैं जन्म अमित

श्वास श्वास में प्रभात !”

कवयित्री को अपने प्रियतम के लौट जाने का प्रमाण जगती के विभिन्न विभूतियों में मिलता है। वह स्पष्ट रूप से उसके पदचिन्ह को देख रही है और इसलिये उसका व्यथित हृदय और भी विह्वल हो रहा है। भले ही इस भ्रम को हम कवि की कल्पना का सृजन कहें फिर भी यह भ्रम सर्वथा स्वाभाविक है, जो अनुभव किया जा सकता है।

कवयित्री को विश्वास है कि जब उसका प्रियतम आवेगा तो विश्व के कण-कण में उल्लास छा जायगा। इसीलिए वह जब कभी विश्व के किसी भी अंग को आनन्द विह्वल देखती है तो सोचने लगती है कि सम्भवतः उसका प्रियतम आ रहा है। कलि को अपने यौवन पर इठलाते देख, नभ-मंडल को मुस्कराते देख, तारक परियों का नर्तन देख, उसे अनायास ही विश्वास हो जाता है कि उसका प्रियतम आनेवाला है। इस चिन्तन में कितनी व्यापकता है। इस चिन्तन के लिये सदैव निराश भी होना पड़ा है फिर भी अपनी इस सहज चिन्तना को वह छोड़ नहीं सकती।

“मुस्काता संकेत भरा नभ

अलि क्या प्रिय आने वाला है ?

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रही कंसी उलझन,

रोम रोम में होता री सखि एक नया उर सा स्पन्दन !”

नभ मंडल की मुस्कराहट को—संकेत भरी मुस्कराहट को देताकर देवी जी

प्रश्न करती हैं कि—क्या उनका प्रिय आनेवाला है ? उन्हें यह विदित है कि बिना उसको आते देख नभमंडल कभी हँस नहीं सकता है। फिर यह संकेत भरी हँसी तो उनके विश्वास को और भी दृढ़ कर देती है और कवयित्री की आत्मा में उसके आगमन की प्रतिक्रिया के सहज चिन्ह दृष्टिगत होने लगते हैं —रोम-रोम एक नवीन प्रकार के कंपन से कम्पित हो रहा है। नयन श्रवणमय और श्रवण नयनमय हो रहे हैं। यह कल्पना सर्वथा मौलिक है। तुलसीदास जी ने अपने 'मानस' में इतना ही कह कर सन्तोष किया था—

“गिरा अनयन नयन विनु बानी।’

किन्तु देवी जी ने तो उससे भी अनुपम एवं सरस कल्पना की है। साधक को अपने अंगप्रत्यंग पर इतना अधिकार है कि वह किसी भी अंग-विशेष को किसी दूसरे अंग-विशेष के कार्य को करने के लिए वाध्य कर सकता है। इसीलिए तो उसके नयन श्रवण के कार्य कर सकते हैं और श्रवण नयन के।

देवी जी को प्रायः आलोचकों से इस बात की आलोचना सुननी पड़ती है कि उनका काव्य क्यों करुणामय ही है, क्यों वह नित्यप्रति रोना ही चाहती हैं, और क्यों उन्हें दुःख से इतनी ममता है। उन्होंने इस आलोचना का उत्तर 'अपनी बात' में देने का प्रयत्न किया है। फिर भी उन्हें संतोष नहीं है कि उनके आलोचक अब शान्त हो गए हैं, इसीलिए अपनी एक कविता में उसे और भी स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनसे जितने प्रश्न किए गए हैं उसे अपनी भाषा में रख कर उसी से वह अपने आलोचकों को अकाट्य उत्तर दे सकी हैं; साथ ही साधना-पथ का निर्देश भी है।

“कहता जग दुःख को प्यार न कर !

अनवींधे मोती यह दृग के

बँध पाए बन्धन में किसके ?

पल पल बनते पल पल मिटते

तू निष्फल गुँथ-गुँथ हार न कर !

यह मधुर कसक तेरे उर की;

कंचन की और न हीरक की;

मेरी स्मित से इसका विनिमय

कर ले यह चल व्यापार न कर !

सुख-मधु में क्या दुख का मिश्रण !

दुख-विष में क्या सुख मिश्री-कण

जाना कलियों के देश मुझे

तो शूलों से शृंगार न कर !

कहता जग दुःख को प्यार न कर !

यह कैसे सम्भव हो सकता है कि जब हमें कलियों से प्रेम करना है तो उसके सहयोग में रहने वाले शूलों से घृणा करें। फूलों की मनोहरता तो काँटों में रहने के कारण और भी निखर उठती है। कवि फिर क्यों न दुःखों से अपना शृंगार करे। दुःख के समय में संसार से एक अनुपम सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है इसी-लिए उसे दुःख इतना प्यारा है। उसे इसी में विश्वास है—यथा

‘तुम दुख बन इस पथ में आना !

शूलों में नित मृदु पाटल सा;

खिलने देना मेरा जीवन,

क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को विधवाना !”

‘टूट गया वह दर्पण निर्मम’ को कवयित्री ने कितने मार्मिक शब्दों से चित्रण किया है। सम्भवतः यह विश्व-दर्पण उसे अपने अराध्य के उपहार के रूप में मिला था तभी तो उसके टूट जाने से उसके हृदय पर एक गम्भीर आघात पहुँचा है। आस्थावान साधक विश्व के सुख-दुख दोनों ही को आध्यात्मिक उपहार मानता है। यह विश्व एक दर्पण की भाँति है, जिसमें हम अपने मन की स्थिति के अनुकूल सुख-दुख के स्वरूप देखते हैं। साधना के सवल सम्बल से जब आत्मा इन दोनों का सामंजस्य स्थापित कर लेती है, तब इस दर्पण का महत्व नहीं रह जाता, क्योंकि यदि अपना स्वरूप हम बिना दर्पण के देख पायें तो उसकी कुछ उपयोगिता नहीं रह जाती। आत्मबोध की सीमा के छू लेने पर यह विश्व-दर्पण व्यर्थ सा हो जाता है।

“टूट गया वह दर्पण निर्मम !

उसमें हँस दी मेरी छाया,

मझुमें रो दी ममता माया,

अश्रु-हास ने विश्व सजाया,

रहे खेलते आँख-मिचौनी

प्रिय ! जिसके पर्दे में ‘मैं’ ‘तुम’ !

इस दुखद घटना को कितने करुण शब्दों में देवीजी ने अपने आराध्य को सुनाने की चेष्टा की है। जैसे उनके साधना की उद्बोधना सहज ही में प्रवाहित हो उठी हो।

जब उपासक की उपासना पूर्ण हो जाती है तब उपास्य का पूजन हृदय के अन्दर ही नित्य प्रति होता रहता है। इस अवस्था में अन्तर्मुखी गणितयाँ जग उठनी

हैं और उपास्य की उपासना भीतर ही भीतर होने लगती है। सम्भवतः देवी जी भी इसी मानसिक अवस्था में पहुँच गई हैं। इसीलिए तो वह कहती हैं —

“क्या पूजा क्या अर्चन रे!

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे!

मेरी श्वासें करती रहतीं नित प्रिय का अभिनंदन रे!

पदरज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण रे!

अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी पीड़ा का चन्दन रे!

स्नेह भरा रहता है झिलमिल मेरा यह दीपक मन रे!

मेरे दृग के तारक में नव उत्पल का उन्मीलन रे!

धूप बने उड़ते रहते हैं प्रति पल मेरे स्पन्दन रे!

प्रिय प्रिय जपते अधर ताल देता पलकों का नर्तन रे!

स्पष्ट है कि कवयित्री का रोम-रोम ही अपने प्रिय की आराधना में व्यस्त है।

‘नीरजा’ की कवितायें इसी प्रकार बड़ी ही मार्मिक हुई हैं। ‘तुम सो जाओ मैं गाऊँ’, ‘लय गीत मंदिर लय ताल अमर’, ‘जग करुण करुण मैं मधुर मधुर’, ‘लाये कौन संदेश नये घन’, ‘जग ओ मुरली की मतवाली’, ‘प्राण पिक प्रिय-नाम रे कह’, से उसी विह्वल आत्मानन्द का परिचय मिलता है। देवीजी ने अपने उल्लासपूर्ण सुख के वर्णन में अनेक नूतन रूपकों का सृजन किया है, जिनसे उनके काव्य की सुघरता एवं सजीवता पूर्णरूप से निखर उठी है। ‘नीरजा’ में गीतों के अनुपम स्वरूपों का दर्शन होता है, जो साहित्य के लिए अनमोल निधि है।

सांध्यगीत :

‘सांध्यगीत’ महादेवी जी की काव्य-साधना का चतुर्थ चरण है। इसे हम उनकी साधना का सुफल कह सकते हैं, क्योंकि तन्मयता की जिस अवस्था में शब्दों और छन्दों की गति-विधि खो-सी जाती है, उसी अवस्था में गान प्रारम्भ होता है। साधना के स्वरों और भावना के पदों से इसकी रचना हुई है। इस पुस्तक के अध्ययन से यह पता चलता है, कि महादेवी जी की वेदनाप्रधान भावना को, उनके करुण दुःखवाद को, उनकी साधना के सरस सुखद गीतों ने सुखमय बना दिया है। दुःख के सुखमय स्वरूप का निरूपण किसी अन्य काव्य में ऐसा नहीं है। इस रचना में कवयित्री ने वैयक्तिक सुख-दुख की सीमा को पार कर लिया है, उन्होंने स्वयं लिखा है कि ‘नीरजा’ और ‘सांध्य गीत’ मेरी उस मानसिक स्थिति को व्यक्त कर सकेंगे, जिसमें अनायास ही मेरा हृदय सुख-दुख में सामंजस्य का अनुभव करने लगा। पहिले

बाहर खिलने वाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था मानो वह मेरे ही हृदय में खिला हो, परंतु उसके अपने से भिन्न प्रत्यक्ष अनुभव में एक अव्यक्त वेदना भी थी; फिर सुख-दुख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी और अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस बाहर भीतर में एक सामंजस्य-सा ढूँढ़ लिया है, जिसने सुख-दुख को इस प्रकार वुन दिया है कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का अप्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।'

ऐसा अनुभव स्वभाव से मधुर होता है। उनके गीतों में करुणा, वेदना के होते हुए भी माधुर्य की प्रधानता इसी कारण से है। उन्होंने लिखा भी है, 'मैंने दुःख में प्रथम तभी सुख-मिश्री घोली।'

साधक तो एक समर्पित व्यक्ति होता है। उसकी एक खोज होती है और उस खोज की तीव्रता तथा तन्मयता ही आगे चलकर संतोष की संज्ञा पा जाती है। शायद इसीलिये कभी साधक अपने पथ में थक कर ऊबा नहीं वरन् चलता ही गया है और स्वयं साध्य भी वन बैठा है। देवी जी ने लिखा भी है कि—

आकुलता ही आज हो गई तन्मय राधा।

विरह बना आराध्य द्वैत क्या कैसी बाधा।

इस प्रकार ससीम की असीम खोज में क्षण-क्षण पर भिन्न अनुभवों की आकुलता दीखती है। कभी मिलन-सुख का वर्णन कभी वियोग-पीड़ा का वर्णन, कभी प्रतीक्षा का और कभी अतीत स्मृति का वर्णन मिलता है।

इसका एकमात्र कारण यह है कि इस अनन्त की खोज की सार्थकता एवं सिद्धि साधक की भावातिरेक की तीव्रता तथा तन्मयता मात्र है, वस्तुतः साधना की एकाग्रता के अनुरूप साधक को अनुभव भी प्राप्त होता है। रहस्यवाद का यही रहस्य है। रहस्यवाद की इन्हीं आकुल-व्याकुल तथा मुकुलित पुलकित अनुभूतियों के गीत 'सांध्यगीत' में हैं।

हृदय की आतुरता, दर्शन का असंतोष, बुद्धि की विवेचना तथा भावनाओं की आकुल आकांक्षा सभी का इस रचना में एक स्वाभाविक सम्मिश्रण है। प्रारम्भ से ही देवीजी के काव्य की एक अपनी विशेषता रही है, किन्तु इस रचना में तो उन्होंने काव्य सौन्दर्य की सीमा का सहज ही में स्पर्श कर लिया है। अब तक की रचनाओं में यह उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है। देवी जी अपनी जीवन-साधना को लेकर कविता में एक निजी संगीत भर रही हैं। एक वनदेवी की भाँति अपनी उपासना की आस्था का उन्होंने निसर्ग सुन्दर कवि-संसार साहित्य को दिया है। ऐमे साधनामय काव्य को हमारे यहाँ उपनिषदों में आत्मा की कला कहा गया है। ऐसी कला, जिसमें कलाकार के प्राण अन्तःसलिला सरसवती की भाँति दिग्गो रहते हैं,

वह संसार के लिये अवश्य ही आनन्दमय एवं मंगलमय होगी। 'सांध्यगीत' में महादेवी जी की अन्तः प्रकृति की सजलता और बाह्य प्रकृति की प्रांजलता के भावों का गुम्फन-गान है। हमें उनकी कविता के शब्द-शब्द में, उनके व्यक्तित्व की गति-गति में एक ऐसे कलाकार तथा महान आत्मा के दर्शन होते हैं, जिसमें साधना और संयम के साथ संपूर्णता का आभास है। उनकी काव्य-सृष्टि में मानवता की साधना, विकास की सीमा और आध्यात्मिकता का मूल प्राण है, जो युग-युगों से मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का एक मात्र उपादान रहा है।

'सांध्यगीत' वर्तमान गीत-युग की एक अनुपम रचना है, इसमें सन्देह नहीं है।

नवयुग के काव्य का अगर कोई भी पाठक आलोचनात्मक दृष्टि से निरीक्षण करे तो सहज में ही वह इस निर्णय पर पहुँचेगा कि इसमें मुख्य रूप से तीन ही बातों की प्रधानता है। वे हैं कल्पना, चिन्तना और अनुभूति। इसके अन्य रूप भी हो सकते हैं, किन्तु वे अत्यंत उपेक्षित हैं।

केवल कल्पना में कवि अवस्था से क्रान्त हो उठता है। विश्व की नश्वरता, मानव-सुषमा की क्षणभंगुरता एवं जगती का प्रतिकूल वातावरण कवि के हृदय में असन्तोष और प्रतिरोध की अग्नि भड़का देता है। वह संसार को जिस रूप में देखना चाहता था, उस रूप में नहीं देख सका, इसीलिये उसकी आत्मा निराश हो उठती है। इसी अवस्था में वह अपनी कल्पना से अपनी इच्छा के अनुकूल एक मनोरम जगत की सृष्टि करता है। उसमें उन सभी वस्तुओं की पूर्ति रहती है, जिनका अस्तित्व सम्भवतः इस जगती में नहीं है। इस स्थान पर अनायास ही यह प्रश्न उठता है कि वह क्यों काल्पनिक जगत का निर्माण करता है। इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। वह इसलिए एक नूतन संसार की सृष्टि करता है कि उसकी आत्मा वास्तविक संसार में कोई सरसता नहीं पाती। आत्मानन्द के लिए ही वह इस कार्य को करता है और इसके द्वारा अपनी आत्मा को जगती के झमेलों से बचाकर इस काल्पनिक संसार में विचरण करता है, जहाँ उसे प्रत्येक वस्तु में सुन्दरता दीखती है।

अंग्रेजी साहित्य में जिसे हम रोमांटिसिज़्म का युग कहते हैं, वह कल्पना-प्रधान युग ही है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य के इस युग को हम रोमांटिसिज़्म का युग कह सकते हैं। कवि स्वभावतः नहीं चाहता कि उसकी स्वतंत्र आत्मा मानव-निर्धारित कायदे-कानून के फंदे में फँस जाय। वह वास्तविक संसार से इन्हीं कारणों से डरता है और एक नई दुनिया का निर्माण मनोरम से मनोरम कल्पना के बल पर करता है। जहाँ प्रेम के पावन नाम पर अत्याचार नहीं किया जाता; और जहाँ

सत्य का गला घोटा नहीं जाता। हिन्दी 'रोमांटिसिज़्म' और अंग्रेज़ी 'रोमांटिसिज़्म' में विशेष भिन्नता है। हिन्दी साहित्य पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और अंग्रेज़ी साहित्य पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव और ऐसा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक भी है, फिर भी दोनों के मूल तत्व में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

संसार एक विशाल नाटकशाला है। प्रतिदिन परिवर्तन, प्रतिक्षण परिवर्तन यही इस संसार का नियम है। यहाँ सभी प्राणियों को किसी न किसी रूप में इस महान खेल में भाग लेना आवश्यक है। समय-चक्र के अनुसार यवनिका का परिवर्तन होता रहता है। इस बहुधा विस्तृत लीला को देखकर प्रत्येक प्राणी कुछ चिन्तन करता है। वह समझने में असमर्थ रहता है कि यह हो क्या रहा है। कवि भी चिन्तन करता रहता है। वह यह जाने का प्रयत्न करता है कि उसकी वास्तविक अवस्था क्या है और संसार कहाँ से कहाँ जा रहा है। वह जब इस परिस्थिति में पहुँचता है तो वह प्रायः कल्पना की अवस्था पार कर चुका होता है। यही कारण है कि वह किसी भी वस्तु-विशेष को उसके यथार्थ रूप में देखना नहीं चाहता; उसे अवश्य ही वह कल्पना के आभूषण से आभूषित कर देता है। पुनो के मोहक चन्द्रमा को देखकर, कोकिला की मादक स्वर-लहरी सुनकर अथवा सघन जलद से आच्छादित नभमंडल को देखकर चाहे कवि कुछ और चिन्तन करे, किन्तु अनायास वह अपनी प्रेमिका या इसी प्रकार की किसी अन्य वस्तु को कल्पना की तूलिका से रंजित करके देखने का अभ्यासी है। जहाँ दार्शनिक किसी सत्य को उसके यथार्थ रूप में देखने का प्रयत्न करता है, वहाँ कवि उसे सुन्दर कर के गाने की इच्छा रखता है।

मानव जीवन में अनेक दुःख हैं—सुख भी हैं, किन्तु दुःख से बहुत ही कम, जीवन की भीषणता का अनुभव कर वह विह्वल हो उठता है, कातर हो जाता है और निराश भी हो जाता है। तभी तो उसकी हृत्तंत्री के तार दुःख के आघात से बज उठते हैं। इसका वह अनुभव करता है और विशेष रूप से करता है। कवि भी टीक इसी प्रकार दुःख की अधिकता से घबड़ा उठता है। एक साधारण मनुष्य, साधारण व्यक्ति अपने जीवन में जिस सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त करता है, उसे कवि असीम जगत में अनुभव करता है। इसीलिए विरह-कातर कवि सूर्य, चन्द्र और तारकों को देखकर असीम विश्व में उस अपठनीय पत्र का अनुभव करता है जिसे उसका प्रिय भेजता है। कभी अपने प्रिय के पास संदेश भेजने के लिए वह जलद को दूत बनाना है तो कभी पवन को; और उसी दूत के द्वारा उसकी कुशलता भी ज्ञात कर लेता है। वह किसी की सहानुभूति प्राप्त करता है तो किसी से उपेक्षित होता है। जलद उसकी दयनीय दशा पर चार आँसू बहाता है; कोमल अपनी स्वर-लहरी

द्वारा उसे सान्त्वना देती है, सरिता की कलकल ध्वनि उसे अपनी असह वेदना को कुछ धण के लिये भुला देने की शक्ति प्रदान करती है। कोई इसे लौकिक विरह-वेदना कहा करता है और कोई इसे आत्मा परमात्मा की विरह-वेदना कहता है।

चिन्तन में कवि विश्व को देखता है और चिन्तन करने लगता है कि यह सब क्या हो रहा है, किस प्रकार चल रहा है, क्यों चल रहा है। वही कवि अनुभूति की अवस्था में अनुभव करता है कि वह क्या हो गया है। विश्व क्या हो गया है, कौन सी वेदना, कौन सा विषाद, कौन सा उल्लास संसार को किस रूप में परिणत कर रहा है? कल्पना में वह इसी जगत के समानान्तर जगत की सृष्टि करता है, जिसमें इस जग की अनुन्दरता नहीं रहती, पर अनुभूति में वह इसी विश्व को अपने उल्लास, विषाद और वेदना के अनुरूप पाता है। कल्पनाशील कवि मुनहरे पंखों से उड़कर ऊपर तो उठ जाता है, उसके पाँव पृथ्वी पर नहीं होते; पर वह इसी जगती की भाषा में बोलने को बाध्य होता है। अनुभूति में कवि इस विश्व पर सदैव जमा रहता है, वह इसे छोड़ नहीं सकता। चिन्ताशील कवि सारे विश्व में चक्कर मारा करता है। संक्षिप्त में कल्पना, चिन्तन और अनुभूति की एक ही आधार-भूमि कही जा सकती है। इसी व्याख्या के आधार पर हमें महादेवी जी की रचना 'सान्ध्यगीत' का अध्ययन करना है।

वर्तमान हिन्दी काल को यदि 'वादों' का काल कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जिधर देखिये उधर ही आपको एक नये 'वाद' का पोपक मिल जाएगा। हिन्दी साहित्य आज एक विशाल प्रयोगशाला के समान है, जिसमें अनेकों प्रयोग हो रहे हैं; हिन्दी का भविष्य भी इन्हीं प्रयोगों पर निर्भर करता है। सम्भवतः बहुत से लोग नहीं चाहते कि वे लकीर के फकीर बनें, अतः साहित्य में भी कवि कुछ नवीनता लेकर पदार्पण करते हैं। इसीलिए हम आज हिन्दी-साहित्य को अनेक 'वादों' से आच्छादित पाते हैं, फिर भी काव्य साहित्य के इस काल को हम 'गीत' का काल कहेंगे। आज गीतों का जितना प्रचार हो रहा है वैसा प्रचार कभी भी नहीं हुआ। हिन्दी की उत्तम से उत्तम कविता गीत में ही मिलेगी। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कवि अपनी कविता गीतों में ही लिखते पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि गीत में काव्य की जितनी मधुरता निखर पड़ती है, उतनी अन्यथा नहीं। गीत के अन्य गुणों के साथ एक गुण यह भी है कि उसे हम गा सकते हैं और बहुत सुन्दरतापूर्वक गा सकते हैं, इसलिए नवागत साहित्य-प्रेमियों क इसकी तरफ आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही है।

'सान्ध्यगीत' के नाम से ही ज्ञात होता है कि यह गीतप्रधान काव्य है। यह आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'नीरजा' में जिन-जिन बातों की कमी रह गई थी

उनकी सभी प्रकार से पूर्ति 'सान्ध्यगीत' में हुई है। उसमें जिस साधना की विह्वलता या व्याकुलता का प्रस्फुटन हुआ था उसकी पुष्टि इसमें हुई है। यह गीतों का मनोरम संग्रह है। इस प्रकार का उत्तम संग्रह नवीन हिन्दी-साहित्य में अन्य नहीं है:

"अश्रु मेरे माँगने जब

नाँद में वह पास आया!

स्वप्न सा हँस पास आया।

हो गया दिव की हँसी से

शून्य में तुरचाप अंकित;

रश्मि-रोमों में हुआ

निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित;

अनुसरण करता अमा का।

चाँदनी का हास आया।

स्वप्न सा हँस पास आया।

कितना मधुर गीत है, कितनी व्यापकता है इसकी एक-एक पंक्ति में। कवयित्री को ऐसा अनुभव होता है कि निद्रावस्था में उसका आराध्य हँसकर स्वप्न-सा उसके पास आया है। उसके आने से कवि का रोम-रोम कम्पित होने लगा, हृदय में आनन्द की धार बहने लगी। उसका आना भी एक विशेष कार्यवश हुआ। वह कवि के पास अश्रु-संचय करने आया था। किन्तु उस समय विरह-वेदना की प्रचंड अग्नि से कवि का मोम-सा हृदय प्रायः धार सा हो गया था। जीवन की सम्पूर्ण सरसता निद्रा-विस्मृति को अर्पण की जा चुकी थी। जिस समय उसके जीवन उपवन में पतझड़ का अखंड राज्य था, उस समय मधुमास के समान कवयित्री का प्रिय अश्रु रूपी हिमकण माँगने आया। वह सर्वथा इस उपहार को प्रदान करने में असमर्थ थी। कितनी व्यापक असमर्थता है इस अनुभूति में। महादेवी जी नपी-तुली पंक्तियों में कितना अनमोल भाव जड़ देने की अभ्यासी हैं। शब्दों का चयन भी किस सुन्दरतापूर्वक किया गया है।

महादेवी जी के कवि जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह भयंकर से भयंकर संकट सहर्ष झेलना जानती हैं। उनका विश्वास है और दृढ़ विश्वास है कि जब तक दुःख कंटकों से लड़ा नहीं जायगा तब तक मुक्त नुमनों की प्राप्ति असम्भव है। यही कारण है कि दुःख को वह स्नेहभरी दृष्टि से देखती हैं, उनमें घबड़ाती नहीं। वह समझती हैं कि जीवन की सरसता कंटकों की भयंकरता से और भी निस्तर उठती है। उनकी सम्पूर्ण रचना में एक सम्बन्धित रेखा है और

वह है करुणा की रेखा। इसीलिये इनकी कविता में दुःख और वेदना की प्रधानता रहती है। आपका सिद्धान्त अपनी पीड़ा तथा करुणा द्वारा ही मानवता का कल्याण करना है। कितना उच्च आदर्श है। इस आदर्श का प्रभाव भी उनके जीवन पर गहरा पड़ा है, जिसका सहज में ही अनुभव किया जा सकता है। अपनी कविता में कितने मार्मिक शब्दों में देवी जी ने लिखा है:

दीप सी जलती न तो

यह सजलता रहती कहाँ ?

रे पपीहे पी कहाँ ?

आत्मा की महानता साधना की सफलता में है, ठीक इसी प्रकार जीवन की महानता भीषण विपत्ति को सहन करने में है। इसीलिए तो देवी जी ने कहा है कि अगर वह दीपक के समान ज्वाला-सन्तप्त नहीं रहती तो उनमें इतनी सफलता कहाँ से आती। कितनी सफाई के साथ इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है।

भले ही महादेवी जी के जीवन में, जैसा कि आपने अपनी बात में कहा है, किसी भी प्रकार के दुःख का अनुभव न करना पड़ा हो, क्योंकि उन्हें बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, फिर भी उनके कवि-जीवन को दुःखों का सामना अवश्य करना पड़ा होगा। अगर ऐसी बात नहीं रहती तो उनकी कविता इतनी करुण न हो पाती। अवश्य ही देवी जी ने मानवता की दयनीय दीनता का नग्न नृत्य अपनी आँखों के सम्मुख देखा है। उन्होंने विश्व के मौन क्रन्दन का भी अनुभव किया है। तभी तो वह जगती के कल्याण-पथ की पथिक बनी है। वह नित्यप्रति अपनी आत्मा को इसीलिए दृढ़ से दृढ़तर करती जा रही है। पथ के संकटों का उन्हें ज्ञान है, किन्तु अपने उच्च सिद्धान्तों को वह किसी भी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं है, भले ही पथ में दुःख का पहाड़ ही क्यों न टूट पड़े। किन्तु वह कब तक मौन रह सकती हैं ? जब कि विश्व का करुण-क्रन्दन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है !

जाग तुझको दूर जाना !

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आँसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले ;
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत-शिखाओं में निठुर तूफान बोले !
पर तुझे है नाश-पथ पर चिन्ह अपने छोड़ जाना ।

जाग तुझको दूर जाना ! ”

कवयित्री का संकल्प दृढ़ है। उसे विश्व की कोई भी शक्ति अपने पथ से हटा नहीं सकती। भले ही आज अचल हिमालय काँप उठे; भले ही आज व्योम

से प्रलयकारी वृष्टि हो; भले ही विश्व का तिमिर और भी सघन हो जाय अथवा नाशकारी तूफान का बोलवाला हो जाय; किन्तु वह अपने पथ से हटने को नहीं। वह तो विनाश-पथ के अन्त तक जाकर ही चैन लेगी। उसे तो जगती की दीनता के मूल तत्त्व का पता लगाना है। उसे विश्व की क्षणिक मनोहरता लुभा नहीं सकती।

“बाँध लेंगे क्या तुझे यह मोम के बन्धन सजीले?

पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले?

विश्व का क्रन्दन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन,

क्या डुबा देंगे तुझे यह फूल के दल ओस गीले?

तू न अपनी छाँह को अपने लिए कारा बनाना!

जाग तुझको दूर जाना!”

संसार का क्षणिक किन्तु मधुर बन्धन कैसे कवयित्री को अपने चंचल अंचल में बाँध सकता है। तितलियों के अनुपम रंगरंजित पर किस प्रकार पथ में बाधा उपस्थित कर सकते हैं? मधुप का मधुर गुंजन भला विश्व का क्रन्दन भुलाने में किस प्रकार समर्थ हो सकता है? क्या पुष्प की सजल मधुरता उसे उस पथ से विचलित कर सकती है? इसका एक ही उत्तर है और वह है ‘नहीं’। संकल्प की कठोरता के सम्मुख विश्व की मधुर चितवन भी एक क्षण के लिए नहीं ठहर सकती। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं है कि इसका परिणाम क्या होगा। वह तो बिना कुछ सोचे समझे व्यस्त बाना बनाये निरन्तर उस पथ पर चलती जा रही है।

वज्र का उर एक छोटे अश्रुकण में धो गलाया,

दे किसे जीवन सुधा दो घूँट मदिरा माँग लाया?

सो गई आँधी मलय की वात का उपवान ले क्या?

विश्व का अभिशाप क्या चिर नींद बनकर पास आया?

अमरता-मुक्त चाहता क्यों मृत्यु को उर में बसाना?

कह न ठंडी साँस में अब भूल वह जलती कहानी,

आग हो उर में तभी दृग में सजेगा आज पानी;

हार भी तेरी बनेगी मानिनी जय की पताका,

राख क्षणिक पतंग की है अमर दीपक की निशानी।

है तुझे अंगार-शय्या पर मृदुल कलियाँ बिछाना।

जाग तुझको दूर जाना!”

कवयित्री को अपने विगत जीवन का स्मरण आता है, किन्तु वह इसकी कोई विशेष चिन्ता नहीं करती। उसे ज्ञात है कि यह निजना महँगा साँचा हुआ,

उत्सुकता है कि इस क्षितिज को ही नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाय, जिससे मैं कम से कम यह तो देख लूँ कि उस पार क्या है? यह सत्य है कि इस पन्थ की युगयुगान्तर से खोज हो रही है, फिर भी कम से कम यह तो पता लग जाय कि उसका क्या छोर है। कितनी करुणा-विह्वलता है इस चिन्तन में। अपनी आत्मा को पूर्णरूपेण स्वतंत्र करने के लिए कितनी विकलता है। वह एक ही पल में अपने और आराध्य के मध्य की दीवार को तोड़कर एक शाश्वत राजमार्ग का निर्माण करना चाहती है, जिससे पुनः कोई इस विरह वेदना से पीड़ित न हो। कितना उच्च विचार है।

महादेवी जी का कवि एक प्रकार की साधना में संलग्न है। उसकी साधना कब पूरी होगी, यह कहना सहज सम्भव नहीं है, फिर भी वह सफलता के बहुत ही निकट है, ऐसा हमारा अनुमान है। हम अपने कथन की पुष्टि में केवल इतना ही कहकर संतोष कर लेंगे कि उसमें वे सभी लक्षण आ गए हैं, जो शीघ्र ही आने वाली सफलता के द्योतक हैं। आराध्य और आराधिका में अब विशेष भिन्नता नहीं रही, हृदय की भिन्नता अब नष्ट होकर एक ही दिशा में वह रही है।

“मैं सजग चिर साधना ले।

सजग प्रहरी से निरन्तर,

जागते अलि रोम निर्भर;

निमिष के बुदबुद मिटाकर,

एक रस है समय-सागर।

हो गयी आराध्यमय मैं विरह की आराधना ले!”

कितनी सुखद अनुभूति है। कवयित्री अपने प्रियतम की आराधना करते-करते स्वयं आराध्यमय हो गई है। उसका रोम-रोम उसकी रखवाली करने के लिए निरन्तर सजग एवं सचेत है। इस अवस्था की प्राप्ति से साधक को कितना आनन्द प्राप्त होगा, यह कौन कह सकता है।

“विरह का युग आज दीखा,

मिलन के लघु पल सरीखा;

दुःख-सुख में कौन तीखा,

मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले।”

आज प्रिय की मधुर भावना से ओत-प्रोत हो विश्व की सभी वस्तुएँ मधुर हो गई हैं। विरह के महान युग के विनाश का समय बहुत ही निकट आ गया है। अब तो शीघ्र ही विरह-रजनी का अन्त होगा, और प्राची में मिलन-दिवाकर अपनी मृदुल मुस्कान के साथ विश्ववीणा के सुन्दर तार को झंकृत कर देंगे। फिर युग-युग में कौन तीखा है, इसे जानने का देवी जी के पास कहां अवसर है और उसे सीमाने

का वहाँ समय है। आज तो जगती में मधुर कल-कल ध्वनि करती हुई एक ही धार का रही है। पिनकी प्रत्येक तरंग में उल्लास भरा है और प्रत्येक ज्वार में परमानन्द की अभिव्यक्ति है। यगार्थ में कितनी मुग्ध अनुभूति है।

देवी जी ने अपने जीवन को आराध्य के अनुकूल बनाने की निरन्तर चेष्टा की है। उसको संसार के नाना रूपों में अनुभव करके वे उसी के समान अपने जीवन को ढालने का यत्न कर रही हैं। कभी वह अपने को रात की विशेषता से विभूषित करना चाहती है, कभी प्रभात की गुग्गुलु से गुग्गुलु होना चाहती हैं, तो कभी धन्याय की मरमता से सम्पूर्ण होना चाहती है।

“सजनि में उतनी फलण हूँ,
फलण जितनी रात !
मुग्ध में उतनी मधुर हूँ,
मधुर जितना प्रात !
सजनि में उतनी सजल,
जितनी सजल बरसात !”

कवयित्री में उसके आराध्य की भाँति प्रकृति के विभिन्न गुणों का कितना अनुभव सम्मिश्रण है। इन्हींमें तो विषय-वेदना की भयंकरता को अनुभव करने की उगमें शक्ति है। वे जगती की दर्शनीयता पर आँखें बहाती हैं, किन्तु उसकी सरसता से अपने जीवन को भी नरस बना लेती हैं। यह देवी जी के कवि-जीवन की नफरत और साथ ही साथ महानता भी है। जीवन की ऐसी व्यापकता ही साधना का सुफल है।

महादेवी जी अपनी इसी महानता के बल पर अपनी साधना में संलग्न हैं। उनका हृदय इतना सरस है और उनके नेत्र इतने सजल हैं कि उन्हें अपने इष्ट की प्राप्ति में विशेष विलम्ब नहीं दीव्यता, किन्तु उनकी परीक्षा सम्भवतः शेष है। अस्तु वे कुछ खीझ तो उठती हैं।

“वेध दो मेरा हृदय माला वनूँ प्रतिकूल क्या है।

में तुझे पहचान लूँ इस कूल तो उस कूल क्या है।”

कितनी विह्वलता है इस कथन में। साधना की सफलता में वह अनुरोध करती हैं कि अगर उन्हें गजरे का हार ही बनाना है तो फिर विलम्ब ही किरा वात का है। अगर साधक में इतनी शक्ति है कि उसे इसी पार पहचान ले, फिर उस पार की ओट में खेलना दुःख का विषय है। यदि वह इस पार ही अपना दर्शन दे दे तो इसमें तो उसी की महानता है, किन्तु सम्भवतः वह ऐसा करना नहीं चाहता।

ये पंक्तियाँ कदाचित् अवतारवाद का सजीव विश्वास हैं। फिर देवी जी

सोचती हैं कि जब तक वे सर्वथा समर्थ नहीं हो जातीं, जब तक उनकी विरह-वेदना नष्ट नहीं हो पाती—उस समय तक उनके जीवन में मधुमास नहीं आ सकता। अतः वह कहती हैं—

“तब क्षण क्षण मधु प्याले होंगे।

जब दूर देश उड़ जाने को

दृग खंजन मतवाले होंगे।”

जब कवयित्री की आत्मा प्रबल शक्तिशाली हो जायगी, तभी वह अपने आराध्य की प्राप्ति कर सकती है। वह अब निश्चय पूर्वक समझने लगी है कि जब तक वह सुख-दुःख की भिन्नता को भुला उसे एक ही स्नेह-दृष्टि से न देखने लगेगी, जब तक उसके हृदय में इतनी दृढ़ता नहीं आ जायेगी कि नभमंडल की विशालता भी उसमें समा सके और जब तक उसके नेत्रों से सागर की गम्भीरता अठखेलियाँ न खेलने लगे, तब तक उसका प्रियतम उससे मिलने को बाध्य न होगा और न तब तक उसके जीवन में अनुपम मधुमास का आगमन ही होगा। सचमुच कितनी कठोर साधना में वह लीन होना चाहती है। यह सत्य है कि बिना भलीभाँति तपाये सोने की चमक नहीं निखरती।

“हीरक सी वह याद

बनेगा जीवन सोना,

जल-जल तप तप किन्तु

राख इसको है होना।”

जब तक सोने को प्रचंड अग्नि में पूर्णरूप से जलाया न जायगा तब तक उसके मूल्य का ज्ञान नहीं हो सकता। उसी प्रकार जब तक कवयित्री अपनी आत्मा को विरह-वेदना की प्रज्ज्वलित ज्वाला में सन्तप्त न करेगी तब तक उसको आत्मा की महानता का अनुभव करना असम्भव हो जायगा। इसीलिए वह अपने को जीवन-आतप में जलाकर खरा सोना बनाना चाहती है। अपने को भीषण सन्ताप के कठोर परिचित पाशों में स्वतंत्रता पूर्वक छोड़ देने की कैसी अद्भुत मनोकामना है।

महादेवी जी ने अपना परिचय बड़े ही हृदय-विदारक शब्दों में दिया है, जो सर्वथा उनके लिए उपयुक्त ही है। ऐसा मार्मिक परिचय हिन्दी-संगीत में मिलना कठिन है :

मैं नीर भरी दुल को बदली।

विस्तृत नभ का कोई कोना,

मेरा न कभी अपना होना,

परिचय इतना इतिहास यही,

उमड़ी कल थी मिट आज चली !

मैं नीर भरी दुःख की बदली !”

सम्भवतः ऐसा एक भी व्यक्ति, जिसे किसी भी साहित्य से कुछ प्रेम है— नहीं होगा, जो इन पंक्तियों को पढ़कर जीवन के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट किये बिना रह सके। कितना मार्मिक चित्रण है। कौन ऐसा हृदयहीन होगा, जो नजल नेत्रों से इस अनुभूति का हृदय में अनुभव न करे। इस कविता में और विन्व के जीवन में कितनी समता है। इस गूढ़र विस्तृत नभमंडल में एक छोटा-ना भी खान नहीं है, जिसे हम अपना कहकर सम्बोधन कर सकें। जगती में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसे हम अपना समझ कर एक पल के लिए भी अपने पास रोक सकें। यह मानवता की असमर्थता नहीं तो और क्या है। जिसे मानव-उर संचित स्नेह से सींचा करता है, वही कुछ क्षण के पश्चात् उसे घोंगा देकर चल पड़ता है, ज्ञात नहीं किन अज्ञात लोक की ओर। देवी जी ने इसका अनुभव जगती से सम्बन्ध स्थापित कर के किया है। उन्होंने अपनी आँखों के सम्मुख भयंकर से भयंकर तांज्य नृत्य होते देखा है। फिर वह सब जानते हुये कैसे अपनी आत्मा को घोंगा दें। वे कैसे अपने इस अस्तित्व को शाश्वत मानकर अपनी ही आँखों में धूल झाँका करें। वे जानती हैं कि वे दुग की बदली हैं और उनका एक ही कार्य है, आँसुओं को अपने नेत्रों में संजोये रहना। बदली नित्यप्रति सघन से सघन होती जाती है और विस्तृत नभमंडल पर घुमड़ कर घिर जाती हैं, केवल एक ही कार्य-सिद्धि के लिए उसके जीवन की सार्थकता केवल एक ही कार्य में समाप्त हो जाती है और वह है जीवन-संचित रसकोष को रिक्त करना। वह कल नभमंडल में उमड़ी थी और आज मिटकर चल दी। अन्तिम दो पंक्तियों में कितनी करुणा भरी हुई है। जीवन की सम्पूर्ण वेदना को मानो उन्होंने इन्हीं दो पंक्तियों में रख दिया है। एक प्रकार से इसमें संचय और त्यागमय उनके हृदय की भी अनुपम झाँकी का दर्शन होता है। सच पूछा जाय तो वह आप की बड़ी ही सुन्दर रचना है।

एक दूसरे स्थान पर भी आपने अपनी मार्मिक अनुभूति का उल्लेख किया है। उनकी आत्मा व्यग्र है अपने इष्ट से शीघ्र मिलने के लिए अतः वह सर्वदा सचेत होकर सभी ओर दृष्टि दीढ़ाती रहती है कि न मालूम किधर से वह आ जायें। अनायास रात्रि की नीरवता में उसकी दृष्टि तारावलियों पर पड़ती है। तारों को देखकर वह अनुभव करती हैं कि उनका प्रिय तारों को जगा रहा है। अगर किसी तारे को कुछ समय तक देखा जाय तो शीघ्र ही ज्ञात होगा कि इनकी अनुभूति में सजगता की कितनी सच्चाई है। तारागण नेत्रों के समान अपने पलकों को खोलते और

व्यतीत करने का वरदान मिला है। तभी तो वे विरह-तप्त धेदना में क्षार होकर भी अभी तक जीवन का भार ढो रही हैं और सोच रही हैं कि कभी-न-कभी अपने आराध्य से मिलन अवश्य होगा। उनके विश्वास का ज्वालामय स्वरूप यह है:

“शलभ में शापमय वर हूँ!

किसी का दीप निष्ठुर हूँ!

ताज है जलती शिखा;

चिनगारियाँ शृंगार माला;

ज्वाल अक्षय कोष सी

अंगार मेरी रंगशाला;

नाश में जोवित किसी की साध सुन्दर हूँ।

नयन में रह किन्तु जलती

पुतलियाँ अंगार होंगी

प्राण में कैसे बसाऊँ

कठिन अग्नि-समाधि होगी!

फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु मन्दिर हूँ।

शलभ में शापमय वर हूँ!”

कवयित्री के हृदय में अब एक विचार उठता है कि वह किस प्रकार अपने इष्ट को अपने में स्थान दे। उसका जीवन दीपक के समान निरन्तर ज्वालामय हो रहा है। उसमें और दीपक में बहुत कुछ समता है। वह उसे नेत्रों में रख सकती है, किन्तु उनकी पुतलियाँ अंगारे के समान हैं, जिससे वह डरती है कि कहीं उसकी कोमलता उसमें झुलस न जाय। वह उसे अपने प्राणों में भी बसा सकती है, किन्तु यह तो कठिन समाधि होगी, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे स्मरण आता है कि—

“हो रहे झर कर दृगों से

अग्नि कण भी क्षार शीतल:

पिघलती उर से निकल

विश्वास बनते धूम श्यामल;

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूँ!”

उनके हृदय की अग्नि भी नेत्रों द्वारा झर-झर कर नित्यप्रति शीतल क्षार होती जा रही है। तप्त निश्वास भी हृदय से पिघल कर शीतल और श्यामल धूम बनकर निकल रहे हैं। इस अनुभूति से कवयित्री को शान्ति प्राप्त होती है। वह सोचने लगती है कि वह तो राख का घर मात्र है, उसमें ज्वाला कहाँ। हृदय की वास्तविक

ज्वाला तो प्रियतम के जाने से कम होते-होते आज प्रायः शून्य हो गयी है। फिर तो वह सर्वदा अपने आराध्य का स्वागत करने को तैयार है।

यद्यपि साधक को अपने प्रियतम का अभी तक आध्यात्मिक साहचर्य नहीं प्राप्त हुआ है, फिर भी कभी-न-कभी और किसी-न-किसी रूप में उसका अलौकिक स्पर्श अवश्य ही अनुभव होता है। जागते में न सही फिर भी सोते में तो उसका छू लेना सहज ही है। इसी से उसके विकल हृदय को कुछ-कुछ शान्ति मिल जाती है।

“कौन आया था न जाना
स्वप्न में मुझको जगाने;
याद में उन अँगुलियों के
है मुझे पर युग बिताने;

साधक यह समझ नहीं सका कि कौन उसे स्वप्न में जगाने आया था। उसके स्पर्श का अनुभव उसने किया था। उसकी प्रतिक्रिया का प्रभाव भी स्पष्ट है, किन्तु आँख भर कर उसका दर्शन नहीं कर सका, यही एक विपाद का विषय है। यद्यपि दर्शन नहीं हो सका फिर भी सरस स्पर्श तो हुआ और स्मृति के लिए यह किसी भी प्रकार कम नहीं है। अँगुलियों की याद में जीवन व्यतीत करने की कैसी मधुर कल्पना है।

इस कार्य-कलाप से कवयित्री के हृदय में एक बात स्पष्ट हो गई। अब उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि वह चिर काल तक इस अवस्था में नहीं रह सकती।

“सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी !

प्रिय के अनन्त अनुराग भरी !”

उसे अब भय किसका है और शंका भी किस बात की है। वह तो प्रियतम के प्रेम में विभोर है। उसे अपने प्रेम के ऊपर आस्था है और वह जानती है कि इससे बढ़कर कोई प्रेम का पथ नहीं है। इसीलिए तो वह कहती है कि वह अमर सुहाग से भरी है और उसे अनन्त स्नेह भी प्राप्त है। उसे इस अनुभूति से कितना सन्तोष प्राप्त हुआ होगा। वह गद्गद हो गई होगी अपनी इस नवीन अवस्था पर। इससे भी बढ़कर आनन्द-विह्वल करने वाली, इससे भी महान एक अन्य वस्तु भी उसके दृष्टिपथ में आ जाती है। उसने अपने प्रियतम के पद-चिन्ह भी देखा लिये हैं।

“तिमिर में वे पद-चिन्ह मिले !

युग-युग का पंथी आकुल मन,

वाँध रहा पथ के रजकण चुन

दवासीं में खँधे दुपट के पल

वन वन दीप जले।

“मेरे जीवन का आज मूक
तेरी छाया से हो मिलाप
तन तेरी साधकता छू ले
मन ले करुणा की थाह नाप।
उर में पावस दृग में विहान।”

यह है आध्यात्मिक सफलता की अनुभूति की महत्ता। काव्य-साधना में देवी जी की आत्मा को जो अमर शान्ति प्राप्त हुई है उसका वर्णन वास्तव में मनोहर है।

महादेवी जी की कविताएँ सुखद साधना की अनुभूति से ओत-प्रोत हैं। ऐसी मौलिकता एवं सरसता किसी अन्य कवि में पाना कठिन है। ‘प्रिय चिरन्तन है सजनि क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं’, ‘आज मेरे नयन के तारक हुए जलजात देखो’, ‘मैं किसी का मूक छाया हूँ न क्यों पहचान पाता’ आदि कविताओं में उसी पुलक एवं सुखद अनुभूति की अनुपम झाँकी मिलती है।

दीपशिखा :

‘दीपशिखा’ महादेवी जी की अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति है। दीपशिखा का प्रकाशन सन १९४२ में हुआ था। कहना न होगा कि उस समय की देश तथा समस्त भूमि-भाग की स्थिति युद्ध के विपाक्त वातावरण से परिपूर्ण थी। कविजनो-चित्त मर्म-स्पर्शिता के साथ महादेवी जी का कर्तव्य था कि वे जीवन की व्यापक तथा मार्मिक परिस्थिति का उद्घाटन करते हुए अपने काव्य-मंदिर का शिलान्यास करें। वस्तुतः अपनी गंभीर एवं जीवनव्यापी समस्याओं से समन्वित भूमिका में उन्होंने जीवन की तत्कालीन स्थिति और उसके भविष्यगामी विचारों, सिद्धान्तों और स्थापनाओं का आत्मबल के साथ प्रतिपादन किया है और चित्रों द्वारा जीवन की विशेष स्थितियों का रूपात्मक अंकन। शब्द-शक्ति की व्यापकता और प्रसरण-शीलता एवं चित्रों की एकनिष्ठा के सन्धे-समन्वय से उन्होंने सम्पूर्ण जीवन का स्वरूप स्पष्ट किया है।

एक स्थान पर महादेवी जी ने कहा है—‘सब आँसों के आँसू उजले, सबके सपनों में सत्य पला।’ इस पंक्ति से भारतीय दर्शन की इस विशेषता का प्रतिपादन है कि प्रत्येक अस्तित्व या व्यक्तित्व अपनी एक अलग स्थिति और महत्व राखा है, क्योंकि सभी एक ही चेतना के भिन्न-भिन्न अंशभूत हैं। इस धारणा-पार से मानने वाला कवि अपने अस्तित्व को कैसे भूल सकता है। वस्तुतः ‘मुझे प्रिय था अपना भाता है’ पर उनका आग्रह अनिवार्य है। वे दोनों तत्त्व परस्पर-विरोधी न

होकर पृष्ठ-द्वारे के पूरक है। इसे महादेवी के काव्य का मूलाधार भी कहा जा सकता है।

दीपगिता की कई कविताओं से एक विशेष मानसिक स्थिति स्पष्ट होती है। 'दीप मेरे जल अकंपित', 'मन बुझे दीपक जला लूँ', 'पूछता क्यों जेप कितनी रात,' तथा 'यह मंदिर का दीप इसे नीरुध जलने दो', इन कविताओं के अध्ययन से भली-भाँति समझा जा सकता है कि विश्व की इस अंधकारमयी स्थिति में कवि अपने साधना के दीपक को आगे आगे वाले प्रातः प्रकाश तक अग्नि धैर्य एवं अदम्य उत्साह के साथ ले चलना चाहता है। अपनी नास्तिकता पर उसकी आस्था क्षतनी आवेग और आत्मादपूर्ण है कि वह ललकार कर कहता है—

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।

अन्य होंगे चरण हारे

और हूँ जो लीटते दे शूल को संकल्प सारे।

दुःखप्रती निर्माण उन्मद

यह अमरता नापते पद

बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्णविला।

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला।

'दीपगिता' में विग्रह के घनीभूत विषाद से लेकर मिलन के आनन्द तक की प्रकृति के सहारे विलक्षण व्यापकता तथा विश्व-जीवन के सामंजस्य की स्थिति स्पष्ट है, क्योंकि महादेवी जी व्यक्ति की स्थिति को विश्व-जीवन से अलग रखकर देखने की आदी नहीं हैं, वरन् उन्होंने नरदा ही व्यक्ति को इस विराट जीवन का एक अंग माना है। तभी तो उन्होंने जीवन-व्यापी दुःख की स्थितियों के संस्पर्श में अपने व्यक्ति-जीवन के निखार का आग्रह किया है। उदाहरण के लिए, 'अग्नि में कण-कण को जान चली, मंत्र का क्रंदन पहचान चली', और इसीलिए अपने साधनात्मक समन्वय द्वारा 'मिटने को कर निर्माण चली' की उद्भावना की है।

दुःख का मूल उदम व्यक्ति का अलगाव या अहंकार है। जब व्यक्ति अपने को विश्व-जीवन में मिलाकर देखने की साधना में सफल हो जाता है तब उसका दुःख (लघुता) अपने आप में विस्तार (सुख) की स्थिति प्राप्त कर लेता है। 'दीप-गिता' में महादेवी जी ने अपने व्यक्ति को विश्व-व्यापक जीवन के त्रिम प्रवाह में प्रवाहित कर दिया है, वहाँ स्वभावतः दुःख का निराकरण हो जाता है। व्यक्ति के विग्रह-मिलन की स्थितियाँ भी इसी तथ्य की परिचायिका होती हैं। 'दीपगिता' का दीपक व्यापक प्रकाशमय (सर्वव्यापी) में मिलकर स्वयं आशीर्वादही नृप वन बैठा है। व्यक्ति की यह चरम साधना और कवि की यही चरम प्रकृति है।

प्रेम ही व्यक्ति को सर्वांशतः निस्वार्थ बनाकर उसे दूसरे में लीन करने की प्रेरणा देता है। यह बात दूसरी है कि प्रेम का पात्र अपनी सीमा के विस्तार में कैसा है! महादेवी का प्रेम, चेतना की उस महत्वाकांक्षा का प्रतीक है, जहाँ व्यक्ति-चेतना अपने को सर्वात्म-चेतना के समकक्ष रखने को उत्सुक रहती है, क्योंकि प्रेम की सफलता निष्ठा और चरम परिणति पूर्णतामय अद्वैतभाव में ही होती है। इस दृष्टि से 'दीपशिखा' को प्रणय-काव्य भी कहा जा सकता है।

आत्मा और ब्रह्म की स्थिति को स्वीकारते हुए भी महादेवी की आत्मा किसी दार्शनिक ब्रह्म में विलीन होकर अपना अस्तित्व अन्य रहस्यवादियों की भाँति विसर्जित नहीं करना चाहती, वरन् उसका लक्ष्य जीवन के शत-शत बंधनों को स्वीकार करते हुए अपनी स्थिति को इतना व्यापक एवं विराट बना देना है कि स्वयं उसमें उस ब्रह्म की विराटता का आरोप हो सके। यही महादेवी के रहस्यवाद की सबसे अलग विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो विश्व के प्रति महादेवी का अनुपम अनुराग तथा इसके कण-कण के प्रति उनकी ममता की कोई आवश्यकता ही न होती।

आज तक हमारी गीत-परंपरा में आधाररूप अवतार या स्थूल स्वरूप की अभिव्यंजना के ही दर्शन होते रहे हैं, किन्तु महादेवी जी ने प्रथम बार गीत को केवल सूक्ष्म भावात्मक रूप देने का कार्य किया है, मन की विभिन्न स्थितियों और गतियों के भावावेश को नपे-तुले तथा सघे शब्दों में अभिव्यक्त करना उनकी एक अलग विशेषता है। खूबी यह है कि बिना किसी स्थूल आधार के भी उन्होंने गीतों में तन्मयता का वह जादू डाल दिया है, जो एक बहुत बड़ी मानसिक तथा शाब्दिक साधना की अपेक्षा रखता है। सच पूछिए तो गीतों का ऐसा अभिनव रूप महादेवी का एक महत्वपूर्ण काव्य-दान है।

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि विश्व की पीड़ित मानवता के प्रति महादेवी की 'दीपशिखा' उसी अमर संदेश का विधान करती है, जो प्रथम महायुद्ध के बाद कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजलि ने किया था। अखिल मानवता एक दिन जीवन के कलह-कोलाहल से थक कर इन गीतों की छाया में शीतल विश्राम पायेगी, यह निश्चित है।

सप्तपर्णा :

'सप्तपर्णा' महादेवी जी की नवीनतम कलाकृति है। इसमें उन्होंने आर्य ऋग्वेद (वेद) वाल्मीकि, धर्मशास्त्र, अश्वघोष, कालिदास, भक्तकविता तथा जयदेव की उदात्त सरस काव्य-विभूतियों को हिन्दी में स्यान्तरित किया है।

आज के नाना ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और विचार की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों के कोलाहल में मानव के उस तरुण काल की प्रज्ञात्मक भावभूमि के प्रामाणिक परिचय की उपादेयता और भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठी है, क्योंकि जीवन की प्रगति और उसके स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने अतीत से परिचित और प्रेरित होते रहें।

वास्तव में विकास के लिये गत और अनागत का एकाकार होना भावात्मक अभियान बिना इस सम्बन्ध में सम्भव नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि विज्ञान ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनोहर आकाश की नीलिमा अनन्त अन्तराल का केवल अंधकार मात्र है और ये तारे गैसों से बने महा-पिण्ड हैं, परन्तु इस ज्ञान से तारिकाजटित नीलाकाश के सौन्दर्य का अनुभव भ्रम सिद्ध नहीं हुआ। आज हम उषा, इन्द्रधनुष, विद्युत आदि प्रकृति की अनेकानेक वस्तुओं के विषय में वैज्ञानिक ज्ञान रखते हैं, पर इनकी दिव्यता और सौन्दर्य की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं आया। हमारी प्यास की तृप्ति का कारण पानी है, न कि उसके निर्माणकारी तत्वों का ज्ञान ! आज भी हिमाच्छादित शिखरों और जल के अनेक विस्तारों को देखकर हमारा हृदय उदात्त भावनाओं से गद्गद् हो उठता है। यदि हमारे यह आह्लाद-विपादमय आन्तरिक अनुभव सत्य नहीं हैं, तो हम बाह्य जगत के अनुभवों को विद्वसनीय मानने में असमर्थ ही रहेंगे।

अस्तु, आइए, वेदकालीन सप्तसिन्धु की उस भूमि का पर्यटन करें, जहाँ की भाव-भूमि वैदिक ऋणियों के आनन्द और उत्साह से पुलकित और स्पंदित है। यह साहित्य मानव-जाति के विकास की आदिम गाथा होकर भी उसके वय के तारुण्य का ही प्रतीक है, क्योंकि उसमें आनंद और उत्साह की भावना का ही प्राधान्य है, जिसमें दिव्यता और आध्यात्मिकता की गहरी छाप है।

इस साहित्य की विराट कल्पना अपूर्व है। इस जीवन में पशु, मनुष्य, वनस्पति, पर्वत, सागर, वायु, सूर्य, चन्द्रमा सभी किसी दिव्य शक्ति की प्रेरणा से अपना काम कर रहे हैं। यह शक्ति जो चराचर की प्रेरक और विश्व-जीवन को संजोने वाली है, ऋत है। यही ऋत और सत्य ही विश्व-जीवन का आधार है। यही व्यापकता और विराटता उस जीवन का प्राणतत्व है। यह व्यापकता किसी विश्लेषण से नहीं प्राप्त होती, वरन् विभिन्न वस्तुओं और प्राणियों में सामंजस्य का सूत्र खोजने से मिलती है। सामंजस्य की इस सर्वोपयोगी प्रकृति का मूल उस जीवन की व्यापक दृष्टि का सहज परिणाम है।

इस व्यापक अनुभूति से मनुष्य का सीमित और साधारण अनुभव रूपान्तरित हो जाता है और प्रत्येक वस्तु में दिव्यता तथा आध्यात्मिकता का आविर्भाव

होता है। साहित्य तथा कलाओं में इसी चेष्टा के परिणामस्वरूप हम मूर्ति, रेखा, रंगों और स्वरों द्वारा अमूर्त को मूर्त और निराकार को साकार तथा अज्ञेय को ज्ञेय बनाते चलते हैं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि के लिए प्राकृतिक पदार्थों का सामान्य प्राकृतिक स्वरूप उतना महत्वपूर्ण नहीं लगता, जितना उनका विराट आध्यात्मिक स्वरूप। भारतीय चेतना में सौन्दर्यबोध की यह आध्यात्मिक दृष्टि वैदिक ऋषियों की देन है। विराट चेतना सम्पन्न ऋषि का उपा-चित्र देखिए :

दिव आता शुभ्राम्बर विलसित, नूतन आभा से उद्भासित,
भू सुषमा की एक स्वामिनी, शोभन आलोकित विहान दे।
सुगम तुझे गति है अचलों पर, सुतर ज्ञान लहरों का सागर,
निश्चित क्रम विस्तृत पथ चारिणि, स्वतः दीप्त तू हमें मान दे।
जागे द्विपद चतुष्पद आकुल, दिग्दिगन्तचारी पुलकाकुल,
जिसका आगम देख उषा वह, कर्मपथ सब को समान दे।

इस रूपात्मक और गुणात्मक परिचय से ही ऋषि संतुष्ट नहीं होता, बल्कि उषा के लिये अपनी रागात्मक अनुभूति की भी अभिव्यक्ति करता है :

आ रही उषा ज्योतिःस्मित !

प्रज्ज्वलित अग्नि है लहराती आभासित।

उसके हित कोई उत्तम है न अवर है
आलोक दान में निज है और न पर है

विस्तृत उज्ज्वलता सब की, सबसे परिचित,

रक्ताभ इवेत अश्वों को जोते रथ में,

प्राची की तन्वी आई नभ के पथ में,

गृह गृह पावक, पग पग किरणों से रंजित।

आ रही उषा ज्योतिःस्मित।

उषा, आकाश में सब से ऊँची स्थिति और आलोकदान के कारण यदि वन्दनीय है, तो वैदिक ऋषि के लिए पैंरों तले की पृथ्वी भी उसनी ही स्नेहशील और सम-पूज्य है :

सत्य, महत्, संकल्प, यज्ञ, तप, ज्ञान, अचल ऋत

जिस पृथ्वी को धारण करते रहते अचिरत,

भूत और भवितव्य हमारा जिससे अधिष्ठत

वह धरती देह में लोक हित आंगन विस्तृत।

आधित जिस पर तभी सरित सागर के जल,

लहराता है जहाँ दान्य का शोभन अंधार,

जिस पर यह चल प्राणि-जगत जीवित, स्पन्दित,
वही धरा दे हमें पूर्वजों का श्रेयस नित।

जिस परिमल से नीलोत्पल के कोष रहे भर,
जिसे लगाते अमर, उषा के लग्न पर्व पर,
उसी गंध से भूमि! हमारा कर आलेपन
हो न हमारी ओर किसी का द्वेष भरा मन।

जिसके उर में विविध वनस्पतियाँ और तरुवर,
पाते ही रहते विकास ध्रुव और निरन्तर,
धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा,
उसका वन्दन आज कर रहा गान हमारा!

वैदिक काल में यज्ञ और तप का अर्थ बहुत गंभीर है। ऋत और सत्य ही विश्व का स्वरूप है और यही हमारे अनुभव का भी आधार है। वस्तुतः तप का अर्थ वहि-मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाना है। जीवन का स्वाभाविक प्रवाह तो वहि-मुख है, किन्तु उसका मूलस्रोत अन्तरात्मा है। सृजनात्मक शक्ति के इस केन्द्र की ओर सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को उन्मुख करने से ही नवीन सृष्टि होती है, जिसका आकलन तप से ही सम्भव है। इसी तप के द्वारा ऋषि की दृष्टि सृष्टि की विविधता में एकतत्त्वगत एकता की खोज करने में समर्थ होती है:

ज्ञाता औ कल्याण चाहने वाले ऋषिचर,
तप दीक्षित जब होते पहले, ज्ञानार्जन पर,
तब होता है राष्ट्र ओज संयुत बल निर्भर,
तभी देवगण से उसको मिलता है आदर।

तपः पूत ऋषि का शान्ति स्तवन भी उसकी व्यापक चेतना से समन्वित है :

शान्त गगन हो, शान्त धरा हो !

इन्द्रिय के गण पाँच, षष्ठ मन से संयुत हों,

तेज दीप्त जो रहते हैं उर में संस्थित हों,

क्रूर कर्म क्षम वही इन्द्रियाँ क्षेम वरा हों।

दिव्य ज्ञान से दिव्य उच्चता पाता जो मन,

क्रूर कर्म में भी जिससे योजित होता जन,

वही हमारा सुमन शान्त शम में निखरा हो।

परम श्रेष्ठ यह दिव्य ब्रह्म शंसित कल्याणी,

कठिन कर्म का कारण भी बनती जो वाणी,

वाग्देवता वही हमारी ऋतम्भरा हो,

शान्त गगन हो शान्त धरा हो।

वेदकाल के पटपरिवर्तन के पश्चात् जिस कवि-मनीषी के दर्शन हमें होते हैं, उसे भारतीय प्रतिभा ने आदिकवि की उपाधि से विभूषित किया है। उसकी महान कृति 'रामायण' के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक काल से लेकर रामायण काल तक बहुत लम्बा समय बीत चुका था। तब तक सामूहिक जीवन का क्षेत्र और केन्द्र प्रकृति के दिव्य और आध्यात्मिक स्वरूप से हट कर मानव-जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक समस्याओं में स्थिति पा चुका था। यदि वैदिक काल की चेतना को हम दिव्य, विराट् सौन्दर्य-चेतना कहें तो रामायण-काल की चेतना को मानवीय सौन्दर्य-चेतना कह सकते हैं।

'रामायण' स्वच्छन्द संस्कृत भाषा का प्रथम काव्य है और कथ्य की दृष्टि से भी वह नितान्त मौलिक है। इस काव्य में प्रथम बार मानव ने काव्य को देवताओं के सिंहासन से उठा कर मानव-भूमि में प्रतिष्ठित करने का महत्वपूर्ण कार्य सम्पादन किया है। अब मनुष्य अपनी सफलता के लिए देवताओं की ओर न देखकर अपने पराक्रम और बाहुबल की ओर उन्मुख होता है।

ऐसी मानव गाथा का उद्गाथा कवि अपने विद्रोह में भी पहला कहा जायगा। उसके हृदय में कथा की प्रेरणा, किसी समाधि स्थिति से नहीं उद्भूत हुई वरन् वह एकल काय अल्पप्राण पक्षी की वेदना से निःसृत हुई है।

हमारे नरमेघ, गोमेघ, अश्वमेघ आदि के महा ख से भरे कर्णरन्ध्रों में जब क्षुद्र कौंच की दीन क्रन्दन-ध्वनि प्रवेश पा लेती है तब हम चौंक उठते हैं। कौंच के शोक से तादात्म्य करके ऋषि को आदिकवि की पदवी और श्लोक की छन्दमयता ही नहीं प्राप्त हुई, उससे उन्हें मनाव-जीवन के महागीत के लिए स्वर, लय और ताल खोजने की प्रेरणा भी मिली।

इस कवि की सर्वाधिक महत्ता का कारण शोक और कष्टना की वह व्यापक स्थिति है, जो जीवन के संघर्ष और उसके विकास की मूल प्रेरणा है। 'रामायण' का सारा संघर्ष दो प्रकार का है। पहला राम और रावण का, जो भोग और संयम का संघर्ष है। दूसरा संघर्ष, स्वयं राम के व्यक्तित्व में निहित है। यह भोग और भाग्य का संघर्ष है। स्वस्थ, स्वाभाविक तथा स्वच्छन्द विहार में व्याप्त निद्रा की बाधा से ऋषि को मानों अतिल जीवन के रहस्य का आभास मिल गया। राम की कष्टना और शोक कर्तव्य-भावना से समन्वित होकर उनकी अनुभूति हो उसी और सामंजस्यपूर्ण बनाने में सफल है, जो कवि का अभिप्राय है। राम-जीवन के जन्म का उत्सव देतिए :

कौंच के इस मुग्ध जोड़े से किया हत एक,
तू न पायेगा प्रतिष्ठा व्याध वर्ष अनेक।

तमसा तीर पर कौंच वध की पीड़ा और आन्तरिक शोक से इस श्लोक को रूप मिला
और यदि कवि ने संकल्प किया—

पादवद्ध, समान अक्षर तंत्र गेय समर्थ,
श्लोक यह शोकार्त उर का हो न सकता व्यर्थ।
पूत आत्मा गुरु हुए संकल्प में सन्यस्त,
श्लोक छन्दायित करूँगा राम चरित समस्त।

और परिणामस्वरूप वाल्मीकि रामायण हमारे सामने है। आदिकवि के उत्तराधि-
कारियों में अश्वघोष और कालिदास की ही गणना होगी, किन्तु इन दोनों छोरों
के बीच में पालि वाङ्मय की विस्तृत साहित्य-सृष्टि है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा
सकती। भाषा और सिद्धान्त की दृष्टि से भिन्न होकर भी यह साहित्य भारतीय
चेतना के विकास का महत्वपूर्ण अंश है। वीतराग भिक्षु-भिक्षुणियों के मार्मिक
गीत हमारी गीत-परम्परा की उज्ज्वल कड़ियाँ हैं। अनियंत्रित भोग की लालसा
के विरोध में बुद्ध का संसार के प्रति वैराग्य और प्राणियों के प्रति महाकरुणा का
राग भारतीय साहित्य-यात्रा का एक विशिष्ट आयाम है। 'थेरगाथा' का एक उदा-
हरण यह है:

श्याम घटा जब घिर छा जाती।

घन से भीत बलाकों के दल,
निलय खोजते उड़ चलते जब,
खोल पंख अपने चल उज्ज्वल,

तब अजकरणी सरिता भाती।

सरिता के युग कूलों वाली,

मेरे गुहा निलय के पीछे,
जम्बू की यह सघन द्रुमाली,
किसके मन को नहीं लुभाती,

श्याम घटा जब घिर छा जाती।

इसके पश्चात् जिस कवि का काव्य हमें उपलब्ध होता है, वह संस्कृत कवियों में
पहला भक्त-कवि है। अश्वघोष के निकट बुद्ध केवल काव्यनायक ही नहीं, उसके
उपास्य भी हैं। इस कवि की कृति में धर्म, दर्शन और संवेदनशील हृदय की ऐसी
त्रिवेणी प्रवाहित होती है, कि उसके अवगाहन-स्नान में सबके लिए शीतल एवं
शान्तिप्रद तृप्ति सुरक्षित है, क्योंकि बौद्ध अश्वघोष, कवि अश्वघोष से पराजित

होता चलता है। जिस प्रकार फूल मिट्टी से उत्पन्न होकर भी अपने रूप और गुण में उससे भिन्न होता है, उसी प्रकार सच्चा कवि धर्म तथा सम्प्रदाय के सीमित घेरों को तोड़ कर आत्माभिव्यक्ति में सफल होता है। अश्वघोष के विषय में यह और भी अधिक सत्य है। वह पहिले कवि है, बाद में बौद्ध या कुछ और। उसका काव्य इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। उनके वसंत का वैभव अवलोकनीय है :

देव देखो मंजरित सहकार का तरु, गंध मधु सुरभित खिला जिसका सुमन दल,
बैठ जिसमें मधुगिरा में बोलता यह, लग रहा है हेम पंजरद्वद कोकिल।
आज उज्ज्वल तिलक द्रुम को भेंट कर यह पीत वर्ण रसाल शाखायें सुशोभित,
शुभ्रवेशी, पुरुष के ज्यों संग नारी, पीत केशर अंगरागों से प्रसाधित,
देव आज वसंत में ही राग उन्मद, बोलता है पिक सुनो टुक यह मधुर स्वर,
और प्रतिध्वनि सी उसी की जान पड़ता दूसरे पिक का कुहू में दिया उत्तर।

बौद्धधर्म ने जिस नवीन चेतना को जन्म दिया था, वह कालान्तर से हमारे सामूहिक जीवनधारा में घुलमिल कर एक हो गयी। उसका तिरोभाव अथवा पतन न होकर रूपान्तरण हो गया। फलतः शून्यता में निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा हुई और निर्वाण का स्थान मोक्ष ने ग्रहण कर लिया। एक ओर शंकराचार्य के अद्वैत का बीजारोपण हुआ और दूसरी ओर जातक-कथाओं के साथ अवतारवाद ने जन्म लिया। पुराणों की रचना में मनोरम भावों के प्रतीक विष्णु, राम, कृष्ण आदि की लीलाओं का प्रचार हुआ और देश के वैभवसम्पन्न वातावरण में कला और साहित्य का सृजन बड़े वेग के साथ आगे बढ़ा। भारत का समृद्धिशाली यह युग गुप्तकाल था, जिसे इतिहास में स्वर्ण युग माना गया है। शक्ति से अधिक भावना के परिपाक की महत्ता इस युग की विशेषता है। धर्म की भावना और आनन्द की भावना का अन्तर प्रथम बार स्पष्ट हुआ।

राष्ट्र की इसी सम्पन्न स्थिति में कालिदास का आविर्भाव हुआ। वह कवि न तो किसी सम्प्रदाय की सीमा से सीमित है और न किसी धर्म की धारणा में आवद्ध। इसका कारण भी स्पष्ट है। कालिदास के आते आते जीवन-प्रपाद समस्त भूमि पा चुका था। गुप्तकाल की दृश्य स्वच्छन्दता और ग्रन्थन दोनों की अनुपम शिथिल हो चुकी थी, और जीवन अपनी सहज स्वाभाविक गति में आगे बढ़ रहा था। वस्तुतः यह निर्माण का समय था। कालिदास का सहयोग इन युग की भावना विशेषता है। 'युग-जीवन के मर्म और उसकी सौन्दर्यानुभूति को एक कवि ने यथारस-रंगमयी ऐसी वाणी दी, जो हमारे साहित्य की अलग निधि है। कवि का जीवन-दर्शन, सौन्दर्य बोध, अनुभूति की अतल गंभीरता और अभिनिर्वाण का भावपूर्ण

गत विकास भाव-वैभव की चरम रेखा को स्पर्श करने में समर्थ है।' लीजिए सुनिए...

अब शयन त्यागो सुधीवर यामिनी बीती।

ये तुम्हारे नयन जिनमें स्निग्ध सुन्दर पुतलियाँ चल,
वे कमल जो कोप में वन्दो बनाये भ्रमर चंचल,
साथ ही खुल जाँय तो उपमान बन जायें परस्पर,
यामिनी बीती सुधीवर।

वृन्त शिथिल प्रसून लेकर भेंट नव विकसित कमल वन,
अन्य के गुण की धरोहर ले वही प्रातः समीरण,
चाहती तब सहज सुरभित साँस की समता सके कर,
यामिनी बीती सुधीवर।

आश्रमवासिनी शकुन्तला और हिमालय-कुमारी का सौन्दर्य और स्वभाव वर्णन कवि की अपूर्व प्रतिभा का जीवन्त उदाहरण है। शकुन्तला की विदा-वेल में ऋषि के आशीर्वाचन सुनिये :

कमल वनों से हरित सरोवर मिलें पंथ में रम्यान्तर हों,
छाया सहित पंथ के द्रुम भी रवि किरणों के आतपहर हों।
सरसिज के कोमल पराग सा मृदुल पंथ का धूलि निचय हो,
शान्त औह अनुकूल पवन से यह तेरा पथ मंगलमय हो।

'समय के अनेक आयाम पार कर भाव की जिस अन्तःसलिला का प्रकट औसजल स्पर्श हम पाते हैं, उसके भगीरथ हैं भवभूति। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं इस कवि का जीवन भीषण संघर्ष में व्यतीत हुआ। परन्तु कवि के जीवन में इस संघर्ष की विसंगति का परिणाम किसी प्रकार की कटुता न होकर अमर आशावादी की प्रतिष्ठा का कारण बना, जो कवि की विधायक प्रतिभा का परमोज्ज्वल स्वरूप है। सामूहिक विषमता और विकृतियों के घटाटोप में भी कवि की करुणा अपना आधार खोजने में नहीं चूकती। 'ब्रह्मा के कमंडल में वन्द गंगा के समान भवभूति की करुणा, जो उनकी अन्य कृतियों की सीमा में अभिव्यक्ति का मार्ग खोज काथकती रहती है, उत्तररामचरित में आकाश से पाताल तक अनंत विस्तार पा लेता है। अति परिचय से धूमिल लगने वाली राम सीता की कथा भवभूति की करुणा का स्पर्श पाकर नूतन परिचय की दीप्ति से उद्भासित हो उठती है।' कवि का मान्यता भी यही है :

एक करुण रस ही निमित्त वश विविध भाव में जाता है ढल,
ज्यों आवर्त वीचि बुदबुद में परिवर्तित हो एक रहा जल।

‘संस्कृत साहित्य की निम्नगामी प्रवृत्ति, जिसका आरम्भ भवभूति के रचनाकाल से पहले ही हो चुका था, अपने वेग में दुर्वार होती जा रही थी। पर जिसकी ‘वंशी’ की टेर ने उस निम्नगा को मरु में खोने से बचाकर प्रेम की ओर मोड़ दिया, उस गोपालक तक इतिहास की किरणें नहीं पहुँच पाती हैं।’ जयदेव के समय तक संस्कृत-काव्य में नायक-नायिका के रूप में राधा-कृष्ण की प्राण-प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विकासशील वैष्णव धर्म ने शृंगार को स्वस्थ स्वीकृति देने के लिए ही राधा और कृष्ण को उसका केन्द्र बनाया होगा, यह सहज ही अनुमेय है। जयदेव ने गीतगोविंद में शृंगारी चित्रों को तान और लय से बाँध कर एक ऐसी मधुर गेयता दे दी, जो सब के आर्कषण का अनन्य कारण बनी।

यह रचना अस्ताचलगामी संस्कृत काव्य के उस सन्ध्या वन्दन का स्वरूप सामने रखती है, जिसके ऊपर कोमल किरणों का झीना आवरण है और नीचे अनंत अंध-कार का सागर लहरा रहा है। कृति का मंगलाचरण इसी तथ्य की पुष्टि करता है:

तिमिराच्छन्न गगन को करते घिरते आते हैं यह बादल,
घन तमाल वृक्षों की छाया से बन-भू लगती है श्यामल।
यमुना-तट के कुंज-पथों पर जो चल देते स्नेह-मुग्ध मन,
उन दोनों राधा-माधव की जयति सदा मधु क्रीड़ा पावन।

जयदेव की गीतावली से कुछ पंक्तियाँ ये हैं:

छाया सरस वसंत विपिन में करते श्याम विहार।
युवति जनों के साथ रास रच करते श्याम विहार।
ललित लवंग लताएँ छू कर बहता मलय समीर,
अलि संकुल पिक के कूजन से मुखरित कुंज कुटीर,
विरहि जनों के हित दुरन्त इस ऋतुपति का संचार।

करते श्याम विहार॥

मृग मद के सौरभ सम सुरभित नव पल्लवित तमाल,
तरुण जनों के मर्म विदारक मनसिज नख से लाल।
किंशुक के तरु जाल कर रहे फूलों का शृंगार।

करते श्याम विहार॥

गद्यकार महादेवी

अब तक महादेवी ने अपनी करुण कोमल कविता से ही साहित्य में प्रवेश किया था। 'अतीत के चल-चित्र' उनकी प्रथम गद्य-पुस्तक है। रचना चाहे गद्य की हो, चाहे पद्य की, उसमें साहित्यकार के व्यक्तित्व का भाव अवश्य रहता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवों, विचारों तथा मनोभावों की छाप उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार वस्तु की स्थिति के साथ उसकी छाया। यह छाया कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होती है, किन्तु उसका अस्तित्व अमिट रहता है।

हिन्दी-काव्य में महादेवी ने करुणा का जो शृंगार किया है, वह किस दूसरे कवि से नहीं बन पड़ा। इसका यह मतलब नहीं कि करुणा अन्य कवियों में नहीं है, किन्तु वह उतनी मधुर तथा सुन्दर एवं आलोकमयी नहीं हो पायी, जितनी महादेवी के काव्य में। महादेवी के काव्य में करुणा करुण न होकर सरस सजल हो गयी है; क्योंकि वहिर्जगत में उन्होंने उसके व्यापक अस्तित्व की एक ऐसी आभा दिखा दी है, जो भावों तथा अभावों दोनों को अपनी समान सहानुभूति से सहज ही में बाँध देती है। यही उनके कवि की विशेषता है।' अतीत के चलचित्र में भी हम इसी भाव-धारा का अविरल प्रवाह पाते हैं। स्वाभाविक भी यही है। कविता और कहानी, दोनों मानवता के प्रारम्भिक साथी हैं, अन्तर इतना है कि शिशु रूप से मनुष्य बिना किसी सार्थकता का ध्यान रखे हुए अपनी माँ से बोल उठता है—'माँ कह एक कहानी' ! किन्तु जीवन के संघर्ष में पड़कर वह जीवन की वास्तविकता का बोध कराने वाली कहानी से ही लुप्त होता है। कवि और कहानीकार एक ही लोक के निवासी हैं; दोनों की क्रीड़ा-भूमि है, मानव जीवन। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो कहानीकार उसका निरीक्षक। कहानीकार जिसका निर्माण करता है, कवि उसका उपयोग करता है। दोनों का उद्देश्य एक है—जीवन की मार्मिकता का संवेदनात्मक उद्घाटन। जिस प्रकार गीति कविता एक ही मानव की तन्मयता में सजीव हो उठती है, उसी प्रकार एक छोटी कहानी एक ही भावना के उन्मेष-क्षणों में अपना जीवन पा सकती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि और कहानीकार के सम्मिलन से जो साहित्य-सृष्टि होगी, वह

मानव मात्र के लिए कल्याणकारी होगी। 'अतीत के चलचित्र' हिन्दी साहित्य के लिए ऐसा ही सुफल है। इसमें महादेवी जी की कुछ संस्मरणात्मक कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों के विषय में लेखिका का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है—

“समय-समय पर जिन व्यक्तियों के सम्पर्क ने मेरे चिन्तन को दिना और समवेदन को गति दी है, उनके संस्मरणों का श्रेय जिसे मिलना चाहिए, उसके सम्बन्ध में कुछ विशेष नहीं बता सकती। कहानी एक युग पुरानी और कहुना से भीगी भी है। मेरे एक परिचित परिवार में, गृहस्वामिनी ने अपने एक वृद्ध सेवक को किसी तुच्छ-से अपराध पर निर्वासन का दण्ड दे डाला और फिर उनका अहंकार, उस अकारण दण्ड के लिए असंख्य बार माँगी गयी क्षमा का दान भी न दे सका। ऐसी स्थिति में वह दरिद्र, पर स्नेह में समृद्ध वृद्ध कभी गेदे के मुरझाये हुए फूल, कभी हथेली की गर्मी से पसीजे हुए चार वताशे और कभी मिट्टी का एक रंग-हीन खिलौना लिये अपने नन्हें प्रभुओं की प्रतीक्षा में पुल पर बैठा रहता था। नये नौकर के साथ घूमने जाते हुए बालकों को जब वह अपने तुच्छ उपहार दे कर लौटता, तब उसकी आँखें गीली हो जाती थीं। सन् '३० में उस मृत्यु को देखकर मुझे अपना वचन और उसे अपनी ममता से घेरे हुए रामा इस तरह स्मरण आये कि अतीत की अधूरी कथा लिखने के लिए मन आकुल हो उठा।”

वस इसी कहुना घटना से इन कहानियों के जन्म को प्रेरणा मिली है। इस कहुना का महत्व सभी के लिए शायद अधिक बोधगम्य है, क्योंकि जब महादेवी का कवि गा उठता है कि—

“सजनि में उतनी कहुना हूँ, कहुना जितनी रात,”

तब वह अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता हुआ अपने प्रतिपाद्य को ढूँढ़ निकालता है, जिसका हमारे जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनके कहानीकार के अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सांसारिक कृत्यों तथा रागों में पैठते हुए कुछ ढूँढ़ निकालने के वर्णन में। कवि तो भावना तथा कल्पना की भूमि से जीवन को देखता है और कहानीकार जीवन से भावना और कल्पना के लोक में पहुँचता है। इसलिए कहा जाता है कि काव्य का सत्य प्रत्यक्ष सत्य की ही कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि उसमें वह सत्य भी निहित रहता है, जो सम्भवतः सत्य कहा जा सकता है। गहरा और सौन्दर्य तो काव्य के आवश्यक उपादान है, किन्तु उसके विषय पर मतभेद है।

कहानी बिना यथार्थ की अनुपपत्ति प्राप्त लिये सम्भवतः अपना जीवन ही नहीं कर सकती और अपनी इस वास्तविकता के लिए वह अन्यायपूर्ण तो

भी पहुँच की वस्तु मानी जाती है। किसी भी साहित्य की राचाई और उसके व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उसका जीवन है। संस्मरणों में वह अपने-आप आ जाता है। अस्तु, 'अतीत के चलचित्र' में हम महादेवी की कला की कमनीयता के साथ उनके जीवन की पवित्रता का भी सहज ही में ही बोध प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ऐसी कला के भीतर कलाकार के आत्म-रूप की चेतना ही कला का स्वरूप निश्चित करती है।

कहानियों में यथार्थ की अनुरूपता आवश्यक है, किन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि जनसाधारण और साहित्यकार का यथार्थ एक नहीं होता, क्योंकि साहित्य-सृजन मनुष्य की सत् प्रवृत्तियों की प्रेरणा मात्र है। अतः यदि कला मनुष्य के अन्तःकरण का सच्चा प्रतिबिम्ब है, तो अवश्य ही वह सत् की ओर प्रवृत्त होगी। सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का माना गया है। एक जिज्ञासा का, दूसरा प्रयोजन का और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का लगाव दर्शन से, प्रयोजन का विज्ञान से तथा आनन्द का सम्बन्ध केवल साहित्य से है। सत्य जहाँ आनन्द का उद्रेक करता है, वहाँ वह साहित्य की संज्ञा पा जाता है। कलाकार का यथार्थ भी इसी सत्य का समर्थक होता है।

महादेवी के संस्मरणों की यथार्थता को यदि स्वाभाविक कहा जाए तो अधिक अच्छा हो, क्यों उनके यथार्थ पर आदर्श उसी प्रकार स्थापित है जिस प्रकार पृथ्वी पर आकाश। कहानियों की यह करुणा एवं मनुष्यता की यह ममता, शरद बाबू ने प्रथम बार भारतीय साहित्य में सुलभ की थी। महादेवी ने अपनी समवेदना-शक्ति से उसे एक नवीन गति दी है। इन सभी कहानियों में करुणा का एक अबाध स्रोत है, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति हार्दिक समवेदना है, मनुष्यत्व को जगा देने की कामना है और है, विश्व-कल्याण की एक भावना। जगह-जगह उनका कवि अपनी समवेदना की सीमा पर खड़ा होकर जैसे गाने लगता है—

मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण-कण वस जाती,
भरती है संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में!

उनके सभी संस्मरण एक निश्चित उद्देश्य एवं लक्ष्य को लेकर लिखे गये हैं, किन्तु उनमें उपदेश की शुष्कता का आभास नहीं मिलता, वरन् उनके निर्णय को पाठक सहज ही में इस प्रकार ग्रहण कर लेता है, जैसे माँ के बच्चों को एक शिशु। महादेवी की सभी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा जीवन के यथार्थ को स्पर्श करती हुई आगे बढ़ती हैं। उनमें कल्पना की मात्रा कम तथा अनुभूतियों का

आधिक्य है और समाज की स्वार्थपरता पर एक आकुल आक्रोश भी है। 'सविया' के प्रसंग को लेकर महादेवी का यह कथन उद्धरणीय है—

‘पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिए स्त्री को बड़े से बड़ा दुख दे डालता है और ऐसी निश्चितता से, मानों वह उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे रूप में ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ का तहाँ पटक कर भाग खड़े होने की होती है।’

यह आक्रोश केवल नारी का पक्ष लेकर ही नहीं चलता, वरन् लेखिका ने अपनी निष्पक्षता के दृढ़ आधार पर नारियों के प्रति भी अपनी उदासीनता प्रसंग के अनुसार प्रकट की है। देहाती ननदों की निर्दयता का यह कितना मार्मिक दिग्दर्शन है—“सब से कठिन दिन तब आते, जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरों पर नीले दाग रह जाते थे।”

इस प्रकार समय और परिस्थिति के अनुकूल उनके सभी पात्र अपनी सारी सजीवता के साथ जीवन-यात्रा के पथ पर चलते दिखाई पड़ते हैं। महादेवी अपने उद्देश्य विषय की प्रेरणा से प्रभावित होकर उनके मार्ग में कोई कृत्रिम बाधा नहीं उपस्थित करतीं। उनके पास किसी सिद्धान्त का नहीं, वरन् मनुष्यता का माप-दण्ड है। कहानी की यही स्वाभाविकता जहाँ एक ओर उसकी सीमा बाँध देती है, वहाँ दूसरी ओर उसे साधारण जीवन के समीप भी रख देती है। कहानियों में कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के समीप पड़ती हैं। सारांश यह कि कविता की भाँति कहानियों से हमें केवल काल्पनिक तथा बौद्धिक वृत्तियों की तृप्ति नहीं मिलती, अपितु उससे हम जीवन की पहेलियों का भी समाधान पाते हैं। कविता पढ़ कर हम सोचते हैं कि ऐसा हो सकता है और कहानियों में हम वह पाते हैं, जो होता है। अतः हम कह सकते हैं कि महादेवी की कहानियों का एक छोर कविता है तो दूसरी ओर जीवन और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी द्विगुणी साधना से सामाजिक जीवन के निम्न तथा उपेक्षित व्यक्तियों को लेकर उन्होंने जीवन का समग्र-मापक चतुर्दिक चित्र न लेकर भी केवल एक भावना से जीवन की घनीभूत मार्मिक प्रेरणा को जित प्रकार स्पर्श किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है।

सम्भवतः साहित्य, मन और स्वभाव की उपज है। इसलिए जिन व्यक्तियों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है, उनका प्रभाव उन्हीं साहित्य पर भी पड़ता है। साहित्यकार के जीवन की भावना के निम्न उदाहरण साहित्य

काफी होता है, विशेषकर संस्मरणों में तो वह और स्पष्ट रहता है। एक शिशु की सहज स्पर्धा के साथ अपने शिशु रूप का कितना स्पष्ट चित्रण लेखिका ने उपस्थित किया है—“इतना कष्ट सह कर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे। पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था।”

मैं तो कहूँगा कि जीवन की किसी भी जटिल परिस्थिति में इन पंक्तियों का आज भी वे समर्थन करेंगी, ‘मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नहीं जानती।’ महादेवी के आत्मविश्वास की साधना ने ही आज के प्रगतिपंथियों की अनेक कटु आलोचनाएँ सुन कर भी उन्हें अपनी स्थिति में अटल रखा, अन्यथा इस तूफानी युग में कौन नहीं आत्म-विस्मृत हो गया? अपने पात्रों के रेखा-चित्र में तो वे इतनी चित्रोपमता ला देती हैं कि पात्र हमारे सामने प्रत्यक्ष सा खड़ा हो जाता है—

“रामा के संकीर्ण माथे पर खूब घनी भाँहें और छोटी-छोटी स्नेह-तरल आँखें किसी थके झुंझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से होंठ तथा काले पत्थर की प्याली में दही की याद दिलाने वाली सघन और सफेद दन्तपंक्ति।”—यह है रामा का चित्र स्पष्ट और बोधगम्य। एक पहाड़ी युवती का भी चित्र देखिए—

“घूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी ने कच्चे सेव को आग की आँच पर पका लिया हो। सूखी-सूखी पलकों में तरल-तरल आँखें ऐसी लगती हैं, मानों नीचे आँसुओं के अथाह जल में तैर रही हों और ऊपर हँसी की वूप से सूख गयी हों। शीत सहते-महते होठों पर फैली नीलिमा, राग दाँतों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात-दिन कठिन पत्थरों पर दोड़ते-दीड़ते पैरों में और घास काटते-काटते तथा लकड़ी तोड़ते-तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गयी है, उसे मिट्टी और गोबर की आदत कुछ कोमल कर देती है।”

बीच-बीच में विनोदमय व्यंग्यों की मार्मिकता और व्यत्यात्मकता को सीधे हृदय पर पहुँचती है—

“मनु महाराज जो कह गये हैं, उसे अत्यन्त प्रमाणन कर कुम्भीपाक में विहार करने की इच्छा न हो, तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टी गीमरे विवाह की इच्छा हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है। और उसका उधार का क्या निरन्तर कटिबद्ध परोपकारियों की, इस पुण्य भूमि में और निर्गमक रूप आम युग में, कमी नहीं हो सकती। फिर इतने विकास-कलाप की क्या आवश्यकता

एक बार अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिन्दू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता में सक्रिय भाग ले रहे थे, तब.....।”

व्यक्ति, समाज तथा संसार की इतनी मीठी तथा मर्मस्पर्शी चुटकियाँ ली गई हैं कि एक बार पाठक का मन भी लेखक के साथ ही उन बातों पर तिलमिला उठता है। इन उपर्युक्त विश्लेषणों और उद्धरणों के आधार पर यह कहा जाता है कि महादेवी के संस्मरणों में जीवन का सत्य मनोवैज्ञानिक रहस्य, संघर्ष की समस्या तथा व्यापक जीवन की पूर्णता का संकेत बड़ी सरलता से उपलब्ध होता है, जो एक साहित्य-कृति की सार्थकता है।

आइए, हम सब भी अंधे-कुरूप अलोपी के प्रति महादेवी की मातृ-ममता के साथ अपनी ममता की अंजलि देकर विश्व के प्रति स्नेह-तरल हो लें—

“आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानो एक छायामूर्ति में पुंजीभूत होने लगती है। फिर धीरे धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमें मुझे कच्चे काँच की गोलियों जैसी निष्प्रभ आँखें भी दिखाई पड़ती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की रेखा का आभास मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ, नियति के व्यंग्य जीवन और संसार के छल से मृत्यु पाने वाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा।”

महादेवी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चुनाव प्रायः जीवन की अव्यवस्थित कुरूपता से ही किया है। मेहतारानी ‘सविया,’ मल्लाह का मलिन बालक ‘बीगा,’ तरकारी बेचनेवाला ‘अलोपी,’ गाँव का कुम्हार ‘बदलू’ आदि ही तो उनके कथानायक हैं। पात्रों का शृंगार और शारीरिक विन्यास भी उसी धेनी का है—

“एक दिन मास भर के शिशु नामधारी मांसपिंड को चीकट से कपड़े में लपेटे और अपनी नग्नता को मलिनता से ढाँकने वाली पाँच वर्ष की बचिया को उंगली से सहारा दिये सविया मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसका मुत चिपनी, लंबी मिट्टी से गढ़ा जान पड़ता था। पैर में मोटे-मोटे चमकहीन किट्ट के कड़े उसे कैदी की स्थिति में डाल देते थे। कुछ कम चौड़े ललाट पर जुड़ी भाँसे के ऊपर लगी पीली काँच की टिकुली में जो शृंगार था, वह भटकटपट्टा के फूल से भूरे शृंगार का स्मरण दिलाता था।” वरत, सभी पात्र सर्वथा इसी तरह से रीत-रीत हैं, किन्तु महादेवी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौन्दर्य उनके जीवन में रखा है, वह उन्हीं की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने जिता भी है। उनके जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, पर वह सामान्यत्व की रेशाओं में मिली हुई मूर्तिमान होता है, उतनी निष्पत्ता में नहीं। अंत-अंत हम बाह्य रूपों से निर्धारण करने आते हैं, वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते आते हैं।” महादेवी ने अपने

की स्थिति सम्पूर्ण जीवन में मानी, तभी तो उन्होंने पात्रों की बाह्य कुरूपता के आवरण को हटा कर उनके जीवन में अंतर्हित उस सौन्दर्य को खोज निकाला है, जिसके फलस्वरूप वे पाठकों की समवेदना के द्वार से बराबर उनके हृदयों में जाँकते रहते हैं। उनकी कुरूपता उदासी की नहीं, वरन करुणा की अधिकारिणी बन जाती है। कलाकार की सृष्टि का यही आकर्षण है।

पीड़ितों के प्रति ममता, उपेक्षितों के प्रति उदारता, शोषितों के प्रति सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सुझाव के साथ क्षमा आदि के अनुपम सम्मिश्रण से जिस साहित्य-सरिता का उद्गम होगा, वह युग-युग तक अपनी शीतलता से जीवन से थके-संतप्त हृदयों का सिंचन करती रहेगी, यह तो सभी मानेंगे।

इस पुस्तक में कवि, गद्यकार तथा आत्मकथाकार का संस्मरणात्मक समन्वय बड़े ही साधनात्मक ढंग से किया गया है। मानव-जीवन वास्तव में भावना, अनुभूति और संवेदना से सुगठित होकर ही अपना विकास पाता है। 'अतीत के चलचित्र' में जीवन की इसी दिशा का सफल संकेत है। संस्मरणों में अनुभव समय की विस्मृत व्यथा से सिक्त होकर सामने आते हैं, सम्भवतः इस लिए वे अधिक कोमल, मधुर तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। लेखक का अपनापन इनका प्राण-स्पन्दन होता है। जिसका अविच्छिन्न क्रम महादेवी की रचना में स्वाभाविक रूप से सन्निहित है। यही कारण है कि इन संस्मरणों को पढ़ते समय किसी स्थल पर लेखिका की वर्णन-प्रणाली में बनावटीपन का आभास नहीं मिलता। स्थितियों के विरोधाभास की उपस्थिति से महादेवी सहज ही मनोभावों तथा घटनाओं का ऐसा चित्र उपस्थित कर देती हैं कि वह सब की ममता का अधिकारी बन जाता है। घटनाओं का इतना तथ्यपूर्ण वर्णन बोध की सीमा में शीघ्र ही प्रवेश पा लेता है और लेखक के उद्देश्य की सम्भावना का आरोह सामने उपस्थित हो जाता है। शैली का यह अपूर्व कौशल है। महादेवी की साधना और उनके संयम ने उनके गद्य की शैली को इस सुचारुता से संचालित किया है कि उनका निजी सामाजिक विद्रोह कहीं उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका। यह तटस्थता ऐसे संस्मरणों की जान है। करुणा, विनोद और व्यंग्य की यह त्रिवेणी मानवता के संतापों को शमन करने का साधनापूत प्रयास है। करुणा की इस कलित रागिनी में महादेवी के अनुभवों के वे स्वर, जिनमें उनका जीवन कभी विकल हुआ, स्वयं भास्वर हो उठे हैं। अस्तु, उनकी सारी करुणा, सारा विद्रोह और सारी विचार-धारा का रहस्य पाठकों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी चित्र उनकी मार्मिक भावभूमि का सुन्दर परिचय देने में सर्वथा समर्थ हैं।

'शृंगला की कड़ियाँ' महादेवी की दूसरी गद्य-पुस्तक है। पुस्तक के विषय

की प्राण-प्रतिष्ठा उसके समर्पण के शब्दों में जैसे साकार हो उठी हों—“जन्म से अभिशप्त, जीवन से सन्तप्त किन्तु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को।” ‘शृंखला की कड़ियाँ’ में नारी-जीवन के उन अभिशापों का उद्घाटन किया गया है, जिन्होंने नारी-जाति को युगों से मानवता का कलंक बना रखा है। साथ ही उसकी मुक्ति के साधनों का भी सुझाव दिया गया है। भारतीय नारी की जटिल एवं विपम परिस्थितियों को महादेवी ने एक विचारक की भाँति अनेक दृष्टिकोणों से देखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिए। सामान्यतः भारतीय नारी में इसी विशेषता का अभाव मिलेगा। कहीं उसमें साधारण दयनीयता है और कहीं साधारण विद्रोह है, परन्तु सन्तुलन से उसका जीवन परिचित नहीं।” नारी-जाति के सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन की विवेचना महादेवी ने बड़ी ही कुशलता के साथ की है। अन्याय के प्रति असहिष्णु होने के नाते कभी-कभी उनके नारी विषयक मनोभाव उग्रता की सीमा को स्पर्श करते हुए भी प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका स्वभाव सर्वथा समाज की कुरूपताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा का है। अपने व्यंग्य की मर्मन्तिक शड़ियों से ही वे सामाजिक व्यवस्था के सृजन-बीजों का वपन बड़ी साधना से कर जाती हैं। नारी-जाति की संस्कार-जड़ता, उसकी आर्थिक हीनता तथा उसके प्रति पुरुष की एकान्त स्वार्थपरता का इतना सजीव स्वरूप उन्होंने सामने रखा है कि उससे बड़े-बड़े पुरुष-पुंगवों को भी लज्जा से अपना गिर झुका देना पड़ता है। मानव जीवन की पूर्णता स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की सापेक्षता पर कितनी आश्रित है, इस बात का पता हमें ‘शृंखला की कड़ियाँ’ से चलता है।

विचारात्मक निबन्धों की इस शैली में केवल निष्प्राण शब्दों की भरमार ही नहीं, वरन् जीवन की अनुभूतियों की सचाई और सारा है। युग-चेतना की माँग के रूप में महादेवी जी ने इस विषय को नहीं अगनाया, यह तो उनके जीवन के विकास-पथ की प्रतिष्ठा है। कहीं-कहीं नारी जाति की कमजोरियों की ओर से महादेवी जी ने आँख भी छिपाई है, किन्तु इसमें पश्चात्ताप का आग्रह नहीं, नारा की वेदना की अनुभूति-तीव्रता है; क्योंकि मनुष्य-जाति ही मानविक उन्नति, महत्ता तथा अन्य सद्गुणों पर जब विचार किया जाता है, तब पुरुषों में विपरीत का स्थान बहुत ज़ेरा उतरता है। साधारण जीवन में पुरुष जाति का स्वयं की भावना से परिचालित होता है, किन्तु नारी स्वयं को ही मानव और परमात्मा के प्रिय होती है। किसी देश की संस्कृति के निर्माण और विकास में नारी की अत्यन्त प्रसूति है और नर उसका पिता एक। जीवन के संवेदनों से—पुरुष और स्त्री

परिणामी और दूसरा प्रतिलोम परिणामी। एक निर्माण-शक्ति है और दूसरी विध्वंस-शक्ति। कहना न होगा कि नारी सदैव निर्माण-प्रिय होती है। वस्तु के निर्माण के पश्चात् उसके विनाश का समय आता है, इस कारण यह निश्चय है कि नारी की उत्पत्ति भी नर से पहले हुई। नर, नारी का अनुन्नत रूप है। जीवन-सत्ता का प्रधान आधार नारी है।

पुरुष ने नारी के साथ लगातार अक्षम्य अपराध किये हैं। उसको क्रीड़ा की पुतली, खेल-तमाशे की वस्तु और अपनी धूर्तता का शिकार बनाया है। क्या यह कृतघ्नता नहीं है? फिर क्या यह सम्भव है कि निसर्ग के साथ छल करने वाला कभी सुखी हो? इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुष ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। जाति, धर्म कानून, साहित्य और लोकमत—सभी क्षेत्रों में स्त्रियों को दवाने की चेष्टा की गई है। यदि कहीं स्त्रियों की कोई स्थिति है भी, तो पुरुषों की दासता के लिए, न कि सहयोगिता के लिए। पुरुषों ने जन्म लेते ही असंख्य लड़कियों के गले घोट डाले, अगणित स्त्रियों को धर्म के नाम पर जला दिया, किन्तु नारी ने माता बन कर उनका पोषण ही किया है। यदि कहीं स्त्रियाँ भी इस नारी-विरोधी नरसंतति का गला घोटना प्रारम्भ करतीं, तो आज विश्व की क्या दशा होती? अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि नारी स्वभाव से देव है तो नर शैतान। पुरुष स्त्री को अपना भोग्य-पदार्थ ही मानता है, इससे कुछ अधिक नहीं। इतिहास की इस चेतावनी से प्रत्येक समझदार व्यक्ति को इस निश्चय पर पहुँचना चाहिए कि संसार के भावी विकास के लिए और व्यापक जीवन को अधिक सुखी और शान्तिमय बनाने के लिए स्त्रियों का उचित अधिकार पाना अत्यंत आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धी ऐसी ही व्यवस्थाओं, और विवशताओं को सामने रख कर साहित्य में यह सामाजिक संजीवन उपस्थित किया गया है। इसका तीखापन स्वाभाविक है।

मानव-जीवन में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध विषयक उनके विचार उल्लेखनीय हैं—किसी-किसी की धारणा है कि अपने सर्वतोमुखी विकास के उपरान्त स्त्री का पर्वत के शिखर के समान उच्च परन्तु उसी के समान एकाकी हो जाना निश्चित है, क्योंकि तब अपने जीवन की पूर्णता के लिए उसे किसी संगी की अपेक्षा ही न रहेगी। परन्तु वास्तव में यह धारणा प्रत्यक्ष सत्य का उल्लंघन कर जाती है। अपने पूर्ण से पूर्ण विकास में भी एक वस्तु दूसरी नहीं हो सकती, यही उसकी विशेषता है। अतः उससे जो भिन्न है, उसका अभाव अवश्यम्भावी है। अपने पूर्ण से पूर्ण गौरव से गौरवान्वित स्त्री भी इतनी पूर्ण न होगी कि पुरुषोचित स्वभाव को भी अपनी प्रकृति में समाहित कर ले, अतएव मानव-समाज में साम्य रखने के लिए

उसे अपनी प्रकृति से भिन्न स्वभाव वाले का सहयोग श्रेयस्कर होगा। इस दशा में प्रतिद्वन्द्विता सम्भव नहीं। इसी प्रकार के अनेकों ऐसे स्थल हैं, जहाँ लेखिका ने शांत और तटस्थ भाव से समाज में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की संतुलित विवेचना की है। वास्तव में सामाजिक जीवन की नींव अर्थ-विभाजन और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की सुचारुता पर ही खड़ी है, इन प्रश्नों का सम्यक सुझाव महादेवी ने स्पष्टतया सामने रखा है, जो आदरणीय और अनुकरणीय है। इन निबंधों का सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी-जाति की समस्याओं का उद्घाटन पुरुषों ने अपने दृष्टिकोण से किया था; किन्तु इनमें प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओं का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इनकार नहीं किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवी ने विवेचनात्मक गद्य भी लिखा है। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो आलोचक उनका निरीक्षक, इसलिए कवि भावप्रधान तथा आलोचक विचारप्रधान होता है। महादेवी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों स्वरूपों को अपनी साधना का सहयोग दिया है, उनकी साहित्य-विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समुचित और संतुलित सामञ्जस्य का सुफल है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पुस्तक इसका प्रीट् प्रमाण है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निष्पक्ष निरूपण इन विवेचनाओं में जिस परिमार्जित एवं प्रांजल, सरस स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र सहज मुलभ नहीं। विचारक महादेवी का एक संकेत, एक शब्द और एक वाक्य पाठकों के अन्तःकरण में अनुभूति तथा चिंतन की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं। उनके सुलक्ष्ण विचारों की शक्तिमत्ता, उनके सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, उनके आत्मानुभूत सिद्धान्तों की प्रतिपादना और उनकी जीवन-दर्शन की व्यापकता से संरक्षित और संचालित उनका आलोचक सूक्ष्म और स्वस्थ साहित्यिक अभिप्रायों के उद्घोषण में अद्वितीय है, यह मेरी दृढ़ धारणा है। टीका भी है, जीवन की स्वाभाविक संयोजना, सौन्दर्य की सात्विक आराधना तथा साहित्य की सहेतुक साधना के लिए आत्मा के जिस पूर्ण परिष्करण की अपेक्षा रहती है, वह महादेवी जैसी कलाकारों की अपनी चीज है। सम्भवतः इसी कारण नंगार के वेद साहित्य और ज्ञान में कलाकार का व्यक्तित्व मूल की भांति समाया हुआ है।

महादेवी की विवेचनाओं में आलोचना के टेक्नीक के अतिरिक्त अन्तर्भाव में प्रवेश करने वाली मार्मिक साहित्यिक सूझ और 'बेत घाउर' से प्रभावित होने वाली स्निग्ध गुन्दर सहृदयता की भी प्रभुता अभिव्यक्तता हुई है, जो किसी आलोचना-पद्धति के धिक्कार में निरन्तर ही पक्ष-प्रदर्शन करने में समर्थ रहती है।

काव्य की भाँति हिन्दी का गद्य-साहित्य भी महादेवी की कृतियों से गौरवान्वित है। 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध' महादेवी जी के आलोचनात्मक निबन्धों का बहुप्रशंसित संग्रह है। छायावाद युग ने नये काव्य की सृष्टि के साथ एक नये काव्य-चिंतन की, नये काव्य-शास्त्र की, नये काव्यालोचन की भी नींव रखी, तो यह स्वाभाविक ही था। समालोचना की इस प्राणवन्त प्रणाली में, अनुभव से परिपुष्ट इस चिंतन में पाठकों को शिक्षित करने के साथ एक नये काव्य-सिद्धान्त की स्थापना का भी उद्देश्य रहा हो तो आश्चर्य की बात नहीं। जीर्ण-शीर्ण परम्परा से आवद्ध हासोन्मुख-युग में कवि, जब पाठकों की रसज्ञता के प्रति आश्वस्त नहीं रहता तब उसके लिए काव्य के स्पष्टीकरण की विवशता अनिवार्य हो उठती है।

कवि समालोचक की दृष्टि में काव्य-सृष्टि के प्रति एक प्रत्यक्ष-साक्ष्य की स्पष्टता और तत्परता तो होती है, सृजन के विभिन्न और विविध तत्वों से परिचित होने के नाते उसकी मान्यताओं का बोधगम्य और विश्वसनीय होना भी सहज होता है। स्वयं कवि के स्वानुभूत, मार्मिक स्पंदनों से मुखरित होने के कारण उसकी विवेचना अपनी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता में भी अमोघ रहती है।

छायावादी कवियों ने अपनी विस्तृत भूमिका में तथा वक्तव्यों और विज्ञप्तियों द्वारा अपने काव्यात्मक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने की सफल और सार्थक चेष्टाएँ की हैं। महादेवी जी ने ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं, जो छायावाद-युग मात्र की भूमिकाएँ मानी जा सकती हैं। वस्तुतः वे छायावाद की सबसे समर्थ समालोचक हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता निस्संगता और काव्य को जीवन की विशाल भूमि पर रखकर परखने की क्षमता है। भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन से प्राप्त पुरानी कसौटी तो उनके पास है ही, आवश्यकता के अनुसार युगानुरूप नवीन कसौटी गढ़ लेने की सर्जनात्मक शक्ति का भी उनमें प्राचुर्य है। यही कारण है कि उनकी विवेचना शास्त्रज्ञ आचार्य की कठोर बौद्धिक रेखाओं से धिरी न हो कर जीवन को संसिक्त करने वाले भावना-प्रपात की तरह तरल-स्वच्छ और सतत प्रसरणशील है।

वाह्य जीवन की स्थूलता और अन्तर्जगत की सूक्ष्मता के व्यापक अनुभव, चिंतन और मनन से प्राप्त सत्य, शिव और सौन्दर्य के बल पर समालोचक के पूर्व निर्मित सिद्धान्तों और परम्परापोषित विचारों को चुनौती देते हुए काव्य के सच्चे मापदण्ड स्वयं कवि की रचनाओं से ही खोजने का उन्होंने जो उचित आग्रह किया है, वह समालोचना के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन के साथ काव्यालोचन की नयी प्रणाली का भी स्वस्थ सूत्रपात करता है। हिन्दी समीक्षा के स्वरूप

में उनकी इस मौलिक देन का ऐतिहासिक महत्व अक्षुण्ण नहीं।

यदि पुरानी काव्य-लीक के प्रेमी और छायावाद के अकथित आलोचकों ने उनकी संश्लेषणात्मक विवेचना का तो उनकी आलोचना की वह हास्यास्पद स्थिति न हुई हो प्रत्यक्ष है।

महादेवी जी की समीक्षा की मुख्य कसौटी अनुभूति, से समन्वित उनका जीवन-दर्शन है, जो समीक्षा की प्रगति के सिद्ध हुआ है। उनकी मान्यता है—'किसी मानव-समूह को, के साथ तत्त्वतः जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध हैं, मधुर उसका साहित्य ही कहा जायगा। साहित्य में मनुष्य व चित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अन्तर्जगत बाह्य-जगत में अपरिधि तथा सरल स्पष्टता में बँध जाता है तथा सीमित के कारण पुराना लगने वाला बाह्य-जगत अन्तर्जगत के विचिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इसी प्रकार हमें सी असीम में संभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती। कुछ क्षणों में असंख्य अनुभूतियों और विराट ज्ञान के साथ जी हमारे शान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह में वनने-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परन्तु प्रतट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वह हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को, ऐसे एकाकी अंत के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलाने का सम्यक् देता

‘धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर में उन्नत स्थिति के भी पापाणीकरण को अभिशाप मानता वचने के लिए उसने जितने प्रयत्न किए हैं, उनमें साहित्य रहा है।’

‘दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जीवन-मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य-रूप में अवतरित, पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है। पर रम स्वेच्छा स्वी शीलता से जीवन और उन्नत विकास की पृथ्वी का ग

‘नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नहीं, नवीन तरंग-भंगिमा है। देश-विदेश के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य में नवीन तरंगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नहीं करती, वरन् उन्हीं नवीन तरंग-भंगिमाओं की अनन्त आवृत्तियों के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुँचने की शक्ति पाती है।’

‘इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करें तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनन्त परिवर्तनों की भीड़ में भी उसमें एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी, जिसके प्रभाव में किसी परिवर्तन की स्थिति सम्भव नहीं रहती। समुद्र की वेला में जो धरती व्यक्त है, उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अपार जलराशि को सँभालती है। समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल में भी जीवन की ऐसी ही धरती है।’

‘सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना में जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरों तक पहुँचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम नहीं है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को संचालित करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यों के सृजन का तो प्रश्न ही क्या, जब जगत के भौतिक तत्वों की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नहीं करता कि वह भौतिक तत्वों का स्रष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छन्द और अभिव्यक्ति-पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अंश में उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुँच जाता है, वैसे ही चेतना की अखण्ड व्याप्ति अपने ऋत रूप सत्य को भिन्न चेतना-खण्डों के लिए सहज सम्भव कर देती है।’

अपने इसी बोध-विचार और जीवन-दर्शन के आधार पर महादेवी जी ने काव्य-कला के विवेचन-विश्लेषण में यह आर्ष वाक्य लिखा है—‘सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य उसका साधन है।’ ‘एक अपनी एकता में असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता में अनंत, इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मय भरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।’ इस कथन में उनकी काव्य सम्बन्धी धारणा स्पष्ट है।

व्यक्त अनेकता में अन्तर्निहित एकता की खोज करने वाले की आस्था सामंजस्य और समन्वय पर ही आरुढ़ रहती है। साहित्यालोचन में उनका दृष्टिकोण इसी पृष्ठाधार पर संस्थित है। उन्होंने लिखा भी है—

‘जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलतः और लक्ष्यतः सामंजस्य-वादिनी होती है। साहित्य का आधार कभी आंशिक जीवन नहीं होता, सम्पूर्ण जीवन होता है। साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाँही वस्त्र में दो रंगों के तार, अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्यपूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त और कहीं सम्भव नहीं। उसके लिए न हमारा अन्तर्जगत त्याज्य है न बाह्य, क्योंकि उसका विषय सम्पूर्ण जीवन है, आंशिक नहीं।’

मनुष्य के पास बाह्य जगत के समान एक सचेतन अन्तर्जगत भी है, अतः उसका सौन्दर्य-बोध दोहरा और अधिक रहस्यमय हो जाता है। वह केवल परिवेश के सामंजस्य पर प्रसन्न नहीं होता, वरन् विचार-भाव और उनसे प्रेरित कर्म की सामंजस्यपूर्ण स्थिति पर भी मुग्ध होता है। उसके अन्तर्जगत का सामंजस्य बाह्य-जगत में अपनी अभिव्यक्ति चाहता है और बाह्य जगत का सामंजस्य अन्तर्जगत में अपनी प्रतिच्छवि आँकना चाहता है।’

साहित्य में सम्पूर्ण तथा व्यापक जीवन की यह माँग उनकी विवेचना में अत्यन्त सफलता के साथ प्रतिफलित हुई है। उनके सभी निर्णय-निष्कर्ष इसी अनुभूत जीवन-दर्शन, आस्था और विश्वास के परिणाम हैं। जिस प्रकार उनका काव्य जीवन के विराट् भाव-बोध को जागृत करता है उसी प्रकार उनकी विवेचना अनुभूत बौद्धिक-चिन्तन के उन्मेष को विस्तार देती है। व्यष्टि के अनुभव-चिन्तन से समष्टि के साथ संयोजित करने के अन्य अनेक साधनों के साथ उनकी विचारक कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है, क्योंकि साहित्य में मूर्ति-विधान और सौन्दर्ययोग का माध्यम यही मानस-व्यापार है।

वस्तुतः भाव, विचार और कल्पना की समन्वित विवेचना से प्रभावित कला प्रवाहित उनकी समालोचना जीवन-भूमि को सब ओर से संसिक्त और स्थिर करती चलती है। उनकी मर्मभेदी, दूरदर्शी दृष्टि के सामने जीवन अपने परिपूर्ण व्यापकत्व और विराटत्व के साथ उपस्थित होकर विवेचना की गहिराई और विस्तार के सूत्रों से ग्रथित करता चलता है।

छायावाद के प्रति फैले बहुमुखी भ्रामक विचारों और अवस्था में उत्पन्न नाना भ्रमों के कुहासे को दूर करने में उनकी विवेचना ने जिस निरर्थकता को दूर

किया है, वह किसी से छिपा नहीं। श्री गान्धर्व सिद्धिनेत्रों की कृपा से—उन्मुख सम्बन्धी सभी आलोचनाओं का उत्तर नन्ददेवी को को देना पड़ा। उन्होंने बड़े विस्तार से छायावाद में नन्ददेवी, नन्ददेवी-वाद, आलोचना, इत्यादि स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति, गद्य-विज्ञान आदि का संश्लेषण, विवेचन किया कहना न होगा कि छायावाद मन्दन्दी त्रयों का उत्कृष्ट वर्णन है नन्ददेवी को के सभी छायावादी कवियों से अधिक ज्ञान दिया। श्री विष्णुचन्द्र वर्मा को भी उक्ति भी कि—‘छायावाद-युग ने नन्ददेवी को प्रत्यक्ष दिया और नन्ददेवी ने छायावाद को जीवन’, सच है। वास्तव में छायावादी आकाश-वादी के सन्दर्भ-सिद्धि का उसकी सांस्कृतिक समृद्धि को, क्या उसकी स्थिति की विवेचनात्मक दृष्टि को अन्तर्-स्पर्शी बनाकर सर्व-मुक्त समझना देने के अर्थव्यवस्था में नन्ददेवी को ही सफलता सहज ही अनन्य है; यह निर्विवाद है।

विशेषता यह है कि छायावाद की मूलभूत मान्यता और उसकी विवेचना के साथ उन्होंने उसकी कृतियों की ओर से हमारा ध्यान आकर्षित किया है—“छायावाद के कवि को एक नये सौन्दर्य-लोक में ही वह वास्तव्य ही प्राप्त मिला, जीवन में नहीं, इसी में वह अद्वैत है। छायावाद की सृष्टि अन्तर्-स्पर्शी ही और किसी ने की होगी ?

प्रगतिवाद की मौलिक कृतियों का विश्लेषण करने हुए श्री विष्णुचन्द्र वर्मा को यही सलाह दी है—‘अध्ययन में निर्यात जीवन की विवेचना के साथ आकर, जड़ विद्वानों का संश्लेषण छोड़ कर अपनी समृद्ध संवेदनशीलता के साथ जीवन में युक्त-मिष्ट जाँचें, क्योंकि यही विवेचनात्मक विवेचना है—‘हमें निष्क्रिय बुद्धिवाद और सन्दर्भ-लोक दृष्टिकोण के अन्तर्-स्पर्शी ही वादाचित् फिर चिरमविद्वान् का संश्लेषण सामर्थ्य ही है जिसके अन्तर्-स्पर्शी, बोजने होंगे।

कहने की आवश्यकता नहीं कि नन्ददेवी को ही नन्ददेवी के सृष्टिकार के विश्लेषण के माय-माय उन्हें जीवन की सन्दर्भ-लोक में ही वास्तव्य ही प्राप्त मिला, महत्ता रखता है। उन्मुख में उन्हें सौन्दर्य-लोक के साथ वास्तव्य ही प्राप्त मिला, स्वर बराबर गुंजता चलता है, श्री विष्णुचन्द्र वर्मा को ही वास्तव्य ही प्राप्त मिला, प्रोढ़ और सनातन प्रतीक है। श्री विष्णुचन्द्र वर्मा, आलोचनात्मक दृष्टि का सृजनात्मक प्रभाव नाट्यिक के अन्तर्-स्पर्शी ही वास्तव्य ही प्राप्त मिला, नन्ददेह नहीं। डॉ० नन्ददेव ने इसे ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही ही काव्य के मायन विद्वानों के अन्तर्-स्पर्शी ही वास्तव्य ही प्राप्त मिला, वगैरह में नन्दका हुआ विश्लेषण नहीं आलोचनात्मक दृष्टि का सृष्टिकार के विश्लेषण के माय-माय उन्हें जीवन की सन्दर्भ-लोक में ही वास्तव्य ही प्राप्त मिला, महत्ता रखता है।

पा सकता है। अतएव साहित्य का विद्यार्थी उनकी विवेचना का आप्त वचन के समान ही आदर करेगा।'

साहित्य भावात्मक सामंजस्य का प्रथम और अन्तिम सत्य है, इसीलिए उसकी स्थिति मनुष्य के लिए उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे उसके हृदय की। स्वभावतः साहित्य का माध्यम स्थूल विधि-निषेध न होकर आन्तरिक सामंजस्य ही होता है, तभी वह हृदय की भाँति जीवन के सभी अंगों को अपनी नवीन रक्तसंचारिणी शक्ति से जीवित तथा स्वस्थ रख सकेगा, अन्यथा नहीं।

इन निबन्धों में महादेवी जी की व्यापक तथा गहन अनुभूति, समन्वयात्मक चिंतन-मनन और सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन का जो उन्मेष उद्घाटित हुआ है, वह जीवन और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने की अद्भुत क्षमता के साथ विवेचना के स्तर को ऊपर उठाने में भी सफल है। सिद्धान्तों को धो-माँजकर चमाचम रखने वाले और जीवन में जंग लग जाने देने वाले आलोचकों के प्रति उनका कथन कितना मार्मिक है। आज का आलोचक 'मानसिक पूँजीवाद' और जीवन का दारिद्र्य साथ लिए बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नहीं आती, क्योंकि ऐसी पुकार स्वयं उसी के जीवन को विरोधात्मक बना देगी। व्यावहारिक घरातल पर भी वह एक अयक विवादेयणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसीटी नहीं दे सका, जिस पर साहित्य और काव्य का खरा-खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।'

छायावादी काव्य के पूर्व हिन्दी-आलोचना का इतिहास इस सत्य का साक्षी है। पद्मसिंह शर्मा, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि आलोचक यहीं निर्णय नहीं कर पाये थे कि काव्यालोचन की कयोदी दायें आलोचक की रुचि से निर्मित हो, अथवा परम्परागत सिद्धान्तों से, जीवन का वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। केवल एक ही आदर्श सामने था—तत्विः तद्वेदि काव्यानि, स्वादं जानन्ति पंडिताः, इसी बल पर आलोचन कूला नहीं गमाता था।

काव्यालोचन के संदर्भ में धर्म, नीति और लोकमंगल को स्थान देकर आपात युग ने कुछ उदारता का परिचय दिया, और जीवन की भांग को भीमिन रूप में ही सही, सामने रखा। सीमित इसलिए कि गुल जो जीवन का प्रश्न उन को लगे लगाते थे, जो रामचरितमानस में व्यक्त हुआ है। उनके बाद जीवन की स्थिति पर उनकी आस्था नहीं के बराबर थी। किसी भी तथ्य पर विचार कर गमय थे वह देखना नहीं भूल पाते थे कि गोस्वामी जी के ज्ञान में उनकी पुनः दोती है या नहीं।

छायावादी कवियों ने जोर विशेष था वे महर्षि जी ने रखा जीवन =

सिद्धान्तों को प्रथम बार जीवन के विकासशील सिद्धान्तों के समक्ष रखकर विवेचना के सूत्रों को केवल सिद्धान्तवादी आलोचकों के हाथ से छीनकर कवि के जीवनव्यापी अनुभव और अभिव्यक्ति कौशल के हाथों में रख दिया। जनताधीन जीवनधारा का साहित्य में भी अभिप्रेक हुआ। इस प्रतिक्रिया से साहित्य के व्यापकत्व और कवि की प्रतिष्ठा का जो समवर्द्धन हुआ, वह चिर अपेक्षित था।

छायावादी स्वच्छन्द भावधारा और रहस्यवादी भावसूक्ष्मता तथा प्रेम के उदात्तीकरण को विदेशी तथा मात्र अभिव्यञ्जना एवं केवल काल्पनिक कहूँ धारों का मुंह बन्द करने के लिए महादेवी जी ने उसे भारतीय काव्य की, जीवन के साथ सतत विकसित होने वाली वैदिक, पालि और प्राकृत काव्यों की परम्परा से संबद्ध सिद्ध करते हुए उसकी स्थिति को स्वाभाविक और उसकी अभिव्यक्ति को सांस्कृतिक महत्ता देने में जिस संश्लेषणी प्रतिभा का परिचय दिया है, वह समीक्षा के इतिहास में अकेली है। परवर्ती आलोचकों की आलोचना में इसका प्रभाव और अनुसरण प्रत्यक्ष है।

‘गीति-काव्य’ पर उनका निबन्ध अपने ढंग का प्रथम और प्रामाणिक है। उनकी गीत की यह परिभाषा पाठकों और आलोचकों के लिए कंठहार बन गयी है—‘साधारणतः गीत व्यक्तिगत सीमा में तीव्र सुख-दुःखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है, जो अपनी ध्वन्यात्मकता में गेय हो सके।’

छायावाद युग में गीतों की प्रधानता का कारण भी उन्होंने बताया है—‘हिन्दी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यक्त और व्यक्ति-प्रधान जीवन हमें काव्य के किसी ओर अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित करने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं। सम्भव है यह उस युग की प्रतिक्रिया हो, जिसमें कवि का आदर्श अपने विषय में कुछ न कह कर संसार भर का इतिहास कहना था, हृदय की उपेक्षा कर शरीर को आदृत करना था।’

‘यथार्थ और आदर्श’ निबन्ध का प्रारम्भ ही उनके मन्त्रव्य को स्पष्ट कर देता है—‘संशुद्धन का अभाव हमारा ज्ञानीयगुण चाहें न कहा जा सके, परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि एक दीर्घ काल से हमारे जीवन के सभी अर्थों में यथार्थ वृत्ति विघेयता वर्तनी आ गयी है। हमारी स्थिति या तो एक सीमा पर सम्भव है या दूसरी पर, पर समन्वय के किर्या भी रूप से हमारा हृदय दिनरा विरल है, दृष्टि उतनी ही विमुग्ध। या तो हम ऐसे आध्यात्मिक कवच में ढँके जाते हैं कि जीवन की

स्थूलता हमें किसी ओर से भी स्पर्श नहीं कर सकती, या ऐसे मुक्त जड़वादी कि सम्पूर्ण जीवन वालू के अनमिल कणों के समान बिखर जाता है, या ऐसे तन्मय स्वप्न-दर्शी हैं कि अपने पैर के नीचे की धरती का भी अनुभव नहीं कर पाते, या यथार्थ के ऐसे अनुगत कि सामंजस्य का आदर्श भी मिथ्या जान पड़ता है, या तो अलौकिकता के ऐसे अनन्य पुजारी हैं कि आकाश की ओर उद्गीव रहने को ही जीवन की चरम परिणति मानते हैं, या लोक के ऐसे एकनिष्ठ उपासक कि मिट्टी में मुख गड़ाये पड़े रहने ही को विकास की पराकाष्ठा समझते हैं।'

यथार्थ और आदर्श की प्रवृत्तियों के माध्यम से प्रायः सम्पूर्ण भारतीय काव्य का विश्लेषण करते हुए महादेवी जी ने कुछ ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं, जो दोनों की समन्वयात्मक स्थिति का बोध कराने में अत्यन्त उपयोगी हैं—

‘आदर्श की रेखाएँ कल्पना के सुनहले-रूपहले रंगों से तब तक नहीं भरी जा सकतीं जब तक उन्हें जीवन के स्पंदन से न भर दिया जावे, और दूसरी ओर यथार्थ की तीव्र धारा को दिशा देने के पहले उसे आदर्श के कूलों का सहारा देना आवश्यक है।’

‘जिन युगों में हमारी यथार्थ-दृष्टि को स्वप्न-सृष्टि से आधार मिला है और स्वप्न-दृष्टि को यथार्थ-सृष्टि से सजीवता, उन्हीं युगों में हमारा सृजनात्मक विकास सम्भव हो सका है। ध्वंसात्मक अंधकार के युगों में या तो वायवी और निष्प्राण आदर्श का महाशून्य हमारी दृष्टि को दिग्भ्रांत करता रहा है या विषम और रागिन्त यथार्थ के नीचे गति तथा ऊँचे टीले हमारे पैरों को बाधते रहे हैं।’



‘जीवन में वह यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पंदन नहीं, केवल शय है और वह आदर्श, जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है।’



‘सच्चा कलाकार व्यावसायिक काम पर संवेदनशील भवित होता है, जो उसकी दृष्टि यथार्थ के सम्बन्ध में संतुलित और आदर्श के सम्बन्ध में व्यापक रह कर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचती है।’

इस प्रकार यथार्थ-आदर्श के सूक्ष्म ऐतिहासिक विश्लेषण और कलात्मक विश्लेषण के पश्चात् दोनों की सामंजस्यपूर्ण निज स्थिति का उन्होंने आकलन और उद्भावन किया है, यह हिन्दी साहित्य के इतिहास में निम्नान्त नाम के साधन सारगर्भित और साहित्य-गूढ के लिए उपारोप भी है। साहित्य की स्वतंत्रता और संरक्षण के लिए इन दोनों वृत्तियों का संतुल्य अभिप्राय है।

‘सामयिक समस्या’ में प्रगतिवाद के भारतीयता द्वारा उपास्य मार्ग व्यवस्थित

पर व्यापक रूप से विचार करते हुए साहित्य में विज्ञान, मनोविज्ञान, एवं बौद्धिक विकल्पों की स्थितियों और साहित्य में उनके उपयोग की विधियों का विवेचन किया गया है। पूरे निबन्ध के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है कि प्रगति से, चाहे वह मार्क्स से प्रभावित हो, चाहे गांधी से और चाहे फ्रायड से, महादेवी जी का कोई विरोध नहीं, किन्तु प्रगति का वास्तविक रूप वे साहित्य की उस विकासशील प्रवृत्ति में ही स्वीकार करती हैं, जो जीवन के स्वाभाविक विकास के साथ सृजन को प्रशस्त करती चलती है।

प्रगति के लिए 'जो मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, काव्य में उसका अक्षरशः अनुवाद भी चाहता है। अतः साहित्य की उत्कृष्टता से अधिक महत्व सैद्धान्तिक प्रचार को मिल जाना स्वाभाविक है। वह राजनीतिक दलों के समान साहित्यचरों का विभाजन कर अपने पक्ष में बहुमत और दूसरे पक्ष में अल्पमत चाहता है।' ऐसी प्रगति के उपासकों से उनका विरोध न होना आश्चर्य का ही कारण हो सकता था। किसी दल की संकीर्णता में बद्ध प्रगति की भावना साहित्य को सार्वजनिक कल्याण के पथ पर अग्रसर नहीं कर सकती। उसे केवल ऐसा अपरिणामदर्शी, दलबंद और बुद्धिजीवी राजनीतिक वर्ग ही स्वीकार कर सकता है, 'जो जीवन के स्वाभाविक स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामतः एक ओर उसका मस्तिष्क विचारों की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय निर्जीव चित्रों का संग्रहालय मात्र रह जाता है।'

प्रगतिपंथियों के लिए महादेवी जी का यह वाक्य सदा स्मरणीय रहेगा— 'सफल प्रगति-काव्य के लिए अनुभूतियों को कठोर धरती का निश्चित स्पर्श देकर भी भाव के आकाश की छाया में रखना उचित था, जो इस युग की अस्वाभाविक बौद्धिकता के कारण सहज न हो सका।'

गतिशील भाव-भूमि से सर्वथा विच्छिन्न करके काव्य को विशुद्ध तर्क-भूमि पर प्रतिष्ठित करने का परिणाम केवल गतिहीनता ही हो सकती है, जैसे पानी को बर्फ बना देने से। भाव और सहज संवेदनीयता की नितान्त न्यूनता के कारण काव्य-प्रवाह का स्थिर हो जाना ही सम्भव है, आज हम इस सत्य से पूर्णतः अवगत हो चुके हैं। प्रगति के नाम पर वासना के नग्न चित्रों का प्रदर्शन, जीवन के केवल कुत्सित रूपों का चित्रण, विकृतियों की चित्रशाला उपस्थित करने में भले ही कृत-कृत्य हो, किन्तु उसके लिए सच्ची साहित्य-प्रगति का आचार बन सकना कभी किसी प्रकार से संभव नहीं हो सकता। साहित्य में किसी भी विचारधारा की संप्राणता का प्रमाण उसका उत्कृष्ट एवं जीवन्त सृजन ही है— दूसरी विचार-धाराओं को नगण्य बताकर उनके नष्ट करने का

साहित्यिक धाराओं को लेकर चलने वाले कटु विवादों की व्यर्थता पर महादेवी जी की धारणा महत्वपूर्ण है—

‘विवाद जीवन का चिह्न है और निर्जीवता का भी। लहरें बाहर से विविध किन्तु भीतर से एक रह कर जल की गतिशीलता प्रकट करती हैं, पर सूखते हुए पंक की कठिन पड़नेवाली दरारें भीतर सूखती हुई तरल एकता की घोषणा हैं। इस सत्य को हम जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी देख चुके हैं। हम राजनीतिक और सामाजिक संगठन करने चले थे और इतने बिखर गये कि किसी प्रकार का भी निर्माण असम्भव हो गया। हमने हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न उठाया और विवादों ने पाकिस्तान जैसी गहरी खाई खोद डाली। हम हिन्दी-उर्दू को एक करने का लक्ष्य लेकर उनकी विवेचना करने लगे और दो के स्थान में तीन भाषाओं की सृष्टि कर बैठे।

हमारे साहित्यिक विवाद इन सब अभिशापों से ग्रसित और दुःखद हैं, क्योंकि उनके मूल में जीवन के ऊपरी सतह की विवेचना नहीं है, बल्कि उसकी अन्तर्निहित एकता का खण्डों में बिखरकर विकासशून्य हो जाना प्रमाणित करते हैं। साहित्य गहराई की दृष्टि से पृथ्वी की वह एकता रखता है, जो बाह्य विविधता को जन्म देकर भीतर एक रहती है और ऊँचाई की दृष्टि से वायुमण्डल की वह सुखमता रखता है, जो ऊपर से एक होने पर भी प्रत्येक को स्वतंत्र विकास देता है। सच्चा साहित्यकार भेदभाव की रेखाएँ मिटाते-मिटाने स्वयं मिट जाना चाहेगा, पर उन्हें बना-बनाकर स्वयं बनना उसे स्वीकार न होगा।’

प्रगतिवादी यथार्थ की उत्तेजक आकुलता में विकृत और अश्लील चित्तों से जो विवृत्ति साहित्य-क्षेत्र में हुई, उससे महादेवी जी को शिकायत नहीं, पर ये कदापि अभिव्यक्ति की उच्चता का स्मरण दिलाता नहीं भूलती—‘व्यापक अर्थ में यह भाव (श्लील-अश्लील) जीवन के प्रति सम्भव और असम्भव के पर्याय हो सकते हैं। जिस भाव, विचार, संकल्प, संकेत और कार्य से जीवन के प्रति सदिच्छा नहीं प्रकट होती, वे सब अश्लील की परिधि में रखे जा सकते हैं। जो चिन्तितवत् सोच के शरीर की परीक्षा करता है वह अश्लील नहीं कहा जा सकता। पर यदि यह स कोई उसी रोगी की पगड़ी उतार कर कहे कि जब चिन्तितवत् हो तो उचित निष्कर्ष में लज्जा नहीं आयी तब यहाँ सिर उठाई जाने में क्या हानि है, तो उस भाव को अश्लील नहीं कहा जा सकेगा। विकृत तथा अश्लील चित्तों के जलन द्वारा प्रेरित अनेक प्रयोग क्षेत्रों द्वारा भी एक मानसिक आस्था की स्थापना कभी नहीं हो पाई, क्योंकि ये मोतमसोर ही तरल हो, जो केवल सतह पर जीवन की सतह पर ही देख आते हैं, वे सम्पूर्ण की अन्तर्गत प्रकृति में नहीं पहुँचते, बल्कि उस मोर्चे की भावना को दर्शाते हैं।’

जिससे संसार अपरिचित था और जिसे पाकर मनुष्य खारे जल और भयानक जल-जन्तुओं से भरे समुद्र को रत्नाकर नाम देता है।'

'हमारे वैज्ञानिक युग की समस्या' में मानवीय जीवन की विज्ञानसाध्य बाहरी संपर्क-सुलभ समीपता एवं निकटता और भीतरी भावात्मक दूरी का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया गया है—'पथ के सहयात्री भी एक-दूसरे के समीप होते हैं और युद्धभूमि पर परस्पर-विरोधी सैनिक भी, परन्तु दोनों प्रकार के सामीप्य परिणामतः कितने भिन्न हैं। पहली स्थिति में एक दूसरे की रक्षा के लिए प्राण तक दे सकता है और दूसरी समीपता में एक दूसरे के बचाने के सारे साधन नष्ट कर उसे नष्ट करना चाहता है। हमारे मस्तक पर आकाश में उड़ता हुआ बादल और उमड़ता हुआ बमवर्षक यान दोनों ही हमारे समीप कहे जायेंगे, परन्तु स्थिति एक होने पर भी परिणाम विरुद्ध ही रहेंगे। जिनके साथ मन शंकारहित नहीं हो सकता, उनकी निकटता संघर्ष की जननी है। इसी से आज के युग में मनुष्य पास है, परन्तु मनुष्य का शंकाकुल मन पास आने वालों से दूर होता जा रहा है। स्वस्थ आदान-प्रदान के लिए मनो की निकटता पहली आवश्यकता है।'

निकटता की स्थिति-मात्र से राष्ट्र को सावधान करते हुए उन्होंने अपनी उस सांस्कृतिक मन की निकटता एवं एकता को जगाने का आग्रह किया है, जो हमारी बुद्धि में अभेद और हृदय में सामंजस्य की स्थापना से मानवमात्र की भीतरी एकता का भावन करती चली आ रही है। इस यंत्रयुग की कठोर, किन्तु विशाल छाया में यदि हम सहज मानवीय संवेदना के प्रकाश को विकीर्ण कर सकें, तो हमारी सांस्कृतिक परम्परा का गौरव तो बढ़ेगा ही, हम भी अपने को उसके सच्चे उत्तराधिकारी घोषित करने का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

वैज्ञानिक युग की निकट की दूरी से बचने के लिए हमें महादेवी जी का यह कथन स्मरण रखना होगा—'जब भावयोगी मनुष्य, मनुष्य के निकट पहुँचने के लिए दुर्लभ पर्वतों और दुस्तर समुद्रों को पार करने में वर्षों का समय बिताता था, उस युग में भी मानवमात्र की एकता के वही वैतालिक रहे हैं। आज जब विज्ञान ने वर्षों को घंटों में बदल दिया है, तब वे मनुष्य को मनुष्य से अपरिचित क्यों रहने दें, बुद्धि को बुद्धि का आतंक क्यों बनने दें और हृदय को हृदय के विरोध में क्यों खड़ा होने दें। हम विश्व भर से परिचय की यात्रा में निकलने के पहले यदि अपने देश के हर कोने से परिचित हो लें तो इसे शुभ शकुन ही मानना चाहिए। यदि घर में अपरिचय के समुद्र से विरोध और आशंका के बादल उठते रहे, तो हमारे उजले संकल्प पथ भूल जायेंगे। अतः आज दूरी को निकटता बनाने के मुहूर्त में हमें निकट की दूरी से सावधान रहने की आवश्यकता है।'

इस कृति के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी ने साहित्य की जीवनव्यापी विविधता और उसमें प्रतिफलित होने वाले प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण विषयों को लेकर इतने विस्तार और इतनी गहनता से विवेचन किया है कि पाठक के मन में भाव-विचार, संकल्प-भावना, व्यष्टि-समष्टि, राष्ट्र-परराष्ट्र, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल, यथार्थ-आदर्श, सामयिकता-शाश्वतता, ज्ञान-विज्ञान, श्लीलता-अश्लीलता, प्रत्यक्ष-परोक्ष, परम्परा-प्रगति, सभ्यता-संस्कृति, रूप-रूप, शिव-सौन्दर्य, नूतन-पुरातन, भौतिकता-आध्यात्मिकता, एकता-अनेकता, अतीत-वर्तमान, साह्यजगत-अन्तर्जगत, बुद्धि-हृदय, भावन-चित्तन, सुख-दुःख, अधिकार-अनधिकार, सिद्धान्त-क्रिया, धर्म-कर्म, कठोर-कोमल, राग-विराग, युद्ध-शान्ति, शोषक-शोषित, नैतिक-अनैतिक, स्वभाव-संस्कार, मूर्त-अमूर्त, त्वास-विकास, आस्था-अनास्था, देश-काल, नर-नारी, राजनीति-अर्थनीति, नास्तिक-आस्तिक, आत्मा-नरमात्मा आदि के विषय में उनकी मान्यता और उनकी समन्वयवादी दृष्टि एवं उनके सामंजस्यपूर्ण जीवन-दर्शन के प्रति किसी प्रकार की उलझन शेष नहीं रह जाती और वह साहित्य के विराट् स्वरूप से परिचित होकर उसके आधार जीवन और जगत के प्रति अनायास ही संवेदनशील हो उठता है।

अनुभूति के रंगों से रंजित और व्यवस्थित सांस्कृतिक चिंतन से चित्रित समालोचना के ये संश्लिष्ट चित्र उनकी बहुमुखी प्रतिभा और उनकी स्वयं-प्राप्त प्रज्ञा के प्रौढ़तम प्रतीक हैं। इस विवेचना-पद्धति की चर्चा करते हुए श्री इलानन्द जोशी ने कहा है—‘हिन्दी के अन्य आलोचकगण महादेवी जी के साधनात्मक और सहृदयतापूर्ण गहन चिंतन द्वारा प्रसूत इस विवेचना से लाभ उठा सकें तो यह हिन्दी के लिए निश्चय ही बड़े सीमाव्य की बात होगी।’

अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि महादेवी जी की विवेचना उनके कवि तथा विचारक के सामंजस्य का सुफल है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निरूपण जिस निष्पक्ष और परिमार्जित एवं सरस-स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अपने युग के सृजन में प्राण-प्रयोग भरने के साथ युग की समीक्षा को प्रेरणा देने में भी यह समीक्षा सफल रही है। सुलझे विचारों की गतिविधाय, सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, आत्मानुभूत सिद्धान्तों की मुद्योग प्रतिपादना और जीवन-दर्शन की व्यापकता से संचालित यह विवेचना साहित्यिक अभिप्रायों के आलोचन, अंकन और उद्घाटन में अद्वितीय है। जीवन की प्रतापशाली संघर्षा, संघर्ष की आराधना तथा साहित्य-साधना के लिए आत्मा के विश्व परिदृश्य में अनिवार्यता होती है, वह महादेवी जैसे निष्पक्ष कलात्मक की निम्नी महत्ता है।

जीवन-क्रमणिका की महत्वपूर्ण तिथियाँ

सम्बत्

- १९६४ : शुभजन्म, होली के दिन, फर्रुखाबाद उत्तर प्रदेश।
- १९६९ : मिशन स्कूल इन्दौर में शिक्षा प्रारम्भ। घर पर पढ़ाई के लिये एक पंडित, एक मौलवी, एक चित्र-शिक्षक तथा संगीत-शिक्षक का प्रबंध।
- १९७३ : विवाह, कुछ समय के लिये पढ़ाई स्थगित।
- १९७६ : कास्थवेट-कालेज प्रयाग में पुनः शिक्षा प्रारम्भ।
- १९७८ : मिडिल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। प्रान्त भर में प्रथम स्थान पाने के कारण राजकीय छात्र-वृत्ति मिली।
- १९८२ : इन्ट्रेंस की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई। छात्र-वृत्ति मिली।
- १९८४ : इन्टर की परीक्षा पास की।
- १९८६ : बी० ए० पास किया।

वचपन से ही भगवान बुद्ध के प्रति भक्तिमय अनुराग होने के कारण आप भिक्षुणी बनना चाहती थीं। बी० ए० के पश्चात् ग्रीष्मावकाश में नैनीताल में सम्भावित गुरु बौद्ध महास्यविर से मिलीं। उन्होंने एक काष्ठपट्टिका की ओट से इनसे बात की। इन्हें यह बहुत ही अपमानकर लगा। अपने प्रति इतने अविश्वासी व्यक्ति को गुरु बनाना इन्होंने उचित नहीं समझा। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भिक्षुणी बनने का विचार ही त्याग दिया। उसी समय ताकुला, नैनीताल में महात्मा गांधी के सम्पर्क और प्रेरणा से इनका मन सामाजिक कार्यों की ओर उन्मुख हो गया। प्रयाग के आसपास के गांवों में जाकर बच्चों को पढ़ाना और उनमें शिक्षा की रुचि का उन्मेष करना, इनका नियमित कार्यक्रम बन गया, जो स्वतंत्रताप्राप्ति के समय तक चलता रहा।

- १९८७ : अस्वस्थ होने के कारण साल भर के लिये अध्ययन बंद हो गया। इस वर्ष का अधिकतर समय रामगढ़, ताकुला, नैनीताल में बीता। प्रयाग में अखिल भारतीय कवयित्री सम्मेलन का संयोजन किया।
- १९८९ : प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० किया।

प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या का कार्यभार संभाला और 'चाँद' का निःशुल्क सम्पादन भी करने लगीं।

- १९९० : प्रयाग में कवीन्द्र रवीन्द्र से भेंट। मीरा जयन्ती का शुभारम्भ किया।
- १९९१ : 'नीरजा' पर सेक्सरिया पुरस्कार मिला। वद्रीनाथ की पैदल यात्रा की।
- १९९२ : कलकत्ते में आयोजित जापानी कवि योन नागूची के स्वागत-समारोह में सम्मिलित हुई और शान्तिनिकेतन में गुरुदेव से भेंट की।
- १९९४ : रामगढ़, नैनीताल में 'मीरा मंदिर' नामक कुटीर बनवाया।
- १९९६ : वद्री-केदार की दूसरी बार पैदल यात्रा की।
- १९९९ : 'विश्ववाणी' के बुद्ध-अंक का सम्पादन किया।
- २००० : 'स्मृति की रेखाएँ' पर 'द्विवेदी पदक' प्राप्त हुआ।
- २००१ : हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का 'मंगला प्रसाद पुरस्कार' मिला।
'साहित्यकार संसद्' की स्थापना की।
- २००२ : साहित्यकार संसद के लिये गंगा के किनारे रसूलाबाद, प्रयाग में एक भवन खरीदा।
- २००७ : साहित्यकार संसद की ओर से अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन तथा साहित्य पर्व का सफल आयोजन किया। राष्ट्रपति रामेन्द्रप्रसाद द्वारा संसद में 'वाणी मंदिर' का शिलान्यास कराया। प्रसाद जयन्ती समारोह हुआ और १८ फरवरी से २२ फरवरी तक विभिन्न साहित्यिक कार्यक्रमों के साथ साहित्य पर्व चलता रहा।
- २००९ : स्वतंत्रता के पश्चात् गठित उत्तर प्रदेश की विधान परिषद् की सदस्य मनोनीत की गई। श्री इलाचन्द्र जोशी, श्री दिनकर, श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय को साथ लेकर दक्षिण भारत की साहित्यिक यात्रा में कन्या-कुमारी तक गई। केन्द्रीय सरकार से कापीराइट नियम में संशोधन की माँग की। साहित्यकार संसद् से निराला की कापीराइट विधि काव्य-कृतियों से कविताएँ लेकर 'अपरा' नामक काव्य-संग्रह निकाला। लीडर प्रेस ने प्रसन्नता से और दूसरे प्रकाशकों ने निराशा से कापीराइट के अधिकार को छोड़ दिया।
- २०११ : दिल्ली में स्थापित 'साहित्य एकादमी' की संस्थापक सदस्य चुनी गई।
- २०१२ : साहित्यकार संसद के मुक्त-पत्र 'साहित्यकार' का प्रकाशन तथा श्री इलाचन्द्र जोशी के साथ कन्याश्रम शुरू किया। साहित्यकार संसद् ने तत्कालीनमान में उदात्तपत्र (नगुदा) नैनीताल में तत्कालीनमान साहित्यकार विविध का आयोजन किया। प्रयाग में साहित्यकार

‘रंगवाणी’ की स्थापना की, जिसका उद्घाटन पवित्र भारतीय गायकान्तर मामा करेकर ने किया। सत्तलजीन विद्यामंठी योथना समर की हिन्दी-साहित्य विषयक धातुधारणा के विरोध में सार्वजनिक ज्ञान अन्य साहित्यकारों के साथ पत्रों में एक तीव्र विचार प्रसारित की।

२०१३ : पद्मभूषण की उपाधि से सम्मानित की गई।

२०१७ : सर्व सम्मति से प्रयाग महिला विचारपीठ की अध्यक्षता निर्वहण हुई।

२०२० : कलिका ग्रंथ दिल्ली की ओर में राष्ट्रपति डॉ० रामकृष्णन द्वारा अभिनन्दित। रात की इनके सम्मान में जी जीवन-वाणी आयोजन की गई थी, उसमें प्रधानमंत्री मोदी ने इनका स्वागत किया और भाषा उद्घाटन तक काव्य-पाठ सुनते रहे। किया हिन्दी की भाषा में पहला प्रथम बार इतना समय बिताया।

२०२१ : भारती परियट, प्रयाग की ओर में कर्नलर फं ने इनका निवास पर एक बृहत् अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया।



कृतियों तथा विशेष भाषणों का काल-क्रम

सम्बत्

१९७१ : काव्य की प्रथम शिशु रचना।

१९७२ : ब्रजभाषा के पदों और समस्यापूर्ति की रचनाएँ।

१९७५ : खड़ी बोली की प्रथम पूर्ण रचना 'दिया'।

१९७७ : सी छन्दों में एक कण कथा का खण्डकाव्य, अवला, विधवा तथा माँ भारती आदि रचनाएँ। खण्डकाव्य को छोड़कर अन्य रचनाएँ 'आँस महिला' और 'महिला जगत' में प्रकाशित हुई।

१९७९ : 'चाँद' के प्रथम अंक में प्रथम प्रौढ़ कविता प्रकाशित हुई। तब से अन्य पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त चाँद के प्रायः प्रति अंक में आपकी रचनाएँ निरन्तर प्रकाशित होती रहीं। धीरे-धीरे महादेवी जी की काव्य-प्रवृत्ति उनकी मूल धारा की ओर उन्मुख हो गई—जिसमें व्यष्टिगत दुःख समष्टिगत गम्भीर वेदना का रूप ग्रहण करने लगा और प्रत्यक्ष का स्थूल रूप एक सूक्ष्म चेतना का आभास देने लगा : 'कहना नहीं होगा कि इस दिशा में मेरे मन को वही विश्राम मिला, जो पक्षि-शापक को कई बार गिर-उठकर अपने पंखों के सँभाल लेने पर मिलता होगा।' रचना-क्रम अबाध और तीव्र गति से चलता रहा और 'नीहार' का अधिकांश उनके मैट्रिक पास होने के पहले ही लिखा जा चुका था।

१९८० : कालेज के बच्चों को नाटक खेलने के लिये आप ने एक नाटक की रचना की, जिसमें फूल, भ्रमर, तथा तितली और वायु को पात्र बनाया गया था।

काव्य

१९८७ : 'नीहार' प्रथम काव्य-कृति।

१९८९ : 'रश्मि' द्वितीय काव्य-कृति।

१९९१ : 'नीरजा' तृतीय काव्य-कृति।

१९९३ : 'गान्धारी' चतुर्थ काव्य-कृति।

'गान्धारी' से महादेवी जी का चिकित्सीय रूप भी सामने आया, जिससे

इसमें उनके द्वारा अंकित सन्ध्या, दीपक, वर्षा, अरुणा, निशीथिनी तथा मृदुमहान भावपूर्ण नयनाभिराम चित्रों का भी प्रकाशन हुआ।

१९९९ : 'दीपशिखा' पंचम काव्य-कृति। इसमें प्रत्येक गीत की पृष्ठभूमि में चित्रांकन किया गया है। काव्य, संगीत और चित्र का यह सरस सम्मेलन हिन्दी साहित्य की अद्वय तथा अनन्य निधि है।

२०००-२००१ : 'बंग-दर्शन' बंगाल के अकाल पर लिखित विभिन्न कवियों की कविताओं का संग्रह। इसी वर्ष प्रयाग में बंगभूमि तथा जीवन से संबंधित चित्रों की प्रदर्शनी का भी आयोजन किया।

२०१६ : 'सप्तपर्णा' में आर्पवाणी से लेकर वाल्मीकि, थेरगाथा, अश्वघोष, कालिदास तथा भवभूति के महत्वपूर्ण मार्मिक काव्यांशों का महादेवी जी ने काव्य-चन्द्र अनुवाद प्रस्तुत किया है।

२०२० : 'हिमालय' भारत की उत्तरी सीमा पर चीन के आक्रमण के समय राष्ट्रीय गौरव और साहस जगाने के लिए प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के कवियों की हिमालय पर लिखित कविताओं तथा अन्य राष्ट्रीय कविताओं का संकलन है।

गद्य

१९९८ : 'अतीत के चलचित्र'—रेखाचित्र।

१९९९ : 'शृंखला की कड़ियाँ'—नारी विषयक निबन्ध।

२००० : 'स्मृति की रेखाएँ'—रेखाचित्र 'विवेचनात्मक गद्य'—आलोचनात्मक निबन्ध।

२०१३ : 'पथ के साथी'—संस्मरण। 'क्षणदा'—ललित निबन्ध।

२०१९ : 'साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध'—आलोचनात्मक निबन्ध।
इन गद्य-कृतियों के अतिरिक्त दीपशिखा, सप्तपर्णा तथा हिमालय की विशद-वृहत् भूमिकाएँ महादेवी जी के गद्य की गौरव-घोषणाओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

भाषण

१९९१ : महात्मा गांधी द्वारा इन्दौर साहित्य सम्मेलन में सेक्सरिया पुरस्कार दिये जाने के वाद का भाषण।

२०११ : लखनऊ की विधान सभा में कुंभ-दुर्घटना के दायित्व पर भाषण।
साहित्य एकादमी के उद्घाटन समारोह में संस्था के असांस्कृतिक नाम

तथा अंग्रेजी भाषा में उसकी कार्यवाही होने के विरोध में अत्यंत उदात्त और साहसिक भाषण।

- २०१३ : प्रयाग में आयोजित महाप्राण निराला की साठवीं वर्षगांठ के अवसर पर भाषण।
- २०१७ : प्रतापगढ़ में उत्तर प्रदेशीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्षीय भाषण।
- २०१८ : वाराणसी में प्रथम राष्ट्रीय पुस्तक समारोह का अध्यक्षीय भाषण।
- २०१९ : एनीबीसेन्ट हॉल, प्रयाग में आयोजित प्रेमचंद स्मृति-दिवस के अवसर पर भाषण।
- २०२० : साहित्यकार संसद द्वारा आयोजित भारतीय लेखक सम्मेलन में भारत की सांस्कृतिक एकता पर भाषण।
- २०२१ : कलकत्ते में 'प्रसाद जयन्ती समारोह' का उद्घाटन-भाषण।
- २०२२ : कविवर पंतजी के महाकाव्य 'लोकायतन' पर विचार-विमर्श के लिए आयोजित साहित्य-गोष्ठी में भाषण।
- २०३३ : साहित्य-सम्मेलन द्वारा आयोजित संत-साहित्यकार-सम्मेलन में साहित्य और अध्यात्म के समन्वय पर भाषण। एनीबीसेन्ट हाल प्रयाग में आयोजित कविवर पंत जी की ६६वीं वर्षगांठ के समारोह में अध्यक्षीय भाषण। प्रयाग संगीत महाविद्यालय का दीक्षांत भाषण।



